पुरुषार्थव्यवस्था

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-भक्ति

प्रवचनकार - गोस्वामी श्याममनोहर

(जबलपुर- मार्च-२०१२)

प्रकाशक : गोस्वामी श्याममनोहर
६३,स्वस्तिक सोसायटी
४था रस्ता, जुहु स्कीम
विले-पार्ला, मुम्बई. ४०००५६

प्रकाशनार्थ
आर्थिकसहयोग : श्रीमती इन्दुमति एवम् श्रीगिरिराजभूषण
कुमारी अवनि हितेन शाह
श्रीमती कल्पना रमेश कणकिया

प्रवचनकार : गोस्वामी श्याममनोहर

प्रति : १०००

नि:शुल्कवितरणार्थ

प्रथम संस्करण : शरदोत्सव वि.सं.२०६८

मुद्रक : Sainath printers
Moti chhipwad, main road,
Near Khatri pole, Vadodara.
Mob: 9825588850
Email: sainath.printers@yahoo.co.in

श्रीकृष्णाय नम:
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नम:

अस्मदीयं किंचित्

मुझे ज्ञात नहीं है कि धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थोके समायोजनके बारेमें आर्षदृष्टिपर किसी विद्वान वक्ता या लेखक का कोई ग्रन्थ प्रकट हुवा है कि नहीं.

इस ग्रन्थमें, अत: जो कुछ मेरा चिन्तन प्रकट हुवा है उसके युक्तायुक्त होनेके बारेमें इदमित्थं कुछ भी कह पाना मेरे लिये एक कठिन काम है. इतना केवल कह सकता हूं कि जो मैंने पढ़ा, जैसा समझा; तथा अनुभवके आधारपर जो मुझे युक्त लगता है उसे प्रकट करना केवल प्रयोजन है, ताकि इसपर युक्तायुक्तका कुछ विमर्श हो पाये. इस दिशामें मनीषिओंके समक्ष अपना सोच प्रस्तुत कर रहा हुं. अत: जो कुछ मैंने सोचा या समझा वही एकान्तिकतया पारमार्थिक है ऐसा बौद्धिक दुराग्रह तो स्वयं मुझे जो कुछ विवक्षित है उसको निरसन करने जैसा होगा.

धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष के समायोजनकी मीमांसासे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इन पदोंके वाच्य किन अर्थोमें स्वीकारकर प्रस्तुत मीमांसा प्रवृत्त हुयी है.

भारतीय एवं पश्चिमी दोनों तर्कशास्त्रोंमें प्रत्येक शब्दके दो मौलिक वाच्यार्थ स्वीकारे गये हैं. अपने यहां उनका प्रभेद अभिधेयार्थ और पदप्रवृत्तिनिमित्तार्थ के रूपमें प्रतिपादित हुवा है. पश्चिमी तर्कशास्त्रमें इसी प्रभेद डिनोटेशन् और कॉनोटेशन् कहकर स्वीकारा गया है. किसी शब्दके प्रयोगद्वारा ''शब्दका अर्थ **यह** है'' ऐसे निदर्शित किया जाता हो तो उसे अभिधेयार्थ या डिनोटेशन् समझना चाहिये. जबकि ''शब्दका अर्थ **ऐसा** होता है'' कहकर अर्थ निदर्शन किया जाता हो तो पदप्रवृत्तिनिमित्तार्थ या कॉनोटेशन् समझना चाहिये. प्रथममें वाच्यार्थ विषय बनता है जबकि द्वितीय वाच्यार्थ उस विषयकी प्रकारता. यह प्रकारता भी पुन: तर्कशास्त्रीयरीतिसे अथवा शब्दशास्त्रीयरीति विभिन्न हो सकती है.

प्रस्तुत 'धर्मार्थकाममोक्ष' पदोंका प्रयोग अभिधेयार्थोकी विवक्षावश नहीं प्रत्युत पदप्रवृत्तिनिमित्तार्थोकी विवक्षा रखकर किया गया है. अत: यह पदप्रवृत्तिनिमित्तार्थ तर्कशास्त्रानुसारी लेनेके बजाय शब्दशास्त्रानुसारी लेना अभिप्रेत है.

तदनुसार धर्मके बारेमें जो हम आर्ष धर्मानुगामिओंकी धारणाके अनुसार वेदादिशास्त्रोंद्वारा विहित कर्तव्य होता है वह 'धर्म' पदका अभिधेयार्थ या डिनोटेशन् होता है. और इस अर्थमें बौद्ध जैन पारसी यहुदी ईसाई मुसलमान आदिको धर्मतया स्वीकार्य हों उन्हें धर्मतया स्वीकार कर पाना अशक्य हो जायेगा. न केवल इतना अपितु, आर्ष धर्मानुगामिओंके भी शरीर आदिके स्वभाववश अथवा देशकाल या बाह्यजनोंके प्रभाववश क्रियाओंको भी धर्मतया मान्य रखना शक्य नहीं हो पायेगा. जबकि आहार निद्रा जागरण भय पलायन श्रम विश्राम आदि देहधर्म नहीं हैं ऐसा कह पाना तो शक्य नही. अत: ''**धारणाद् धर्म इत्याहु: धर्मो धारयते प्रजा**'' वचनोक्त ''**धृञ् धारणे**'' धातुपाठके अनुरोधवश देहधारणोपयोगी क्रिया प्रभावानुकूल-प्रतिकूल क्रिया, निजज्ञानइच्छाप्रयत्नजन्य, परस्परावलंबित कर्मरूप व्यवहार, स्वपर-व्यक्ति-समुदायाहितकरणसे निवृत्ति, आदि अनेक रूप धर्मोके

दर्शाये जा सकते हैं. इनका वेदादि शास्त्रोंसे विहित या निषिद्ध होनेका कोई प्रसंग जैसे नहीं, वैसे वेदादि शास्त्रोंसे इतरशास्त्रोंके भी विधि-निषेधके हमारे लिये अप्रसक्त होते हैं. वे उन समुदायोंके हेतुकों धर्म या अधर्म के रूपमें सोचे नहीं जा सकते? 'धर्म' पदके प्रवृत्तिनिमित्तार्थ अर्थात् कॉनोटेशन्को लक्ष्यमें रख कर.

इसी तरह 'अर्थ' पदके प्रवृत्तिनिमित्तार्थका विचार करनेपर ''अर्थ याचने'' धातुपाठसें हमें मिलता हैं. यहां याचना धर्मकारी पुरुषकी नहीं परन्तु धर्मके अनुष्ठान सम्पन्न करनेको आवश्यक या अपेक्षित अथवा अन्य भी अपनी किसी कामनाकी पूर्तिके हेतु अपेक्षित वस्तुका परामर्श अभिप्रेत है. वैसा अर्थ हमारे स्वभाव या हमपर पड़े बाह्यप्रभाव या अपने ज्ञान इच्छा प्रयत्न को क्रियान्वित करनेको अपेक्षित किसी भी वस्तुका परामर्शी हो सकता है. उदाहरणार्थ शयनरूप देहधर्मार्थ कुछ बिछोना-तकिया-चादर आदि अर्थरूप होते हैं. युद्धार्थ अस्त्र-शस्त्रादि, निवासार्थ गृह आदि. इन अर्थोंकी भी स्वभाव प्रभाव कर्म व्यवहार नीति धर्म आदिके सन्दर्भोंके अनुसार विविधता प्रकट होती है.

कोई भी कर्म व्यवहार नीति या धर्म हम सकाम या निष्काम कर सकते हैं परन्तु कर्ताके प्राणी होनेपर सर्वथा एकान्तिकतया निष्काम होना असम्भव कथा ही है. क्योंकि **''संकल्प-प्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वान् अशेषत:''** (भग.गीता.६।२४) जैसे गीतोपदेश सुनकर जो हमपर प्रभाव पड़ता है उसके कारण विशेष कर्म व्यवहार नीति या धर्म को निष्कामतया सम्पन्न करनेका संकल्पजन्य काम प्रकट न होता हो तो कुछ करना या न करना शक्य नहीं रह जाता.

जो संकल्परहित क्रियायें शरीरके स्वभाव या उसपर पड़े प्रभावके कारण स्वत: प्रकट हो जाती हैं उनकी तो कथा ही विलक्षण होती है. अत: संकल्पप्रभव कामरूप अभिधेयार्थकी विवक्षासे नहीं प्रत्युत संकल्पित या असंकल्पित सभी तरहके काम जो ''कमु कान्तौ'' धातुपाठमें इच्छा या अभिलाषा के अर्थमें दिखलायी गयी हैं, उस पदप्रवृत्तिनिमित्तार्थ या कॉनोटेशन् के अभिप्रायवश 'काम' पदका प्रयोग समझना चहिये. और ऐसा काम हमारे स्वभाव प्रभाव कर्म नीति आदि प्रकारोंमें किसी न किसी रूपमें प्रकट होता ही है.

इसी तरह 'मोक्ष' पद भी उसके अनेकानेक अभिधेयार्थ-ब्रह्मसायुज्य, देवसालोक्यादि, निर्वाण, कैवल्य, हेवन् या जन्नत या जीवन्मुक्ति आदि-रूपोंमें लेनेके बजाय 'मुच्लृ मोक्षणे' धातुपाठमें निर्देशित शब्दशास्त्रीय प्रवृत्तिनिमित्तार्थ किसी भी प्रकारकी बन्धन लगती बातोंसे छुटकारा मिलनेके अभिप्रायवश ग्रहण करना चाहिये; अतएव भक्तको मुक्ति बन्धनरूप लगती होनेके कारण भगवान् जब मुक्त करनेके बजाय भक्तिप्रदान करते हैं, तो वह उसे मुक्तिकी तरह लगती है. ज्ञानमार्गीयको धर्मार्थकाम बन्धनरूप लगते होनेसे उनसे छुटकारा मुक्ति लगती है. धर्मनिरपेक्षतावादिओंको बहुसंख्यक धार्मिकोंकी आस्था बन्धनरूप लगती होनेसे उससे छुटकार मोक्ष लगता है. अतएव मोक्ष भी हमारे स्वभाव प्रभाव कर्म व्यवहार नीति धर्म आदिके क्रियाकलापोंका सहचारी हो सकता है.

मूलमें ये व्याख्यान मेरे सुहृद् श्रीरूपचंद खंडेलवाल 'भूप'की स्मृतिमें जबलपुरमें आयोजित कार्यक्रममें चार दिनके मेरे प्रवचन हैं. समयके संकोचवश बहुत कुछ बातें जो प्रारूपतया सोची थी पर कह

नहीं पाया. उन्हें मेरे प्रवचनको लिपिबद्ध करनेवाले प्रिय श्रीशरद् शर्मा, उसे संपादित करनेवाले प्रिय श्रीपरेश शाह तथा श्रीमती मनीषा परेश शाह के अथक उमंगके कारण जो लेखबद्ध स्वरूप मुझे बांचने दिया गया, उसमें पूरक अंश लिखकर इस ग्रन्थमें मैंने जोड़ दिया. इसके आमुख लिख देनेको विद्वान चिन्तक श्रीअम्बिकादत्त शर्माजीको अनुरोध करनेपर उन्होने भी मेरा अनुरोध स्वीकारा!

एतदर्थ व्याख्यान कार्यक्रमके आयोजक श्रीरूपचंदजीके परिवार लिपिबद्धकार श्रीशरद् शर्मा तथा संपादनार्थ परिश्रम लेनेवाले शाह दंपती और श्रीअंबिकादत्तजी आदि सभीके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं.

अधिक भाद्रपक्ष शुक्ल द्वितीया **गोस्वामी श्यामममनोहर**
वि.सं.२०६८ मुंबई

पुरोवाक्
पुरुषार्थसंतुलनवाद

''पुरुषार्थव्यवस्था–धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति'' विषयपर दिया गया यह प्रवचन और लिपिबद्ध उसका यह पुस्तकीय प्रारूप पूज्य बाबाजीके 'सूक्ताभ्यास–विवर्धितव्यसन' और 'प्रतिप्रश्नेन सेवया' रूप अहर्निश शास्त्रावगाहनका फल है. पूज्य बाबाजीकी सारस्वत–साधना 'नानाशास्त्रप्रक्षालितमतिवैभव' से आपूरित है और इनकी प्रवचनशैली कथा–कहानीका अवलंब लेकर नहीं चलती, बल्की तत्त्वशोधन करनेवाली होती है. आधुनिक ज्ञान–विज्ञानके अधुनातन अनुसंधानो एवं अन्तर्देशीय शास्त्रपरंपराओंसे सम्पुटित इनके प्रवचनोंमें आर्ष प्रज्ञाका गहन तात्पर्यावबोध लोक–सुलभ–रोचकता और हृदयग्राही सहजताके साथ प्रकट होते हैं. श्रुति स्मृति पुराण इतिहास दर्शन और साहित्य के अतिविशाल वाङ्मयका आजीवन मंथन करते हुए पूज्य बाबाजीने इस प्रवचनके माध्यमसे 'पुरुषार्थसमन्वय'रूप मणिको सर्वजनसुलभ और हस्तामलकवत्‌रूपमें प्रस्तुत किया है.

चार वेद, चार युग, चार वर्ण, चार आश्रम, चार पुरुषार्थ, चार धाम, चार ऋतुयें, चार दिशायें तथा चार पहरों की चतुष्पादीय व्यवस्था आर्ष प्रज्ञाके विवेकमूलक स्वातन्त्र्यसे उपजी हुई एक समग्रतावादी ऋतानुगामी जीवनदृष्टि है जो महज मानवकेन्द्रित (एन्थ्रोपोसेन्ट्रिक्) नहीं, बल्कि विश्वतोमुख व्यवस्था है. इसमें वर्णाश्रमी पुरुषार्थव्यवस्था

अपने मूलगामी स्वरूपमें आस्थापरक धार्मिक अवधारणा नहीं, बल्कि औचित्यपरक सांस्कृतिक अवधारणा है. इसलिये वर्णाश्रमी पुरुषार्थव्यवस्थासे बाहर खड़ा व्यक्ति आर्ष दृष्टिसे व्रात्य नागर और म्लेक्ष्य (म्लेच्छ) 'सांस्कृतिक पर' तो हो सकता है लेकिन वह कोई अभिशप्त **'धार्मिक-पर'** अथवा पापपुत्र न होकर **'अमृतपुत्र'** ही होता है. इस प्रकारकी औचित्यदृष्टि अन्यधार्मिक संस्कृतियोंकी मूल्य-चेतनामें नहीं देखी जा सकती है. अत: पुरुषार्थव्यवस्था कोई आस्थापर अनुलन्ध्य आदेश नहीं, बल्कि सही अर्थोमें एक मूल्यदृष्टि है जो लोकसिद्धि और परमार्थसिद्धि को समन्वित करनेवाला मानवधर्म है! ऐसा मानवधर्म जो पहले स्वयंको संस्कारित करता है और बादमें प्रकृतिको संस्कारित कर उसे पूरे योग-क्षेमके साथ ग्रहण करता है. इस संस्कारकी पराकाष्ठा तो आर्ष प्रज्ञामें तब दिखाई पड़ती है जब प्रकृतिकी शुद्धिके साथ-साथ आत्माकी शुद्धि, अन्तरात्माकी शुद्धि और यहां तक की परमात्माकी शुद्धि अर्थात् संस्कारका अधिकार मनुष्यको प्राप्त होता है. **''आत्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरह विरजा, अन्तरात्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा, परमात्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्''** (महा.नारा.अनुवाक्-६६)

पुरुषार्थव्यवस्थाके प्रति पूज्य बाबाजीकी अन्तर्निहित विवक्षा भी उसके मूल्यदृष्टि होनेमें ही है. मनुष्यकी चेतना जैव स्तरकी दैहिक-ऐन्द्रिक वासनासे ऊपर उठी हुई आत्मचेतन चेतना होती है. मानवी स्तरसे अवरस्तरोंकी

चेतना और देहधारी प्राणियोंमें जैव-वासनामूलक कितना भी साम्य क्यों न हो, वह सब प्रकृतिस्थ अवस्थायें ही होती हैं. उन सभी अवस्थाओंको आत्मचेतन चेतनासे अभिहित नहीं किया जा सकता. चेतनाके विकास अथवा इतिहास में मानवी स्तरपर ही चेतना पहली बार आत्मचेतन होती है और वह जीवन तथा जगत् में '<u>अर्थ</u>' देखती है. मानों आत्मचेतन चेतनामें ही जीवन और जगत् के प्रति 'अर्थ'का उन्मीलन अथवा पुरुषार्थका उन्मेष होता है. ऐसा इसलिए कि आत्मचेतन चेतना ही अपने स्वरूपकी खोज और गन्तव्य की जिज्ञासामें यह प्रश्न उत्थापित करती है कि मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं और मेरा गन्तव्य क्या है? **''को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टि: ?''** (ऋ.सं.१०।१२९।६)

इसीलिए पुरुषार्थ-समन्वयको लक्ष्य करके दिये गये इस व्याख्यानका प्रारम्भ ही पूज्य बाबाजी 'मैं' की पहचान अर्थात् मैं कौन हूं के प्रश्न करते हैं. 'मैं कौन हूं'के सम्बन्धमें वैदिकदृष्टिका पर्यवसान आत्मौपम्यतामें होता है जो 'मैं'के देह इन्द्रिय मन बुद्धि और अहंकार इत्यादि होनेका निराकरण करते हुवे अग्रसारित होता है, परन्तु पूज्य बाबाजीने 'मैं कौन हूं'की वैदिक दृष्टिके पूर्वपक्षमें एतद् विषयक पश्चिमी दर्शन धर्म विज्ञान समाजशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र इत्यादि दृष्टिकोणोंको रखा है और उसकी समीक्षा करते हुए वैदिकदृष्टिको विचारोंके विश्वइतिहासके परिप्रेक्ष्यमें प्रतिष्ठापित किया है. यह अन्वीक्षा प्रवचनके भागी श्रोताओंके लिये अवश्य ही दुर्बोध्य रहा होगा लेकिन दार्शनिक दृष्टिसे इसे पूरे प्रवचनका

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पाद कहा जा सकता है. यद्यपि पूज्य बाबाजीने विषय-वस्तुकी गंभीरताको सरलीकृत एवं रोचक बनानेके लिये अपनी तरफसे कोई कसर नहीं छोड़ी है; पश्चिमी वैज्ञानिक चिंतन, मानविकी और समाजविज्ञानकी अन्यान्य शाखाओंमें मनुष्यके 'मैं'की पहचान अर्थात् उसकी परिभाषाको चाहे सामाजिक प्राणी, राजनीतिक प्राणी, उत्पादक प्राणी, प्रतीक निर्मायक प्राणी और तकनीकि कौशलयुक्त प्राणी जैसे तटस्थ लक्षणोंसे क्यों न लक्षित किया गया हो लेकिन उसके स्वरूपलक्षणको 'बौद्धिकता'के रूपमें ही मान्य किया गया है. बाकी सबके सब बौद्धिकताके ही उपलक्षण मात्र है. पूज्य बाबाजीने गहरी सूझ-बूझ और पैनी दृष्टिसे समीक्षा करते हुए तथा अपनी समीक्षाको बहुतसे वैज्ञानिक निष्पत्तियों तथा प्रयोगोंसे प्रमाणित कर यह दिखाया है कि मनुष्यके व्यावर्तक लक्षणकों खोजनेके प्रयासमें पश्चिमी दृष्टि अन्ततः 'पशुता'में ही गतार्थ हो जाती है. जबकी व्यावर्तकताकी तलाशमें उसने 'पशुता'को ही सन्दर्भ बनाया था. वस्तुतः बाबाजी पशुता और बौद्धिकता में एक तारतम्य देखते हैं और दोनोंके बीचका अन्तर केवल अनुपातका ही रह जाता है. अन्तमें चौंका देनेवाली मौलिकताके साथ पूज्य बाबाजी मनुष्यके 'मैं'की पहचान, उसकी परिभाषा पुरुषार्थसेवी अर्थात् 'धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-सेवी'के रूपमें करते है. द्रष्टव्य है कि भारतीय परंपरामें पहले भी **''धर्मो हि तेषाम् अधिको विशेषः''** कहा गया है लेकिन उसमें 'मोक्ष'का समावेश नहीं हुआ है. परन्तु पूज्य बाबाजीने मनुष्यकी परिभाषामें 'धर्म' और 'मोक्ष' दोनोंको समाविष्ट कर मनुष्यकी विशिष्टताको लोकसिद्धि और

लोकातिक्रमण-पूर्वक स्वरूपसिद्धि नामक दोनों ही दृष्टियोंसे देखा है. निश्चय ही यह अपेक्षाकृत व्यापकदृष्टि है जो मानवी स्थितिकी मूल्यचेतनामें लोकपरकता और लोकातिक्रमण दोनोंको समाहित करती है. मनुष्यसे अवरस्तरके प्राणियोंमें इन दोनों प्रवृत्तियोंका अत्यन्ताभाव है. इसलिए लोकसिद्धिपरक मूल्यात्मक अभिनिवेश और फिर लोकातिक्रमणमें परात्पर मूल्याभिनिवेश ही मनुष्यकी इतरव्यावर्तक स्थिति है.

इसीलिए आर्ष जीवनदृष्टिके लिए धर्म और मोक्ष उसके मौलिक प्रतीक, उसकी आत्मप्रतिमा जैसे हैं. पूरे आर्ष वाङ्मयमें कहीं भी इनकी अनदेखी नहीं की गई है. सम्पूर्ण जिजीविषा ही इनसे अनुप्राणित प्रतीत होती है. इन दोनों प्रत्ययोंने भारतीय धर्म नीति काव्यों कलाओं दर्शन और पुराकथाओं तथा वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवनके विधि-निषेधरूप आचारसंहिताओंको किस तरह प्रभावित किया है, यह खुली आँखसे देखनेकी चीज़ है. ये धर्म और मोक्ष आर्षजीवनदृष्टिके दो ऐसे मूलभूत तत्त्व हैं जिन्हे आर्ष जीवनदृष्टिका 'नियोग' कहा जा सकता है. यहां 'नियोग'का तात्पर्य ऐसे तत्त्वसे है जो हमारे प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप समस्त ऐच्छिक कर्मोंका नीतिनिर्देशक तत्त्व हो. यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि वैदिक जीवनदृष्टिके इतिहासकी 'टेलियोलोजी' निरपवादरूपसे इन्हीं दो तत्त्वोंसे निर्देशित होती रही है. धर्मचेतनासे आरम्भ हो कर मध्यमें धर्मानुसारी अर्थ और काम से 'लोकशुद्ध्यन्ताम्' करते हुए मोक्षकी और पदे-पदे निसर्ग पाना ही हमारी टेलियोलोजी है.

महाभारतकारने “**धर्मार्थकाममोक्षाणाम् इतिहाससमन्वितम्...**” कहते हुए इसी टेलियोलोजीको संकेतित किया है.

‘धर्मार्थकाममोक्षाणाम्’को जब हम ‘पुरुषार्थ’ पदसे अभिहित करते है तो यहां ‘पुरुषार्थ’ पदका अर्थ ‘पुरुषकी अभ्यर्थना’से है. पुन: यहां ‘पुरुष’का मतलब शरीरसे नहीं बल्कि आत्मा है. अर्थना आत्मचेतन पुरुषात्माकी होती है जो नवद्वारवाले शरीर रूपी पुरमें निवास करती है. “**नवद्वारे पुरे देही**” इसी पुरमें निवास करनेवाले आत्मचेतन देहीकी समस्त अभ्यर्थनाओंको पुरुषार्थचतुष्टयमें समीकृत किया गया है. इसमें धर्म अर्थ और काम लोकसिद्धिपरक हैं. जहां सम्पूर्ण जीवन यज्ञ बन जाता है. इसीलिए ऋणत्रय और पंचमहायज्ञ इसके आनुषंगी कहे गये हैं. मोक्ष लोकातिक्रामी है. जहां समस्त अभ्यर्थनायें योगपूर्वक स्वरूपसिद्धिमें विश्रांत होती हैं. पुरुषार्थोंकी संख्याको लेकर परम्परामें कुछ विवाद भी देखे जाते हैं. कहीं-कहीं इसे त्रिवर्गमें ही सीमित कर दिया गया है और कहीं चतुष्टयमें इसकी सम्पूर्णता देखी गई है. इस विवादका मूल इतिहासके गर्भमें चाहे जो भी रहा हो लेकिन पूज्य बाबाजीने प्रवृत्ति-निवृत्ति तथा त्रैगुण्यवादकी दृष्टिसे पुरुषार्थचतुष्टयीको ही सम्यक् अवधारणाके रूपमें स्वीकार किया है और त्रिवर्गको पुरुषार्थ चतुष्टयीका विरोधी न मानकर प्रवृत्ति और निवृत्ति की दृष्टिसे दोनोंको समन्वित -भी किया है. त्रैगुण्यवादकी दृष्टिसे भी धर्म सत्त्वप्रधान, अर्थ रजोगुणी और काम तमोगुणी पुरुषार्थ हैं तथा मोक्ष त्रिगुणातीत “**नवद्वारे पुरे देही**” की स्वरूपावस्थाका द्योतक

पुरुषार्थ है. **(निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन:)** वास्तवमें देखा जाय तो पुरुषार्थसिद्धान्तके पीछे कर्मवाद संसारवाद और ज्ञानमोक्षवाद जैसी तात्त्विक पूर्वमान्यताओंके परिपेक्ष्यमें ही पुरुषार्थव्यवस्थाकी विभिन्न व्याख्यायें की गई हैं लेकिन कुल मिलाकर पुरुषार्थचतुष्टयकी अवधारणा ही भारतीय संस्कृतिमें सर्वस्वीकृत अवधारणा है. इसीमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका समन्वय होता है.

अब यदि पुरुषार्थ मानवीय अभ्यर्थनाओंके द्योतक हैं तो यह प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक दोनों हो सकती हैं. प्रवृत्तिमूलक अभ्यर्थनाओंमें अर्थ और काम अपने घोर रूपमें पाशविक भी हो सकते हैं लेकिन धर्म उनका ऐसा नियामक तत्त्व है जो उन्हें मानवोचित बनाता है. अर्थ और काम की बुभुक्षा पशु-पक्षियोंमें भी होती है और उनमें भी यह हिंसक रूप धारण करता है लेकिन मनुष्यमें यदि काम और अर्थ मूल्यसे मर्यादित न रहें तो उसका रूप बहुत ही बीभत्स और संरचनात्मक हिंसाका रूप ग्रहण कर सकता है. अत: भारतीय संस्कृतिमें अर्थ और काम को मर्यादित करनेके लिए ही धर्म-नीति परक सम्पूर्ण व्यवस्थाओंका निर्माण किया गया है. इन त्रिवर्गोंके अतिरिक्त मोक्ष निवृत्तिपरक पुरुषार्थ है. यद्यपि यह परात्पर कोटिका पुरुषार्थ है, इसीलिए त्रिवर्गको प्रेयकोटि और मोक्षको केवल श्रेयकोटि में रखा गया है, लेकिन इसकी स्वीकृति भी त्रिवर्गके आत्यन्तिक निषेध रूपमें श्रेय नहीं है. भारतीय परम्परामें कुछ ऐसी भी जीवनदृष्टियां रही हैं जो घोर

निवृत्तिवादका ही समर्थन करती हैं लेकिन भारतीय संस्कृतिका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वयमें ही निखर कर सामने आता है. इसीलिए पुरुषार्थव्यवस्था वर्णाश्रमधर्मसे संयुक्त होकर एक उदात्त और समन्वयकारी जीवनदृष्टिका रूप ग्रहण करता है.

पूज्य बाबाजीने इस प्रवचनके माध्यमसे इसी बातको उभारा है कि मनुष्यकी प्रवृत्तिमूलक अभ्यर्थनाओं और साथ ही साथ निवृत्तिमूलक आकांक्षाओंको पुरुषार्थव्यवस्थाकी चतुष्टयीपर किस प्रकार संतुलित किया जा सकता है. इसी तरह पूज्य बाबाजीने भारतीय जीवनदृष्टिके निचोड़को एक तरहसे 'पुरुषार्थसंतुलनवाद'के रूपमें प्रस्तुत किया है. शास्त्र-पुराणोंमें पुरुषार्थोंके स्वरूपकी चर्चा बहुतायद रूपमें की गई है लेकिन अलग-अलग पुरुषार्थोंके स्वरूपनिर्धारणमें उनके समन्वित स्वरूप अर्थात् 'पुरुषार्थसंतुलनवाद'के सूत्र यत्र-तत्र बिखरे ही नहीं, अपितु गोपित जैसे रहे हैं. यह पूज्य बाबाजीकी 'नानाशास्त्रप्रक्षालितमति'का वैभव ही है की उन्होंने इन सूत्रोंको खोजा और उन्हें एकत्रित कर पुरुषार्थविषयक शास्त्रकारोंके गूढ़ार्थको प्रकट किया है. पुरुषार्थव्यवस्थाका एक समन्वयवादी दृष्टिकोण चतुर्दश विद्यास्थानों, वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्था की दृष्टिसे भी विचारा जा सकता है और शास्त्रकारोंने इसे प्रकट रूपसे विचारा भी है लेकिन पूज्य बाबाजीने यहां पुरुषार्थचतुष्टयीमें आनुपातिक समन्वयके सूत्रोंको खोजा है. अत: इसे 'पुरुषार्थसंतुलनवाद' कहना हम अधिक उचित समझते हैं.

पुरुषार्थसंतुलनका प्रथम सूत्र पूज्य बाबाजीको महाभारत १२।१६१।३८ में प्राप्त होता है जहां महर्षि व्यास सुस्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं **''धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या: यो ह्येकसक्त: स नरो जघन्य, द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं, स उत्तमो यो निरत: त्रिवर्गे''** अवधेय है कि यहां पुरुषार्थोंमें संतुलनकी बात त्रिवर्गकी दृष्टिसे कि गई है. यदि कोई एक ही पुरुषार्थमें अधिक आसक्ति रखता है तो वह व्यासकी दृष्टिमें जघन्यकोटिका व्यक्ति है. चाहे कोई एक मात्र धर्मसे भी ही क्यों न हो उसे संतुलनाकी दृष्टिसे जघन्य ही कहा जायेगा. यदि कोई दो पुरुषार्थोमें दक्षता रखता है तो वह मध्यमकोटिका है. **''स उत्तमो यो निरत: त्रिवर्गे''** अर्थात् जो तीनों पुरुषार्थोमें समभावसे निरत रहता है, वो ही उत्तमकोटिका पुरुषार्थसेवी है. यहां यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि महर्षि व्यास यह कह रहे हैं कि **''धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या:''** तो उनका एक आशय यह प्रतीत होता है कि तीनों पुरुषार्थ परस्पर एक-दूसरेके पूरक हैं और इस तरह तीनोंकी समतुल्यता रूपत्रयीमें ही पुरुषार्थकी संपूर्णता है. उसका दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि तीनों पुरुषार्थोंकी अपनी-अपनी स्वायत्तता है क्योंकि तीनों तीन तरहकी अभ्यर्थनायें हैं लेकिन पुरुषार्थीको चाहिए कि तीनोंका समानभावसे सेवन करे. इसमें पहला पुरुषार्थोंका स्वरूपगत संतुलन है और दूसरा पुरुषार्थीगत संतुलन है.

पुरुषार्थसंतुलनके दूसरे सूत्रको पूज्य बाबाजीने विष्णुपुराणोक्त १।१८।२१ व्यासवचनके माध्यमसे उद्घाटित

किया है. व्यासजी कहते हैं **''धर्मार्थकाममोक्षाख्या पुरुषार्था हि उदाहृता: चतुष्टयमिदं यस्मात्...''** यहां संतुलनकी बात प्रवृत्ति और निवृत्ति मूलक दोनों प्रकारकी अभ्यर्थनाओंको लेकर कि गई है. पुरुषार्थ चार ही हैं और चारों अलग-अलग नहीं, बल्कि चार मिलकर एक हो रहे हैं. इस दूसरे सूत्रमें पुरुषार्थचतुष्टयीका स्वरूपत: संतुलन ही अभिप्रेत है. यहां एक बात जो समझनेकी है वह यह कि त्रिवर्गका स्वरूपत: संतुलन तो धर्मानुकूल काम और धर्मानुप्राणित अर्थकी दृष्टिसे हो सकता है लेकिन पुरुषार्थचतुष्टयीमें मोक्षानुसारी धर्म अर्थ और काम की बात कैसे की जा सकती है, क्योंकि मोक्ष तो अभी प्राप्तव्य है. वस्तुत: प्राप्तव्य मोक्षानुसारी धर्मार्थकामका तात्पर्य योगबुद्धिपूर्वक धर्मार्थकामका सेवन है, क्योंकि प्राप्तव्य मोक्षका व्यवहारमें निकटतम अनुवाद योग ही है. यहां योगका तात्पर्य चित्तवृत्तियोंके निरोधसे नहीं बल्कि **''योग: कर्मसु कौशलम्''** और **''समत्वं योग: उच्यते''** से है. पुरुषार्थचतुष्टयीके ऐसे संतुलनका आदर्श हमें राजा जनकके जीवनचरित्रमें प्राप्त होता है. इसी कारण उन्हें 'विदेह'की संज्ञासे अभिहित किया जाता है.

पुरुषार्थसंतुलनका तीसरा सूत्र पूज्य बाबाजीको मनुस्मृतिमें प्राप्त होता है जो मुख्यरूपसे त्रिवर्गसे संबंधित है. मनुका वचन है **''परित्यजेद् अर्थकामौ स्यातां धर्मविरोधिनौ धर्मप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च''** तात्पर्य यह है कि वैसे अर्थ और काम संबंधी अभ्यर्थनाओंको त्याग देना चाहिये जो धर्मविरोधी

हों. अर्थ और काम भी तभी प्रेय कहे जा सकते हैं जब वे धर्मानुप्राणित हों, अन्यथा पाशविक अर्थ और काम प्रेयकोटिमें भी नहीं रखे जा सकते. परन्तु याज्ञवल्क्यके वचनके इस पक्षमें कोई अपूर्व विशेषता नहीं है क्योंकि मनुष्यकी पाशविक बुभुक्षायें तो औचित्यानौचित्य और हेयोपादेय बोधसे युक्त हो कर ही प्रेय बनती हैं. इसीलिये श्रीकृष्ण भी **''धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि''** कह कर इसीका संकेत कर जाते हैं. विशिष्टता तो इस बातमें निहित है कि अर्थ और काम का नाशक धर्म भी उतना ही त्याज्य है जितना कि धर्मविरुद्ध अर्थ और काम. अत: धर्मका प्रयोजन मानव प्रवृत्तियोंका निग्रह और निरोध नहीं, उनका संस्कार और परिमार्जन भी है. यह बात कोई भारतीय मनीषी ही कह सकता है. पैगम्बरवादी धर्मोंमें इस प्रकारके विवेकके लिए कोई स्थान बना पाना असंभव सा प्रतीत होता है.

पुन: पुरुषार्थसंतुलनका चौथा सूत्र पूज्य बाबाजीने **''यथाशक्ति न हापयेत्''** नामक व्यासवचनमें पाते हैं. महर्षि व्यासका यह वचन पुरुषार्थीनिष्ठ पुरुषार्थोंके संतुलनकी अनिवार्यताको प्रस्तावित करता है. हम अपने जीवनमें पुरुषार्थोंमें अनुकूल आचरण करें इसके लिए सामर्थ्यासामर्थ्यकी कोई सीमारेखा निर्धारित नहीं कि गई है. ऐसे ही उंच-नीच, अमीर-गरीब का भेदभाव भी पुरुषार्थोंके आचरणका विभेदक नहीं है. भारतीय जीवनपद्धतिमें प्रत्येक व्यक्तिके लिये स्वसामर्थ्यके अनुसार यथायोग्य त्रिवर्ग अथवा चतुर्वर्गीय पुरुषार्थोंका नित्यप्रति सेवन अनिवार्य है. 'नित्यप्रति'का तात्पर्य

यहां ऐसा है कि भारतीय जीवनदृष्टिमें चार पहरवालें दिनमें ही चार युग, चार आश्रम, चार वर्ण और चार पुरुषार्थो का समय प्रबन्धन पहरानुसारी किया गया है. इसका संकेत स्वयं महर्षि याज्ञवल्क्यने यह कहते हुए किया है **''ब्राह्मे मुहुर्ते हि उत्थाय चिन्तयेद् आत्मनो हितं, धर्मम् अर्थं च कामं यथाशक्तिः न हापयेत्''**

ऐसे ही पूज्य बाबाजीने **''धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधतः''** (भाग.पुरा.३।७।३२) नामक भागवतपुराणके इस वचनको पुरुषार्थ संतुलनाके पांचवे सूत्रके रूपमें व्याख्यायित किया है. अवधेय है कि धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष स्वयंमें एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं लेकिन देश-काल और परिस्थिति विशेषमें ये एक-दूसरेके विरोधी हो सकते हैं. वस्तुतः एक तो इनमें असंतुलनसे ही विरोध पैदा हो सकता है तथा दूसरे कब कहां और किस अनुपातमें इनका सेवन किया जाय, इसका विवेक न होने पर भी ये परस्परविरोधी हो सकते हैं. अतः पुरुषार्थोंका अविरोधतः सेवन ही श्रेयस्कर है. भागवतमें आयी एक कथाके माध्यमसे पूज्य बाबाजीने इस अविरोधके तात्पर्यको बड़े ही सटीक ढंगसे उजागर किया है. कथा इस प्रकार है. एक बार भगवान्ने प्रचेतसोंको सृष्टि उत्पन्न करनेका आदेश दिया. आदेश पाते ही वे पृथ्वीकी ओर कूच कर गये. पृथ्वीपर उन्होंने देखा कि यहां तो वृक्ष ही वृक्ष हैं तब प्रचेतसोंको लगा कि हम सृष्टि तो उत्पन्न कर लेंगे लेकिन वह सब रहेंगे कहां? अतः उन्होंने पृथ्वी परके सारे वृक्षोंको जला डाला. तब

भगवान् इस अनर्थको देख कर प्रकट हुए और प्रचेतसोंसे पूछा कि आप सबोंको सृष्टि करनेके लिये कहा गया था, वृक्षोंको जला डालनेके लिये तो नहीं कहा गया था. इसके उत्तरमें प्रचेतसोंने कहा कि भगवन् हम वृक्षोंको जलातें नहीं तो उत्पन्न की हुई सृष्टि रहती कहां! इस मूढ़ उत्तरको सुनकर भगवान्ने एक गंभीर रहस्यका उद्घाटन करतें हुए कहा है कि **''अहस्तानि सहस्तानाम् अपदानि चतुष्पदां, फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्''** अतः जैसे सृष्टिमें अविरोधका सूत्र जानना जरुरी है वैसे ही पुरुषार्थसेवनके लिये भी उनके अविरोधका विवेक आवश्यक है. यह कदापि उचित नहीं हो सकता कि मोक्षप्राप्तिमें यदि शरीर बाधक है तो सम्पूर्ण आयुका भोग किये बिना पहले ही इच्छामृत्यु वरण कर ली जाय. इस संबंधमें अपनी दृष्टि तो **''शरीरम् आद्यं खलु धर्मसाधनम्''** की है. वस्तुतः अयुक्त आहार-विहारसे जैसे आधि-व्याधि उत्पन्न होते हैं वैसे ही अयुक्तरूपमें पुरुषार्थोंके सेवनसे पुरुषार्थोंमें विकार उत्पन्न हो जाता है. इसलिए पुरुषार्थोमें विवेकपूर्वक ऐसा समन्वय आवश्यक है ताकि उसमें देश-काल और परिस्थितिवश विरोध न पैदा हो जाय.

अन्तमें पूज्य बाबाजीने 'भक्ति' नामक पुरुषार्थपर अपने प्रवचनमें विस्तारसे प्रकाश डाला है और भक्ति उसके समस्त गुण-सूत्रोंके साथ मानवीय अभ्यर्थनाके एक स्वतन्त्र आयामके रूपमें 'पंचम पुरुषार्थ' सिद्ध किया है. इसमें दो राय नहीं कि भक्ति एक पुरुषार्थ है लेकिन प्रश्न यह है कि

इसे पुरुषार्थोंकी सरणीमें समानान्तररूपसे पांचवा माना जाय अथवा चतुर्थपुरुषार्थके विकल्पमें एक पुरुषार्थ माना जाय. यदि इसे मोक्षपुरुषार्थका विकल्प माना जाये तो पुरुषार्थचतुष्टयी सुरक्षित रहता है और सम्प्रदायभेदसे यह मोक्षस्थानीयरूपमें स्वीकार्य भी हो सकता है. परन्तु यदि समानान्तररूपसे भक्तिको पंचमपुरुषार्थ माना जाय तो भक्तिके पुरस्कर्ताओंको पुरुषार्थकी सरणीमें मोक्षको साथ-साथ इसे स्वीकार करना असमंजस जैसा होगा. यद्यपि मोक्षके पुरस्कर्ता जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें भक्ति नामक अभ्यर्थनाके लिए अवकाश निर्मित कर सकते हैं और विदेहमुक्तिकी दृष्टिसे मोक्षको भी स्वीकार करना उनके लिये कठिन नहीं होगा. अत: पुरुषार्थोंकी सरणीमें चतुर्थोपरि पंचमपुरुषार्थके रूपमें भक्तिका प्रवेश एक पहेलीकी तरह. यहां इस पहेलीपर विस्तारसे चर्चाके लिए अवकाश भी नहीं.

अब जहां तक पंचपर्वा पुरुषार्थोंमें सन्तुलनका प्रश्न है तो इस प्रसंगमें पूज्य बाबाजीके आशयको प्रकट करते हुए कहा जा सकता है कि पुरुषार्थोंकी त्रिवर्गीय संकल्पना कर्मप्रधान है और धर्म उसका नियामक तत्त्व बनता है. धर्मके नियामकत्वमें पुरुषार्थी समस्त अभ्यर्थनाओंकी सिद्धि यज्ञभावसे करता है. अत: यज्ञबुद्धिसे समस्त अभ्यर्थनाओंका सेवन ही त्रिवर्गीय पुरुषार्थोंमें सन्तुलनका आधारभूत सूत्र है. पुन: पुरुषार्थचतुष्टयीकी संकल्पना ज्ञानप्रधान है और मोक्ष उसका नियामक तत्त्व है. मोक्षके नियामकत्वमें पुरुषार्थी अर्थनामात्रकी सिद्धि योगबुद्धिसे करता है. अत: योगबुद्धिसे

समस्त अभ्यर्थनाओंका सेवन चतुष्टयी पुरुषार्थव्यवस्थामें सन्तुलनका आधारभूत सूत्र है. इसी तरह पंचपर्वा पुरुषार्थकी संकल्पना भक्तिप्रधान है. समर्पण और शरणागति इसमें नियामक तत्त्व बनते है. पुरुषार्थी समस्त अभ्यर्थनाओंका सेवन ममत्व और अहंकार भावसे ऊपर उठकर करता है. इस तरह ''त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पयेत्'' बुद्धि पंचपर्वा पुरुषार्थव्यवस्थामें सन्तुलनका मूलभूत सूत्र बन जाती है. ''सब कुछ तेरा तुझको अर्पण''ही वस्तुत: भक्तिकी मूल भावना है और इस भावना मात्रसे पुरुषार्थीके जीवनमें एक अभूतपूर्व रूपान्तरण घटित होता है.

इस तरह देखा जाय तो 'भक्ति' मानवीय अभ्यर्थनाका एक स्वतन्त्र आयाम है और इसीलिए उसे एक स्वतन्त्र पुरुषार्थका दर्जा दिया जाना सर्वथा उचित भी है. यह एक ऐसा पुरुषार्थ है जो अपने प्रकारभेदसे अन्य सभी पुरुषार्थोंका अपनेमें समाहार कर लेता है. भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें ७।१६ आर्तो अर्थार्थी जिज्ञासु और ज्ञानी नामक भक्त और उसकी उसकी भक्तिके चार प्रकार बताये हैं. इसमें आर्तकी भक्ति कामपुरुषार्थको, अर्थार्थीकी भक्ति अर्थपुरुषार्थको, जिज्ञासुकी भक्ति धर्मपुरुषार्थको और ज्ञानीकी भक्ति मोक्षपुरुषार्थको अपनेमें समन्वित करती है. महाप्रभु वल्लभाचार्यने पुष्टिमार्गीय भक्तिकी दृष्टिसे ईश्वरकेन्द्रित पुरुषार्थ चतुष्टयीका समन्वय करते हुए कहा है कि हरिके प्रति दास्यभाव धर्मपुरुषार्थ, स्वयं हरि अर्थपुरुषार्थ, हरिके प्रति दिदृक्षा कामपुरुषार्थ और हरिका ही हो जाना मोक्षपुरुषार्थ है.

पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मो अर्थो हरिरेव हि
कामो हरि दिदृक्षैव मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रवचनके माध्यमसे पूज्य बाबाजीकी केन्द्रिय दृष्टि भारतीय जीवनपद्धितिके व्यापक परिप्रेक्ष्यमें पुरुषार्थव्यवस्थाके सन्तुलनवादको उभारना रहा है. यह बात अलग है कि प्रवचन शैलीमें विचारोके ताने-बाने अवान्तर प्रसार भी अक्सर ले ही लिया करते है, परन्तु जहां कहीं भी बाबाजीके विचार इस प्रकारके अवान्तर प्रसार लिए है वह भी कोई न कोई आर्षप्रज्ञाका महत्त्वपूर्ण बिन्दु ही रहा है. पुरुषार्थसन्तुलनवादी विचार-विन्यासके अतिरिक्त इस प्रवचनमें आर्ष धर्मदृष्टि और पुष्टिमार्गीय भक्तिके स्वरूप पर बहुत ही मूलगामी रूपसे विचार किया गया है. कुल मिलाकर इस सम्पूर्ण प्रवचनके ताने-बाने स्वस्तिककी तरह एक दूसरेमें खुलते जाते है. **''सुअस्ति करोति इति स्वस्तिक:''** स्वस्तिककी स्वस्तिकता इसीमें है कि उसके चारों हाथ एक-दूसरेकी तरफ अभिमुख रहते हैं. पूज्य बाबाजीने पुरुषार्थसन्तुलनसादके प्रारूपको भी 'स्वस्तिक' रूपमें ही प्रस्तुत किया है. उनकी दृष्टिमें पुरुषार्थचतुष्टयीकी अवधारणा भी एक स्वस्तिककी तरह ही है. धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष पुरुषार्थ रूपी स्वस्तिकके चार हाथ हैं जिसमें एक-दूसरेकी तरफ, दूसरा तीसरेकी तरफ, तीसरा चौथेकी तरफ और चौथा फिर पहलेकी तरफ ले जाता है. चारों पुरुषार्थोंकी एक-दूसरेकी तरफ अभिमुखता ही उनका स्वस्तिकोचित सन्तुलन है.

अन्तमें हम श्रीरूपचन्दजी खण्डेलवाल 'भूप'के बड़े सुपुत्र श्रीचन्दूभैया और उनके परिवार तथा सहयोगियोंके प्रति साधुवाद प्रकट करते हैं जिन्होंने पूज्य बाबाजीके इस व्याख्यानका आयोजन किया (योजकस्तत्र दुर्लभ:). इस आयोजनके प्रेरणास्त्रोत आचार्य कृष्णकान्त चतुर्वेदीजी एवं श्रीप्रकाश दुबेजी तथा विशेषकर प्रकाश मालपाणीजीके प्रति भी हम आभार व्यक्त करते है जिन्होंने इस प्रवचनके लिए जबलपुर स्थित गोपाल सदन जैसा सुरम्य स्थान उपलब्ध करावाया. पूज्य बाबाजी तो मेरे मानस गुरु है. वे अपने स्नेहसे सदैव मेरी सारस्वत निष्ठाका पोषण करते रहते हैं. श्रीशरद् शर्मा द्वारा लिपिबद्ध और शाहदम्पति द्वारा सम्पादित, अपने इस व्याख्यानकी भूमिका लिखनेका दायित्व पूज्य बाबाजीने मुझे सोंपा, इसके लिये मेरे पास कृतज्ञताके अतिरिक्त है ही क्या जो मैं उनके लिये कह सकूं!

शिलष्टा क्रिया कस्यचिद् आत्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभयं साधु स शिक्षकानां धुरि प्रतिष्ठा परितव्य एव ।।

२९-०९-२०१२, सागर

प्रो.अम्बिकादत्त शर्मा
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रिय
विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	पुटक्रम
१. मंगलाचरण		०१
२. प्रासंगिक		०१
३. प्रकरण–१		५–६२
	‘मैं’की पहचान क्या?	०५
	‘मैं’के बारेमें वेददृष्टि	०६
	मनुष्यकी परिभाषा क्या? विचारशील बुद्धिमान सामाजिक राजनैतिक या तकनीकवाला पशु!	०८
	क्या व्यावर्तक गुणोमें (differentia) हि मनुष्यके अस्तित्वका बोध सच्चा है?	०९
	वैज्ञानिक दृष्टिसे क्रियाशीलताका उद्‌गमकेन्द्र ‘नीयोकोरटेक्स्’	१०
	‘मनुष्य विचारशील प्राणी है’– विचारशील मनुष्यकी अविचारशील परिभाषा	११
	‘मनुष्य सामाजिक प्राणी है’– मनुष्यकी आहंकारिक परिभाषा	१५
	प्राणीसमुदायकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्य घोर असामाजिक पशु है	१७
	भारतीय प्रज्ञाकी विशेषता–शापका भी सदुपयोग	१९
	मनुष्यकी परिभाषा man is a rational social political technnological या religious animal के अर्थमें नहीं की जा सकती	२५
	–भारतीय आर्षदृष्टिसे मनुष्यकी परिभाषा–धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन	३५
	–समायोजनका प्रथम सूत्र–‘‘धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या:’’	३६
	–समायोजनका दूसरा सूत्र ‘‘धर्मार्थकाममोक्षश्च…’’	४१
	–समायोजनका तीसरा सूत्र–परित्यजेद् अर्थकामौ…धर्मं चाप्यसुखोदर्कं …परित्यजेत्	४४
	–समायोजनका चौथा सूत्र – धर्म अर्थ काम का यथाशक्ति अनुष्ठान	४४
	–पुरुषार्थ = मानवदेहको धारण करनेवाली स्वभावगत आवश्यकता या अपेक्षा	४५
	–सत्त्वसे धर्म, रजसे अर्थ, तमसे काम संबंधित पुरुषार्थ और आत्मासे मोक्ष संबंधित पुरुषार्थ	४७
	–समायोजनका पाँचवा सूत्र–‘‘धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधत:’’	५१
	–‘‘यथाशक्ति न हापयेत्’’– धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थका यथाशक्ति निर्वहन करना चहिये बिना उपेक्षाके	५२
	–भक्ति भी पाँचवा पुरुषार्थ है	५५
	–त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष का युग्मीभूत एकरूप मतलब ‘अक्षरब्रह्म’	५६
	–भागवत और श्रीवल्लभाचार्य के मतसे भक्ति भी पुरुषार्थ है. अत: धर्मार्थकाममोक्षभक्तिका समायोजन करता है वो ही अपने सम्प्रदायमें सच्चा ‘पुरुष’ है.	५९
४. प्रकरण : २		६३–८१
	प्रश्नोत्तर	६३
५. प्रकरण : ३		८२–१४३
	–धर्म अर्थ काम मोक्ष या भक्ति पुरुषार्थकी विभाजक रेखा अपने दृष्टिकोणसे बदलती है	८२
	–भागवतकी दृष्टिसे धर्मपुरुषार्थकी विवेचना	८७
	–धर्मके छह अंग [१]देश [२]काल [३]कर्म [४]कर्ता [५]मन्त्र और [६]द्रव्य	८९
	देश	८९
	काल	९०
	द्रव्य	९३
	कर्ता	९५
	मन्त्र	९८
	कर्म	१०३

–हमारे शात्र धर्मको कभी भी एकान्तिक नहीं मानते १०५

–भागवतकी दृष्टि धर्मके बारेमें १०६

–स्वे स्वेऽधिकारे... विपर्ययस्तु दोष: स्यात् १०७

–निष्ठाका अर्थ १०७

–द्रव्यकी शुद्धि–अशुद्धिका संज्ञान १११

–देवार्चनके लिये मूर्तिकी शुद्धिका संज्ञान ११५

–भगवान्के सारे नाम–रूपकी विषमता धर्मके लिये है ११९

–द्रव्यकी शुद्धि–अशुद्धिका प्रकार १२१
'द्रव्येण'= द्रव्यसे शुद्धि १२१
'वचनेन'= वचनसे शुद्धि १२२
'संस्कारेण'= संस्कारसे शुद्धि १२५
'कालेन'= कालसे शुद्धि १२५

–द्रव्यकी शास्त्रोक्त शुद्धि–अशुद्धिके संज्ञानसे विपरितसंज्ञान १२७
महत्त्व अथवा अल्पतया १३१

कर्ताकी शुद्धिका प्रकार: ''स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कार–कर्मभि: मत्स्मृत्या चात्मन: शौचम्...आदि'' १३३

मन्त्र १३५

कर्मशुद्धिका प्रकार १३८

६. प्रकरण : ४ १४४–१६३
प्रश्नोत्तर १४४

७. प्रकरण : ५ १६४–१९५
–ब्राह्मिकस्वरूप और ब्राह्मिकलीला १६४

–त्रिविध ब्राह्मिकलीलाका दशविधलीलामें भागवतके द्वारा विस्तार १६५

–ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और अविकृततया सृष्टिरूपकार्य भी हुआ है १६७

–औपनिषदक ब्रह्म या भागवतोक्त भगवान् कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् और भवितुम् अभवितुम् और अन्यथाभवितुं समर्थ है १७०

–कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं की परिसीमित सामर्थ्य जीवमात्रमें है १७२

–जीवकी पिंजरेरूप परिसीमा काल कर्म स्वभाव प्रकृति पुरुष हैं १७४

–स्वभावजा क्रिया वस्तुओमें गुणधर्मरूपा होती है. उत्पत्ति यहां धर्मरूप होता है, स्थिति अर्थरूप:, लय: कामरूप, और इनका सनातन चक्र द्रव्यस्वरूप मुक्ति है १७६

–इतरोपाधिकी क्रिया प्रभावरूपा होती है. इसके कारण आगन्तुक गुणधर्मोका उत्पादनं धर्मरूप होता है, स्थापनम् अर्थरूप, विलापनं कामरूप, नूतनोत्पादन मुक्तिरूप होता है १७७

–प्राणीके ज्ञान इच्छा और प्रयत्न से पैदा होनेवाली क्रिया 'कर्म' कहलाती है. कर्ममें प्रयत्न धर्मरूप होता है ज्ञान अर्थरूप, इच्छा कामरूप और सन्तुष्टि या असन्तुष्टि मुक्ति या बन्धन रूप हो जाते है १७८

–'व्यवहार'=किसी दूसरेको उद्देश्य बनाकर या दूसरेको साधन बनाकर या दूसरेके प्रयोजनकी पूर्तिके लिये किया जाता कर्म व्यवहार बन जाता है १८२

–'नीति'=जो व्यवहार अपने किसी व्यक्तिके स्वयंके या समुदायके प्रतिकूल हो उसे दूसरे किसी व्यक्ति या समुदायके सामने आचरण नहीं करना नीति है १८३

–'धर्म'=श्रुति स्मृति सदाचार और जो स्वयंको प्रिय हो उन चारोंको जोड़कर अपने कर्मको निर्धारित करनेपर 'धर्म' कहे जाने योग्य बनता है १८५

–भक्तिका उद्गमस्थान न देह, न आत्मा है परन्तु परमात्मा है १८८

–स्वभावसे धर्मतककी समानान्तर जाती बात भागवतकी लीलासे १८९

८. प्रकरण : ६ १९६–२२२
–प्रश्नोत्तर १९६

९. प्रकरण : ७ २२३–३२०
–एकमें ही पैदा हुआ ब्रह्म और सृष्टि का समानांतरीकरण २२३

–स्वभावसे पैदा होनेवाली क्रिया वस्तुओंमें उनका गुणधर्म बन जाती है २३०

स्वभावमें धर्म = उत्पत्ति २४१

स्वभावमें अर्थ = स्थिति २४३

स्वभावमें काम = लय २४३

–'प्रभाव'=इतरोपाधिकक्रियाके कारण आगन्तुकगुणधर्म प्रकट होता है २४८

प्रभावमें धर्म = उत्पादन २४९

प्रभावमें अर्थ = स्थापन २५१

प्रभावमें काम = विलापनं २५१

प्रभावमें मुक्ति = नूतनोत्पादन २५३

–'कर्म' = ज्ञानेच्छाप्रयत्नसे पैदा होती क्रिया २५३

कर्ममें धर्म = प्रयत्नरूप होता है २५४

कर्ममें अर्थरूप = ज्ञान होता है २५८

कर्ममें तुष्टि या असन्तुष्टि मुक्ति या बन्धन रूप होते है २६१

–'व्यवहार'=इतरजन[१]कर्म[२]करण[३]संप्रदाना[४]धिकरणको बनाकर कियाजाता कर्म २६२

–व्यवहारमें सामुदायिक हानिलाभविवेकके आधारपर किया गया कर्म इससे अन्यको अपने अनुकूल बनाना धर्म है २६५

–व्यवहारमें स्वपरका अवलंबन अर्थरूप होता है २६७

–व्यवहारमें स्वार्थ और परार्थ को साधना कामरूप होता है २६८

–व्यवहारमें स्वतुष्टि और परतुष्टि ही मुक्तिरूप होती है २७१

–नीतमें स्वीयव्यष्टि या समुदायके जो प्रतिकूल जाता हो ऐसा अन्यव्यष्टि या अन्यसमुदायके बारेमें आचरण नहीं करना नीति है २७२

–सूत्रनीतिमें आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् धर्मरूप होता है २७४

–अपने स्वार्थपर संयम नीतिमार्गीय अर्थ है २७६

–दूसरे भी स्वप्रतिकूल आचरण नहीं करे ऐसी आकांक्षा काम है २७६

–सर्वेऽत्र सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया: सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाक् भवेत् नीतिमार्गीय मुक्ति है २८३

–श्रुति स्मृति सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन: एतत् चतुर्विधं, ये धर्मके लक्षण है २८५

–देश–काल–द्रव्य–कर्ता–मन्त्र–कर्म के प्रभेदवश धर्म भिन्न हो जाते है, इसी तरह कुलजातिवर्णाश्रमवर्णगुणोंके निमित्तिभेदवश भी धर्म भिन्न–भिन्न हो जाते है २९५

–सत्यं दम: तप शौचं संतोषं ह्री क्षमार्जवम्, विद्या शमो दया ध्यानम् एष धर्मस्य संग्रह २९७

–धर्ममें काम यही होता है 'धर्मो रक्षति रक्षित:' ३०१

–धर्ममें अर्थरूप देशादिके षट्क ३०२

–धर्ममें अर्थकी परिभाषाके अन्तर्गत देशकालादि क्यों अर्थवाचक है? ३०२

–धर्ममें मोक्ष यावज्जीवन पापभीति अपराधग्रन्थि आत्मग्लानि और दण्डभीतिसे मुक्ति होती है ३०३

–भक्तिमें भागवत धर्म भक्तिप्रपत्तिद्वारा परमात्माका देवीकरणात्मक धर्मरूप होता है अत: भक्त्यंगतया धर्मादिपुरुषार्थ भी 'भक्ति' पदसे वाच्य होते है ३०६

–प्रवचनोत्तर पूरक अंश ३०८

–महाप्रभुजीके अनुसार धर्मादिका स्वरूप ३१७

१०. परिशिष्ट ३२१–३५१

११. अमृतवचनावली ३५२–३९३

१२. उद्धृतवचनानुक्रमणिका ३९४–४०१

पुरुषार्थव्यवस्था

धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष–भक्ति

(मंगलाचरण)

(धर्म): ‘‘कायेन वाचा मनसेन्द्रियेर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावाद् ।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।।

(अर्थ): भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्याद् ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृति:।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।।

(काम): भक्ति: परेशानुभवो विरक्ति: अन्यत्र चैष त्रिकएककाल: ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नत: स्यु–स्तुष्टि: पुष्टि: क्षुदपायोऽनुघासम् ।।

(मोक्ष): इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्ति: विरक्तिर्भगवत्प्रबोध: ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन् तत: परां शान्तिमुपैति साक्षात् ।।

(भाग.पुरा.११।२।३६–३७,४२–४३)

(प्रासंगिक)

श्रीरूपचन्द्र‘भूप’की स्मृतिमें आयोजित इस कार्यक्रममें सम्मलित होना किसी गौरवसे कहीं अधिक, मेरे प्रति उनका स्नेहभाव और उनके प्रति मेरे स्नेहभाव की विवशता है. मुझे बहुत खुशी होती है कि बच्चोंने ये आयोजन किया और आप सबभी उनकी स्मृतिमें आयोजित इस कार्यक्रममें इतने उत्साह और उमंगसे भाग ले रहे हैं. जो कुछ डॉ.अम्बिका दत्तजी और चतुर्वेदीजी ने कहा है, उन गुणोंका मैं प्रतीत्यसमुत्पाद हूँ या विवर्तवाद हूँ, मुझे पता नहीं. कुछ मरु–मरीचिका भी होती है. कुछ तो होगा, मुझे पता नहीं क्या है. इससे पहले कि मैं उस विषयका स्पर्श करूँ,

रूपचन्दजीके बारेमें कुछ कहना चाहूंगा. सचमुचमें आशुतोष, आशुरोष, आशुहास, आशुक्रोध सबका समन्वित रूप थे, विरुद्धधर्माश्रयी ब्रह्मकी तरह. कब प्रसन्न हो जाएं, कब रो दें, कुछ पता ही नहीं चलता था. मुझे बराबर याद है, मैं अपने मौसेरे भाईके विवाहमें यहाँ पहली बार आया था. शायद तो सत्तरके दशकके आदि भागमें. पहली बार तब मैं गोपाल मंदिरमें रुका था. प्रथम मिलनमें ही रूपचंदजीने दो चार कविता मेरे ऊपर बना दीं. दो चार कुछ और सुना दीं, फिर गुस्सा भी हो गए, फिर प्रसन्न भी हो गए, फिर रो भी दिए. मैं एकदम नर्वस हो गया कि किस व्यक्तिसे अपना पाला पड़ा है. मैं और मेरी छोटी बहन जब पीताम्बर भट्टके विवाहमें यहाँ आए थे, वहां भूपसे पहली मुलाकात हुई थी.

वैसे गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी, श्रीवल्लभाचार्यजीके द्वितीय पुत्रका यहाँ जबलपुरमें ससुराल है और मेरे पिताजीका भी द्वितीय विवाह यहीं हुआ. संयोगवश उनका नाम भी विट्ठलनाथ था तो मेरा यहाँ ननिहाल भी है. पता नहीं इस बारेमें ऐतिहासिकता क्या है पर लोग कहते हैं कि जबलपुर नाम जाबालीपुरसे बना है. शायद यहाँ सत्यकाम जाबाली महर्षिका कोई तो आश्रम या कर्मक्षेत्र रहा होगा. नर्मदाके तटपर है, ये एक अलग वैशिष्ट्य है जबलपुरका और जैसे हमारे यहाँ कहा जाता है कि गिरिराजजी या शालिग्राम या कांतानाथजी जो अयोध्यामें बिराजते हैं उनकी प्राणप्रतिष्ठा नहीं करनी पड़ती. इसी तरह नर्मदेश्वर महादेवकी

भी यदि पूजा करनी हो तो उनकी प्राणप्रतिष्ठाकी आवश्यकता नहीं रहती. पूजा शुरू करो और भगवान् वहाँ स्वप्रतिष्ठित है. ये एक बहुत ही अद्भुत बात है कि प्राणप्रतिष्ठा एक संस्कार है जो हम भगवान्का भी करते हैं. कुछ-कुछ स्थलों पर भगवान्की ऐसी महिमा है कि वो संस्कारकी भी अपेक्षा नहीं रखते. वैसे इसको संस्कारधानी सब लोग कह रहे हैं मगर भगवान् यहाँ संस्कारकी अपेक्षा नहीं रखते, स्वत: प्रतिष्ठित हैं.

यहाँ जब रूपचंदजीसे मेरा परिचय हुआ तो जब मैं और मेरी छोटी बहन ट्रेनमें वापस जा रहे थे तो उन्हींकी बात करते-करते रातको सोए कि बहुत ही भयंकर व्यक्तित्व लगता है. पर पता नहीं जैसे-जैसे सम्बन्ध बढ़ता गया ऐसे-ऐसे वो भय इतनी आत्मीयतामें परिणित होता गया कि रूपचन्दजी कभी गरजके, कभी बरजके, कुछ कह देते ''क्यों नहीं आते हो, आना पड़ेगा, कहाँ जाएँगे ?'' इस डरके मारे आना पड़ता था. मैं अक्सर उनसे फरमाईश करता था कि वो रामायणका दोहा बोलें कि जिसमें हनुमानजी या अंगदजी ने दांत किटकिटाए हैं. मैं कहता था ''आप दांत किटकिटाके कहोगे तो हमको आना ही पड़ेगा.'' बहुत आत्मीय परिचय था. इस तरहसे एक महिना रूपचंदजी हमारे यहाँ किशनगढ़में रहे और पूरा विठ्ठलायन उन्होनें सुनाया. उसके बाद महाप्रभुजीकी पंचशतीमें भी हमारे यहां सम्मलित हुए. उत्तरोत्तर वो आत्मीयता इतनी बढ़ गई कि उसकी विवशताके वश मैं यहाँ आया हूँ. इसे

आत्मगौरवसे ज्यादह मैं अपनी विवशता मानता हूँ. उनके मेरे प्रति स्नेह और मेरा उनके प्रति स्नेह मुझे विवश करता है यहां आनेके लिये. कुछ विचारोंकी वेवलेंन्थ् भी मिलती थी, नहीं तो आत्मीयता तो बहुत लोगोंके साथ होती है पर वेवलेंन्थ् कम मिलती है. पर पता नहीं क्यों रूपचंदजीके साथ ऐसा नहीं था. उनकी बात मेरे दिलमें उतर जाती थी और मेरी बात उनके दिलमें उतर जाती थी. इसलिए बच्चोंने मुझे जब सूचना दी तो मैंने कहा ''अवश्य आऊँगा.'' वैसे तो ये कार्यक्रम रूपचंदकी विद्यमानतामें होना चाहिए था क्योंकि वो मुझे बहुत बुला रहे थे और बहुत जोरसे मुझे डपट लगाई थी पर किसी परिस्थितिवश मैं आ नहीं सका पर आनेका वादा अवश्य किया था. मुझे लगता है कि रूपचंदजी मुझे क्षमा करेंगे कि मैं एक वर्ष बाद आया हूँ. उनका और मेरा मैत्री भाव ऐसा ही था.

प्रकरण : १

('मनुष्यकी मनुष्यता' वैदिक-अवैदिक दृष्टिसे)

('मैं'की पहचान क्या?)

जो विषय मैनें इस संदर्भमें चुना है वो कुछ इस तरहसे है कि हम अपने आपको किस तरहसे पहचानें. अपनी पहचान क्या? जब अपनी पहचानकी बात या मसला उठता है तो एक बड़े अच्छे शेरकी कुछ लाईन हैं जो मैं आपको सुनाना चाहूँगा. उर्दू भाषाको शेर है

लो वो पूछते हैं मुझसे कि तू क्या है?
जहाँमें कौन जान पाया कि 'मैं' क्या है!
किताबें कहती हैं इंसान है तस्वीरेखुदा
तो मैं खुदा क्यों नहीं! हूं तो फिर खुदा क्या है?

लोग मुझसे पूछते हैं कि 'तू' क्या है? मैं उनसे पूछता हूँ कि बताओ इस जहाँमें कौन ऐसा है जो जान पाया है कि 'मैं' क्या है? सभी किताबोंमें जैसे बाईबलमें, कुरानमें ये कहा गया है कि खुदाने अपने तसव्वुरसे इंसानको रचा है तो फिर मैं ही खुदा क्यों नहीं हो सकता और हूं तो फिर वो खुदा क्या है?

लोग परेशां है खुदी और खुदाके मसले पर
ऐ खुदा तू बता कि ये हंगामाए हस्ती क्या है?

'खुदी' माने सेल्फअवेयरनेस्, लोग इस बातसे परेशान हैं कि 'मैं' और 'खुदा' का मसला क्या है? ये सब क्या हंगामा है, ऐ मेरे खुदा तू ही मुझे बता.

('मैं'के बारेमें वेददृष्टि)

जिस तरहसे शायरने ये पूछा है, वेदने बहुत पहले इस प्रश्नको उठाया था **''को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः?''** (ऋ.सं.१०।१२९।६) कहाँसे आ रहा है कहाँ जा रहा है. जो कुछ आ रहा है और जो कुछ जा रहा है उसमें जो मैं आ रहा हूँ तो क्या मैं अपनी सामर्थ्यसे आ रहा हूँ कि कोई मुझे घसीटके ला रहा है. ''लाई हयात आए कज़ा ले चली चले अपनी खुशी न आए, न अपनी खुशी चले.'' मैं अपने स्वभावसे आया हूँ कि अपनी सामर्थ्यसे आया हूँ या किसी औरकी इच्छासे आया हूँ. मैं कहाँसे आया हूँ, कहाँ जा रहा हूँ? अरे! जब 'मैं'का पता नहीं चलता तो इस बातका कैसे पता चल सकता है कि कहाँसे आया हूँ और कहाँ जा रहा हूँ. अपने 'मैं'के साथ यही तकलीफ कुछ ऐसी उलझी हुई है और उस उलझी हुई तकलीफमें, वेदने तो यहाँ तक कह दिया कि **''यो अस्याः अध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद''**(ऋ.सं.१०।१२९।७) जो इसको गवर्न् कर रहा है उसे पता है कि नहीं कहाँसे आ रहा है, कहाँ जा रहा है कि उसे भी पता नहीं है? बहुत बड़ी बात कह दी है. मॅक्समूलर् कहता है कि ''और कोई ईश्वरवादी ऐसा कहता तो उसके फेफड़े फट जाते. ये तो भारतीय मनीषा है जो ऐसा कह पा रही है. ये तो ईश्वरको भी ऐसे पूछ लेती है कि तुमको पता है कि नहीं कि कहाँसे आ रहा है कहाँ जा रहा है?'' ध्यान रखो कि वेद अनीश्वरवादी नहीं है. ईश्वरवादी होते हुए भी

ईश्वरसे सवाल करना, इसमें कहीं न कहीं आश्वस्तता है ईश्वरके साथ. हमारा ईश्वर हमको आश्वस्त रखता है कि हाँ पूछ सकते हो ऐसा सवाल. कोई दूसरा ईश्वर करता हो कि न करता हो, वो हमें काफिर घोषित करता हो कि ''तुम मेरी सर्वज्ञतापर सवाल उठानेवाले कौन? इस पर प्रश्नचिन्ह लगानेवाले तुम कौन?'' पर हमारा वेद हमें आश्वस्त करता है कि तुम पूछ सकते हो. न केवल आश्वस्त करता है बल्कि हम परमात्माको शुद्ध भी कर सकते हैं. तैत्तिरीयआरण्यकके एक विरजा होममें एक बड़ी मजेदार बात आती है **''पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशा मे शुद्ध्यन्तां ज्योति: आत्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा, अन्तरात्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा, परमात्मा मे शुद्ध्यन्तां ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्''** (महा.नारा. अनुवाक्-६६) ठीक है, ये तो सब शुद्ध होने ही चाहिए, करने चाहिए पर **''आत्मा मे शुद्ध्यन्ताम्''** और आखिरी बॉल् ऐसा फैंका है कि **''परमात्मा मे शुद्ध्यन्ताम्''** कुछ संस्कार प्रभु हम आपका करेंगे, कुछ संस्कार आप हमारा करो. जब हम दोनों आत्मा और परमात्मा हैं तो दोनों एक-दूसरेको शुद्ध करेंगे. आप कुछ अपनी कृपासे हमें शुद्ध करो! हम अपनी भक्तिसे आपको शुद्ध कर दंगे. यदि हम आपकी भक्ति नहीं करेंगे तो आप अशुद्ध रह जाओगे और आप कृपा नहीं करोगे तो हम अशुद्ध रह जाएंगे. दोनोंको एक-दूसरेको शुद्ध करना है. जब यह परस्पर शुद्धीकरण होता है तब वहाँ भारतीय प्रज्ञा चमकती है कि ईश्वरके बारेमें हम इतनी आत्मीयतासे सोचते हैं. हम कोई दब्बूपनेसे

नहीं सोचते हैं ईश्वरके बारेमें. जब हम ईश्वरको पराया मानते हैं, जब हम ईश्वरको दूसरा मानते हैं तो वो ईश्वर हमारे लिए भयंकर हो जाता है **''भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्याद् ईशाद् अपेतस्य विपर्ययोऽस्मृति:''** जितने दिन ये प्रवचन चलेगा तबतक जैसे कोई गीत गाते हैं तो सम या मुखड़ा आता है ऐसे प्रवचनका मुखड़ा ये चार श्लोक रहेंगे और अपन गा गाकर इसे रोज दोहराते रहेंगे. ताकि अपनेको अपनी बंदिश क्या है ये याद रहे. बाकी राग तो अपन आलापते ही रहेंगे पर बंदिश नहीं भूलनी चाहिए.

(मनुष्यकी परिभाषा क्या? विचारशील बुद्धिमान सामाजिक राजनैतिक या तकनीकवाला पशु!)

अपनी भारतीय प्रज्ञाका जो महत्त्वपूर्ण योगदान है वह यंह है कि स्वयंको कैसे देखना, आत्माको कैसे देखना, परमात्माको कैसे देखना और जब इस दृष्टिका हम विचार करते हैं तो एक बात इसकी तुलनामें सामने आती है कि ओर दृष्टि क्या हैं? एक सच बात बताऊँ आपको कि यूनानी दर्शन, यूनानी चेतना, भारतीय दर्शनके बहुत सन्निकट रही है और बहुत जबरदस्त उसका योगदान है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता. मगर पहली बार यूनानी चेतनाको ऐसा बोध हुआ कि Man is Rational Animal, मनुष्य एक बुद्धिमान पशु है. उसका उत्तरोत्तर विकास यूरोपीय चेतनामें ऐसा हुआ कि मनुष्य एक सामाजिक पशु है. परवर्ती कालमें खासतौरसे औद्योगिक क्रांतिके बाद जब पोलिटिक्स्ने जोर पकड़ा तब, कहा गया कि Man is Political Animal और इधर नवजागरणके बाद वैज्ञानिक,

आधुनिक युग आया तब लोगोंने इस तरह भी इसको परिभाषित किया कि Man is Technological Animal. हम अपने आपको क्या समझें? रेशनल समझें, सोशियल् समझें पोलिटिकल् समझें.

(क्या व्यावर्तक गुणोमें (differentia) हि मनुष्यके अस्तित्वका बोध सच्चा है?)

पर इन सभी परिभाषाओंमें एक एनिमल् तो छुपा ही हुआ है. जो कुछ भी हमें निर्धारित करना है वो केवल परसेंटेज् ही तो है. कितना परसेंट् रेशनल् है कितना परसेंट् सोशियल् है, कितना परसेंट् टेक्निकल् है, कितना परसेंट् पोलिटिकल् है और इस सबके बावजूद कितना परसेंट् फिर भी एनिमल् है. ये परसेंटेज तो हमको सोचना ही पड़ेगा क्योंकि परिभाषाकी परिभाषा इस प्रकार दी जाती है कि differentia-cum-genus. तो genus हमारा animality ही हुआ न! और differentia, व्यावर्तक गुण हमारे ये सारे हैं प्रस्तावित. मगर वो एक दृष्टिका विकास है जो पाश्चात्य संस्कृतिमें हुआ है और चलता रहेगा. मैंने एक किताब 'ब्रह्म ब्रह्माण्ड और मनुष्यके अस्तित्त्वकी खोज' में इसका विस्तारसे विवेचन किया है और कहाँ तक वो ले जाती है उसमें मैनें ये बताया है कि आत्महत्याके विविध उपाय जाननेवाला भी कोई प्राणी है तो वह मनुष्य ही है. दूसरा कोई आत्महत्याके इतने अच्छे उपाय नहीं जानता जितना कि मनुष्य जानता है. मगर सबसे बड़ी बात यदि हमें इन परिभाषाओंमें उलझे बिना भारतीय दृष्टिकोणसे यदि

सोचनी है तो सबसे बड़ा एक सवाल यह पैदा होता है कि ये बौद्धिकता, ये सामाजिकता, ये राजनैतिकता या ये तकनीकी उत्कर्ष हमारे अस्तित्वका सारबोध है? क्योंकि किसी दूसरे प्राणीने इतना तकनीकी विकास अभी तक नहीं दिखाया, कमसे कम पृथ्वी पर. किसी अन्य ग्रह पर हो तो आज तक विज्ञान भी निश्चय नहीं कर पा रहा है. गए वो जमाने जब लोग कहते थे कि पृथ्वीको केन्द्रमें रखकर सारी सृष्टि निर्मित हुई है. पृथ्वी सारी सृष्टिका चरमोत्कर्ष है. सृष्टिका चरमोत्कर्ष पृथ्वी नहीं है, शायद पृथ्वीका चरमोत्कर्ष आदमी हो सकता है, यदि ये निर्णय हो जाए कि परसेंटेज वाइज़ उसमें एनिमेलिटी कितनी है.

(वैज्ञानिक दृष्टिसे क्रियाशीलताका उद्गमकेन्द्र 'नीयोकोरटेक्स्')

मैं आपको एक बात बताऊँ शायद आपको बोरियत होगी मगर आपके साथ बांटना चाहता हूँ. आधुनिक विज्ञानके हिसाबसे हमारे मस्तिष्कके भीतर तीन परत है. पहली रेप्टीलियन् कॉम्प्लेक्स् जो सबसे अन्तर्निहित है उसके बाद एक लिम्बिक् सिस्टम् और फिर सबसे ऊपरकी परत नीयो कोरटॅक्स् है. ये बड़ी मजेदार बात है इस विषयमें कि जो रेप्टीलियन् कॉम्प्लेक्स् है, वो चेतनाशील है मगर भावनाशील नहीं है. हमारी चेतनाशीलताका केन्द्र रेप्टीलियन् कॉम्प्लेक्स् है. हमारी भावनाशीलताका केन्द्र उसके उपर एक आवरण नीयो कोरटॅक्स्का है. जैसे उपनिषद्में पंचकोषकी जो धारणा प्रस्तुत की गयी है, अन्नमय प्राणमय मनोमय

विज्ञानमय आनंदमय, एक-दूसरेके ऊपर चढ़े हुये ये आवरण हैं. उसी तरहकी कुछ बात विज्ञानने भी की है कि हमारे मस्तिष्कमें इसी तरहके आवरण विकसित हुये हैं. जो रेप्टीलियन् कॉम्प्लेक्स् है उससे चेतनाशीलता नियंत्रित होती है पर भावनाशीलता नियंत्रित नहीं होती और लिम्बिक् सिस्टम्का आवरण है वहाँसे भावनाशीलता आती है. उस भावनाशीलताके ऊपर तीसरी परत नीयो कोरटॅक्स्में हमारी क्रियाशीलता जिसमें मुख्यत: वो क्रियाएँ जिनको हम अपने आत्म-केन्द्रीयकरण (Ego-Centrism) के कारण अपनी बौद्धिक क्रियाएं अथवा वैचारिक क्रियाशीलता कहते हैं, वो सारी क्रियाएं नियन्त्रित होती है.

ध्यानसे देखें, थोड़ी सी धीरजकी जरूरत है तो ऐसा लगता है के ज्ञान, भक्ति और कर्म के हमारे भीतर प्रकट होनेके ये ही तो तीनों प्रकार हैं, जिसको हम ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग कहते हैं. पुराने दर्शनोमें इसको **'जानाति इच्छति या यतते'** के रूपमें कहा. एक **'जानाति'**का स्तर है, एक **'इच्छति'** और एक **'यतते'** का स्तर है.

('मनुष्य विचारशील प्राणी है'-विचारशील मनुष्यकी अविचारशील परिभाषा)

कई लोग पाश्चात्यदर्शनमें या धर्मदर्शनमें ऐसे समझते थे कि मनुष्यमें ही ये सामर्थ्य है, दूसरे प्राणियोंमें ये सामर्थ्य नहीं है. एक देकार्ते करके चिंतक हुआ है. उसने तो कह दिया कि मनुष्यके अलावा ये सब Automata है, मनुष्य

ही केवल ये सोच सकता है कि 'मैं सोच रहा हूँ' और इसलिए नि:संदिग्ध अस्तित्व केवल मनुष्यका है. पर कहीं न कहीं इन दो तीन शताब्दियोंमें जो कुछ भी प्रयोग हुये हैं, उनसे वो सारी धारणाएँ ध्वस्त हो गयी हैं. कई लोग यों समझाते रहे कि भाषाके कारण विचार है या विचारके कारण भाषा है? क्योंकि हम बोल सकते हैं, वो हमारी विचारशीलताकी सामर्थ्य है. दूसरे पशु बोल नहीं सकते हैं, वो उनकी अविचारशीलताका प्रमाण है. नूतन विज्ञान इन उपरोक्त बातोंके साथ लेशमात्र भी सहमत नहीं है. अच्छे खासे प्रयोग करके ये सिद्ध किया गया है कि बहुत सारे प्राणी अपनी भाषाएं बोलते हैं. उनकी खुदकी भाषाएं हैं. उन भाषाओंको हम नहीं समझ पा रहे हैं, ये हमारी अज्ञानशीलता है कि हम कोई दूसरेकी भाषा नहीं समझ पाते है. हम मनुष्य भी आपसमें एक-दूसरेकी भाषा कहाँ समझते हैं. जैसा मैनें आपको शेर सुनाया

''या रब वो न समझे हैं न समझेंगे मेरी बात,
दे और दिल उनको या दे मुझको जुबां और.''

हम भी आपसमें एक-दूसरेकी बात नहीं समझते हैं. बात नहीं समझते हैं तो क्या हम विचारशील नहीं है? विचारशील तो हैं पर वो व्यवस्था कुछ ऐसी है कि एक-दूसरेसे कम्यूनिकेशन् नहीं हो पाता है. कुछ विचारोंका संप्रेषण नहीं हो पाता है. इसलिए कहीं न कहीं कुछ रुकावट आ जाती है.

इस बारेमें एक बहुत मीठा प्रयोग अमेरिकामें चिंपांज़िओं

पर हुआ. प्रयोग करनेपर वैज्ञानिकोंको ज्ञात हुआ कि उनके पास वोकल् कोर्डकी व्यवस्था ही ऐसी नहीं है कि वो हमारी तरहकी भाषा बोल सकें. इसलिए वो बोल नहीं पाते हैं. इसलिए हमको ये भ्रम हो जाता है कि ये बोल नहीं पा रहे हैं तो शायद ये विचारहीन पशु है. पर उन्होनें प्रयोग करके धीरे-धीरे उनकी कन्डीशनिंग् इस तरहसे विकसित की कि बोल न पायें पर कुछ इशारे अथवा कुछ बटन् ऐसे दबाएं कि उनको क्या चाहिये, जो वो क्या कहना चाहते हैं, वो बात चिंपांज़ि कह सकें. उस प्रयोगके बाद उन चिंपांजीओंने उन सायन्टिस्टोंसे बटन दबा-दबाके बड़ी-बड़ी बात की है. यहाँ तक हुआ कि पाश्चात्य दार्शनिक कहते थे, (शायद 'लोक' ने कहा या शायद किसी औरने मुझे बराबर याद नहीं है पर कहा कि) ''मनुष्यके अलावा कोई और प्राणी अमूर्त चिंतन नहीं कर सकता.'' पर उन्हीं वैज्ञानिकोंने सिद्ध करके बताया कि बहुत सारे प्राणी अमूर्तचिंतन करते हैं और वो प्रयोगसिद्ध बात है इस तरहकी कि उन्होंने उनको समझाया कि ''इसको फल कहते हैं. इसको ऑरेंज् कलर् कहते हैं. इसको एपल् कहते हैं.'' चिंपांज़िको जब नारंगी दी गयी तो उसने कहा ये ऑरेन्ज् एपल् है. अब देखो ये ही दो, विधेय और उद्देश्य का संयोजन ही तो बुद्धिका विचार है न! इसके अलावा क्या है? उद्देश्य-विधेय-भावके अलावा प्रपोज़िशन् क्या है? कोई भी विचारात्मक विधान है, वो किसी उद्देश्यको लेकर किसी चीज़का विधान करना किसी Subject पर, किसी चीज़का Predication करना ही तो

विचार है. चिंपांज़िने ये कहा कि ऑरेन्ज् एपल् है. जब वो वैज्ञानिक उस चिंपांज़िको बार-बार वो प्रयोग करनेके लिए कहता था और वो चिंपांज़ि जब थक गया तो उसने कहा "Oh you dirty man! go away".

क्योंकि जब भी वो चिंपाज़ी कुछ गंदगी करता था तो वो वैज्ञानिक उसको कहता था "Oh you dirty Monkey" तो उस चिंपांज़िको समझमें आ गया कि गुस्सा होने पर 'dirty' कहना चाहिये. तो जब वो उन प्रयोगोंसे थक गया तो उसने कहा "Oh you dirty man! go away. do not disturb me" वो जो बटन थे उसमें 'dirty' का एक बटन था, 'go away' का बटन था. 'come' का बटन था. 'man' का बटन था तो उसने वो दो-तीन बटन दबाए, मतलब मुझे तंग मत करो. बहुत हो गया मेरे ऊपर तुम्हारा प्रयोग. तो अमूर्त चिंतनके बिना कोई भी बंदर ये कैसे सोच सकता है! इसलिए हमको ऐसा लगता है. वो हमारी भाषा नहीं बोल रहा पर अपनी भाषामें तो उसको इस बातका अमूर्त चिंतन है, Subject और Predicate का उद्देश्य-विधेयभाव, जो विचारकी नींव है वो तो उसमें बराबर उसी तरहसे काम कर रही है जैसे मनुष्यमें काम कर रही है.

जब हम ये दावा करते हैं कि Man is rational animal तो इसमें रेशनलिटीके बजाय एक तरहकी इर्रेशनालिटी प्रकट होती है, ऐसा मुझे लगता है. यदि अपनी रेशनालिटीको सबके साथ बांटते हैं, और हमारे वेदोंने

ये बात समझायी है कि भाषा केवल मनुष्यकी भाषा नहीं है, प्रकृतिकी भाषा अलग है, देवभाषा अलग है, पशुभाषा अलग है, पक्षीभाषा अलग है. यास्क कहते हैं कि बहुत सारी भाषाएं हैं. एककी भाषा दूसरा न समझ पाये, ये तो ठीक बात है. जैसे शायद आपको पता हो कि न हो पर जर्मनीकी भाषा रोमन् लोगोंको समझमें नहीं आती थी तो उनको लगता था कि ये बोलते नहीं है कुछ बरबर करते हैं उसीसे 'बार्बेरियन्' शब्द बना. पर भाई! तुम उनकी भाषा नहीं समझ पाते हो इसलिये वो बार्बेरियन् नहीं हैं. हर जगह इस तरह हो जाता है, जब भी हम दूसरेकी भाषा नहीं समझ पाते हैं तो हमको लगता है कि वो व्यक्ति जानवर है, हैवान है. मगर उसकी कोई खुदकी भाषा है. हर प्राणीकी खुदकी भाषा है और उन भाषाओंको समझनेका प्रयास करना चाहिये.

('मनुष्य सामाजिक प्राणी है'–मनुष्यकी आहंकारिक परिभाषा)

प्राचीनकालमें हमारे यहाँ चौंसठ कलाओंमें ये भी बात बतायी है, जैसे भागवतमें ही है कि पशु–पक्षीयोंकी भाषा समझनेकी शिक्षा सांदिपनीने कृष्णको यहीं मध्यप्रदेशके उज्जैनमें ही तो दी थी. कृष्णने भी तो चौंसठ कलाओंमें पशु–पक्षीओंकी भाषा सीखी थी न! होती थी भाषा. हमने कभी ऐसे अपने आपको ऐसा नहीं सोचा कि हम पशु–पक्षीसे इस अर्थमें अलग है कि हम बुद्धिमान है या इस अर्थमें अलग है कि हम सामाजिक है. क्योंकि हम देख सकते हैं कि बहुत सारी सामाजिकता पशु–पक्षियोंमें जितनी

अच्छी सुव्यवस्थित है, उतनी सुव्यवस्थित मनुष्यमें नहीं है. आज तक मैनें कभी नहीं सुना कि किसी पशु–पक्षीने शौकके लिए किसी मनुष्यका शिकार किया हो. मनुष्यने अवश्य अपने शौकके लिए पशु–पक्षीका शिकार किया है. तो कौन ज्यादह सामाजिक है. थोड़े धीरजसे विचारो. भूख लगने पर हर कोई पशु–पक्षी जिस चीज़को खाना है, खाता है. शौकके लिए जैसे कॉस्मेटिक्के लिए कभी शेरने अपने बाल बढ़ानेके लिए मनुष्यकी चर्बी नहीं वापरी. हम अपने बाल बढ़ानेके लिए दूसरोंकी चर्बी वापरते हैं. शेरने अपना ईलाज करवानेके लिए, सांपने अपना जहर बढ़ानेके लिए कभी मनुष्यसे दूध नहीं माँगा. हम अपनी बॅल्ट् बनानेके लिए साँपकी चमड़ी निकालते रहते हैं. जानते नहीं है कि साँप हमारा कितना मित्र है. व्यर्थमें उनको मारते रहते हैं. साँप दीखा नहीं कि 'मारो मारो' शोर मच जाता है चारों ओर. साँप कभी भी मनुष्य दिखने पर 'काटो–काटो' करके पीछे नहीं दौड़ता है. पैर पड़ने पर उसके पास कोई उपाय नहीं है समझनेका कि आपने क्यों पैर रखकर उसकी पूँछ दबाई, इसलिए वो काट लेता है. परंतु मनुष्यके दर्शनके अपराधका दंड इस तरहसे साँप नहीं देता. जैसे सर्प दीखने पर उसके दर्शनके अपराधका दंड हम उसको देते हैं कि मारो इसको, क्यों दीखा ये हमारे शहरमें. अरे भई! आपने उसके जंगल पचा लिए. अब वो शहरमें नहीं आएगा तो कहाँ जाएगा. मगर शहरमें यदि कोई दिख जाय तेंदुआ या कोई और जानवर तो बस

''मारो-मारो, शहरमें आ गया'' यही शोर मचता है. हमारे मुम्बईमें अक्सर अज़गर और चीते कहीं दिख जाते हैं. उनको लोग मारनेके लिए पकड़ लेते हैं. वो आता क्यों है? ये तो आपने नहीं सोचा कि खानेको उसके पास नहीं है. उनके जंगलोंमें अतिक्रमण आपने की है. उसने तो आप पर प्रतिबन्ध लागू नहीं किया कि आप जंगलमें मत आओ. आप उस पर प्रतिबन्ध लागु कर रहे हो कि हमारे शहरमें तुम नहीं आ सकते.

असामाजिक कौन ज्यादह है? हम सिर्फ अपने समाजको समाज सोचते हैं. कभी सारे प्राणीके समाजको समाज सोचके देखो तो सारे प्राणियोंमें ये एक गूढ़ धारणा होगी कि सारी पृथ्वीपर यदि कोई सबसे अधिक असामाजिक है तो वो मनुष्य है. तो मुझे नहीं लगता कि 'सोशियल् एनिमल्' मनुष्यकी परिभाषा किसी विचारके कारण प्रकटी है. वो तो किसी अहंकारके कारण प्रकटी हुयी परिभाषा है.

(प्राणीसमुदायकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्य घोर असामाजिक पशु है)

बुद्धधर्मके एक जर्मन साधु थे, अनागारक लामा गोविंद. बहुत अद्‌भुत साधु थे. राहुल सांकृत्यायन और वो एक साथ तिब्बत गये थे. मैनें उनकी डायरी पढ़ी है. वो लिखते हैं कि ''पहली बार जब मैं लद्दाखसे होकर तिब्बतमें प्रवेश कर रहा था तो थककर किसी पहाड़की चट्टान पर मैं बैठ गया. जैसे ही मैं बैठा, मेरे सारे शरीर

पर आकर चिड़ियाँ बैठ गयीं. मैं रोमाचिंत हो गया कि यहाँकी चिड़ियाँ मनुष्यजाति पर इतना विश्वास कर कैसे रहीं है कि मनुष्यके ऊपर बैठा जा सकता है! मैदानकी चिड़ियाँ तो मनुष्यजाति पर विश्वास करती ही नहीं है. एक दूरीसे यदि मनुष्य पास आ जाय तो वो चिड़िया फुर्र उड़ जाती है.'' उस बात पर वो बौद्ध हो गये, ऐसा उन्होनें लिखा है. जहाँ पक्षी यदि मनुष्य पर इतना विश्वास कर सकता है तो वहाँका मनुष्य कितना विश्वसनीय होगा. बहुत बड़ी बात कही उन्होनें. वो उनकी यात्राका ऐसा मोड़ था जहाँ उन्होनें निश्चित किया कि ''अब मुझे बौद्ध होना है.'' मुझे ये बात बहुत अच्छी लगी. उस वर्णनको पढ़ें तो अपनेको भी रोमांच होता है कि चिड़ियाँ सचमुचमें मुझपे इतना विश्वास करे कि मैं उसे मारूँगा नहीं. वो विश्वासका कितना मीठा भाव है! अविश्वासका भाव कितना जहरीला भाव है ये हम नहीं सोचते. पशु-पक्षीयोंको हम पर विश्वास है. आप शायद नेशनल् जियोग्रोफी की चॅनल् देखते हों तो उसमें अक्सर वो दिखाते हैं कि मगरमच्छ जैसा मांसाहारी प्राणी जब कोई माँसाहार करता है तो उसके दाँतोंमें माँस फँस जाता है. और मगरमच्छके पास इतने सारे दाँत हैं पर उस फँसे हुये माँसको निकालनेकी कोई सुविधा उपलब्ध नहीं है. वो एक चतुराई वापरता है कि मुँह खोलके लेट जाता है. चिड़ियाको वो दिखलाई देता है कि उसके दाँतोंमें माँस फँसा है और वो उन टुकड़ोंको उसके दाँतोंमेंसे निकालती है और मगरमच्छ इतना सामाजिक है कि उस चिड़ियाको वो कभी नहीं

खाता. हम उस चिड़ियाको भी खा जाते हैं कि हाथ आयी है उसे मत छोड़ो. हमने परिभाषा गढ़ी है कि मनुष्य सामाजिक पशु है. यदि अपने अहंकारकी दृष्टिसे मनुष्यजातिके बारेमें सोचें तो मनुष्य होगा सामाजिक पशु पर सारे प्राणीसमुदायकी दृष्टिसे आप सोचिये तो मनुष्य घोर असामाजिक पशु है. और उस असामाजिक पशुमें जो उसका विकृत मनोभाव है ये है कि जो थोड़ासा नीयो कोर्टेक्स् विकसित हुआ, वो दूसरे प्राणियोंको नहीं विकसित हुआ, उसका इतना दुरुपयोग!!!

एक बात ध्यानसे समझो कि इन परिभाषाओंमें भारतीय प्रज्ञाने कभी उलझना नहीं चाहा. क्योंकि भारतीय प्रज्ञाकी दृष्टिसे यदि हम विचार करें तो जिसको ये बौद्धिकता या सामाजिकता या राजनीतिज्ञता या तकनीकी, ये सारे जो व्यावर्तक विशेष गुण है उसके, तो ये दार्शनिक विकाससे ये प्रश्न उठता है कि क्या ये स्वभाव है, प्रभाव है, प्रतिक्रिया है मनुष्यकी अपने पर्यावरणके प्रति, या उसका सामर्थ्य है, या उसको दिया गया वरदान है! कुछ किताबें तो यहाँ तक कहती हैं कि ये भगवान्का दिया गया वरदान नहीं, ये अभिशाप है. एपल् खानेसे हमको ये अभिशाप मिला है कि तुम बुद्धिमान होओगे. पता नहीं ये संदेश है कि ये अभिशाप है कि वरदान है? इस अर्थमें तो ये बात मुझे सच लगती है कि यदि हम इतने असामाजिक हैं, अहंकारी हैं तो ये तो अभिशाप ही है, वरदान नहीं है.

(भारतीय प्रज्ञाकी विशेषता–शापका भी सदुपयोग)

वरना औसतन हमारी समझ ऐसी है कि भगवान् जो

भी कुछ देता है **''शापोऽनुग्रह एव च''** (भाग.पुरा. ६।१७।२९) भगवान्ने जो कुछ भी हमें दिया, वो तो अनुग्रहके रूपमें दिया है, शापके रूपमें नहीं. पर यदि हम इसका दुरुपयोग करते हैं तो वो वरदान भी शाप हो जाता है और यदि शाप भी दिया है और उसका सदुपयोग करें तो वो वरदान हो जाता है. हमारे पुराण इस प्रकारकी कथाओंसे भरे पड़े हें कि बहुत सारे शापोंसे भगवान् भी अवतीर्ण हुए हैं बहुत सारे ऋषि भी अवतीर्ण हुए हैं, देव अवतीर्ण हुए हैं और उन शापोंका सदुपयोग किया. शापोंका सदुपयोग करनेसे शाप भी वरदान हो जाता है और वरदानोंके दुरुपयोगसे वरदान भी शापतुल्य हो जाता है.

ये सारा विचारभार यहाँ आकर टिकता है कि चाहे ये बौद्धिकता शाप हो, ये सामाजिकता, ये विचारशीलता, ये वैज्ञानिकता हमारी चाहे शाप हो या वरदान हो, प्रश्न इस बातका नहीं है. प्रश्न इस बातका है कि हमको इसका सदुपयोग करना है, दुरुपयोग करना है या अनुपयोग करना है. सारी बात आकर टिकती यहाँ है कि इसका उपयोग किस प्रकारसे करना है. एक बार हमको उपयोग पता चल जाए तो हर चीज़का सदुपयोग हो सकता है.

अमेरिकाके नासाके साइंटिस्ट् कार्ल सॅगान् हुए हैं. वो एक बहुत अच्छी बात कहते हैं कि ''हर दोस्तीके लिए उठा हुआ पंजा, वो जानवरके वक्तसे नोंचनें खाने के लिए उठा हुआ पंजा जैसा ही है.'' इन दोनों उठे हुए पंजोंमें कोई विशेष अंतर नहीं है सिवाय उसके भाव और उपयोग के. जब हमको दोस्त मिलता है तब भी हम हाथ उठाते

हैं, दुश्मन मिलता है तब भी हम हाथ उठाते हैं. जब दोस्त मिलता है तब भी मुँह फाड़ते हैं और जब दुश्मन मिलता है तब भी दाँत किटकिटाते हैं. कार्ल सॅगान्ने यहाँ तक भी ये बात कही है कि यदि हम किसीको काट रहे हैं तो काटना भी हिंसा और स्नेह दोनोंके लिए हो सकता है. हमारे यहाँके रसशास्त्रमें तो दशन प्रेमके लिए माना गया है. तो ये दशन प्रेमके लिए और हननके लिए भी हो सकता है. इसमें एक बात समझनेकी है कि इसमें भाषा और गुण क्या प्रकट हो रहे हैं, प्रश्न ये नहीं है. प्रश्न ये है कि किस उपयोगके लिए प्रकट हो रहे हैं. ये एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है. तो चाहे हमको कोई चीज़ शापके रूपमें मिली हो या वरदानके रूपमें. जैसे ये पृथ्वी हमको मिली है तो कुछ लोग इसको शापके रूपमें मानते हैं कि हमारे आदमने भगवान्की अवज्ञा की और उसके शापके रूपमें हमको इस पृथ्वी पर पड़ना पड़ा. हम इसको ‘‘**विष्णुपत्नि! नमस्तुभ्यं पर्वतस्तनमण्डिते**’’ कह कर स्वयंको हम विष्णु और उसकी पत्नी वसुन्धराके संयोगसे जनित मानकर विष्णुसे अपना जन्म मानते हैं. हम इसको शाप न मानकर वरदान मानते हैं. ‘‘**माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या:**’’ मतलब पृथ्वी मेरी माँ है. अब कुछ लोग हमको पैगान मानते हों तो ठीक है. उनकी रेशनालिटी है कि हमको पैगान मानें तो ठीक है उसमें घबरानेकी कोई बात नहीं है. पर सच बात इसमें कुछ और है.

अभी मैनें कुछ दिन पहले एक पादरीकी डायरी पढ़ी. जैसे अपने शरदबाबा बच्चोंको पावर् पोइन्ट् प्रेज़ेन्टेशन्

दिखाते हैं न! ऐसे ही वो पादरी सब धर्मोका प्रेज़ेन्टेशन् कर रहे थे. पूरा होनेके बाद उन्होनें बच्चोंसे पूछा ‘‘बोलो बच्चो तुम्हें पैगानिज़म्के बारेमें क्या लगता है?’’ एक छोटी बच्चीने खड़े होकर कहा कि ‘‘पैगानिज़म् ऐसा धर्म है जो किसीको मारता नहीं है, जो किसीको काटता नहीं है, जो किसीके साथ स्पर्धा नहीं करता है केवल शांतिसे जीना चाहता है.’’ उन पादरीने अपने प्रेजेन्टेशन्का स्विच् ऑफ् कर दिया. पादरी उनको पढ़ाना चाहते थे कि पैगानिज़म जंगली लोगोंका होता है. बच्चीपर प्रभाव उल्टा पड़ गया. ‘पैगानिज़म्’ मतलब प्रकृतिपूजनवाद, माने पहाड़को पूजना, पेड़को पूजना, नदीको पूजना, जो कि हम लोग करते हैं. क्योंकि हम प्रत्येक स्थलपर, प्रत्येक वस्तुको परमात्माकी आकृति मानते हैं. महाप्रभु वल्लभाचार्य एक बहुत मधुर बात कहते हैं कि सब जगह ब्रह्म व्याप्त है तो मूर्तिमें विशेषता क्या है? क्यों मूर्ति पूजते हो? महाप्रभु कहते हैं, ‘‘ठीक है कि सब जगह ब्रह्म मौजूद है पर उसको सब जगह हम पसन्द नहीं कर सकते हैं. ये हमारे दिलकी लाचारी है. जो आकार आपको पसन्द आ जाय, परमात्मा तो वहाँ पहलेसे मौजूद है, पर आकारको पसन्द करके आप उस परमात्माकी शुद्धि कर रहे हो.’’ ये आकार तेरा मुझको पूजनेके लिए पसन्द आ गया. जैसे गंगा तो गंगोत्रीसे लेकर गंगासागर तक बह रही है, पर तीर्थ और घाट तो आपको पसन्द करना पड़ेगा कि किस घाटपर आपको गंगास्नान करना है. गंगा बदलती नहीं है पर तीर्थ और घाट आपको चुनना है कि हरिद्वारमें स्नान करना है

कि हृषिकेशमें करना है कि बनारसमें करना है, कि प्रयागमें करना है. गंगा हर जगह समान रूपसे मौजूद है. इसी तरह परमात्मा तो सब जगह मौजूद है, आकार आप चुनो. आप उसकी भक्तिसे शुद्धि कर रहे हो और जिस आकारकी आप भक्तिसे शुद्धि कर रहे हो, उस आकारके माध्यमसे परमात्मा आपके ऊपर कृपा करके आपको शुद्ध करेगा. **''जीवात्मा मे शुद्ध्यन्ताम्, परमात्मा मे शुद्ध्यन्ताम्''** विरजा होमका जो मुख्य मंत्र है वो परस्पर विशुद्धीकरणका मंत्र है कि परमात्मा हमको शुद्ध कर सकता है और हम परमात्माको शुद्ध कर सकते हैं पर परस्पर एक-दूसरेके सदुपयोगसे. परमात्माका भी दुरुपयोग हो सकता है और जीवात्माका भी जितना दुरुपयोग इन कुछ वर्षोमें धर्मके लिए हुआ है उतना शायद किसी और कामके लिए नहीं हुआ.

ये जो मैं कार्ल सॅगान्की बात कर रहा था, उसने बड़ी मजेदार बात कही है कि ''कितना परसेन्ट चिंपांज़िको बुद्धिमान बनना पड़े कि जब पादरी लोग उसे क्रिश्चिआनिटी में कन्वर्ट् करना चाहेंगे?'' क्योंकि उनके यहाँ सिद्धांत है कि केवल बुद्धिमानोंको ही कन्वर्ट् किया जाता है, पशुओंको कन्वर्ट नहीं किया जाता. कार्ल सॅगान् कहता है कि ''इस प्रयोगके बाद ये तो पता चल गया कि बुद्धि तो चिंपांज़िमें भी है, भाषा भी वो बोलता है. मनुष्यकी बहुत सारी विशेषताएँ तो चिंपांज़िमें हैं ही.'' ये सब तो १५-२० वर्ष पुराने प्रयोगोंकी मैं आपसे बात कर रहा हूँ.

नये प्रयोगोंमें तो यहाँ तक सिद्ध हुआ है कि मैंढककी जातियोंकी अलग-अलग भाषाएँ हैं और वो मैंढक जिस भाषामें अपनी मैंढकीको बुलाता है, वो केवल उसी जातिकी मैंढकीको समझमें आती है दूसरी मैंढकीको समझमें नहीं आती और कोई दूसरा मैंढक उसके पास नहीं जाता है. मेरी बात आपको समझमें आ रही है न? जैसे हम हिन्दीमें 'आओ' कहते हैं, किसी और भाषामें 'आवजो' कहते हैं, किसी और भाषामें कुछ और कहते होंगे. दूसरी भाषामें कोई कुछ कहता रहे तो समझमें नहीं आता. नहीं समझमें आये तो वो भाषाका अथवा भावका दोष तो नहीं है न! वो तो व्यक्तिविशेषके उस भाषाके ज्ञानकी न्यूनता है. जब मैंढकोंके ही इतने भाषाओंके प्रभेद हैं. गुजरातमें एक कहावत है कि ''बार गाँमे बोली बदलाय'' मतलब बारह गाँवोंके बाद बोली बदल जाती है. अपनी बदलती है तो हमको अहंकार होता है. अरे भई! मैंढककी हर प्रजातिमें भी वो बदल जाती है. भाषा तो वहाँ भी है. इस बात पर कार्ल सॅगान् कहता है कि ''और आपको कितना प्रमाण चाहिये इन पशु-पक्षियोंको क्रिश्चिआनिटीमें कन्वर्ट करनेके लिए मुझे बताओ.''

क्योंकि अभी तो आप मनुष्योंको कन्वर्ट् करनेके लिए झगड़ा कर रहे हो फिर तो इनको कन्वर्ट करनेके लिये भी आप झगड़ा करो. इनको मारो खाओ मत. इनको भी क्रिश्चिआनिटीमें कन्वर्ट् कर दो. इनको भी अपना भाई मानो क्योंकि भगवान् तो सबका पिता है तो क्या इन जानवरोंका

पिता नहीं है वो क्या? यदि वो सबका पिता है तो वो इन जानवरोंका भी पिता है तो आप क्यों इनको कन्वर्ट करना नहीं चाहते!

ये बात ध्यानसे समझोके चाहे शाप हो अथवा वरदान हो, जो मनुष्यकी विशेषताएँ हैं, उसके दृष्टिकोण अलग-अलग हो सकते हैं, विधानात्मक या निषेधात्मक. हमारी निषेधात्मक वृत्तियोंसे वो हमको दुर्गुण लगेंगे और हमारी विधानात्मक वृत्तियोंसे वो हमको सद्गुण भी लग सकते हैं. प्रश्न इसका नहीं है कि वो सद्गुण है या दुर्गुण है. प्रश्न इसका है कि उसका सदुपयोग हमें करना है, दुरुपयोग करना है या अनुपयोग करना है!

(मनुष्यकी परिभाषा man is a rational social political technnological या religious animal के अर्थमें नहीं की जा सकती)

मूल अपना विषय है धर्म अर्थ काम मोक्ष और जैसे अपनने भक्तिको भी पंचम पुरुषार्थके रूपमें स्वीकार किया है, इन सब पुरुषार्थोका समायोजन यानि मेनेजमेन्ट् करना 'पुरुषार्थ' कहलाता है और हमारे शास्त्र मनुष्यकी परिभाषा इस पुरुषार्थके रूपमें करना चाहते हैं. man is a rational animal, social animal, political animal या technological animal इस अर्थमें नहीं.

यूरोपीय संस्कृतिमें मनुष्यकी अनेक परिभाषा प्रस्तुत की गयी है; रेशनल् एनिमल्, सोशियल् एनिमल्, पोलिटिकल्

एनिमल्, टेक्नोलोजीकल् एनिमल् अथवा रिलीजियस् एनिमल् भी. पश्चिमी चिन्तनमें प्रस्तावित ऐसी कई तरहकी परिभाषाओंमें सावधानतया समझने लायक तथ्य यही है कि रेशनालिटी पोलिटिक्स् टेक्नोलोजी या रिलीजियन् मनुष्येतर प्राणीओंमें भी न्यूनाधिक मात्रामें सम्भव नहीं हो तब भी इन्हें एनिमलिटीके अन्तर्भूत इतरव्यावर्तक गुणके रूपमें मान्य रख कर अन्य प्राणीओंसे मनुष्यका पृथक्करण माना गया है. इनमेंके सभी इतरव्यावर्तक गुणधर्मोंका मूल, दिनानुदिन विकसित हो रहे जेनेटिक्स् विज्ञान अर्थात् सूक्ष्मजीवकोशीय आनुवंशिकता शास्त्रके अनुसार, मनुष्येतर प्राणिओंमें भी अविकसित या अर्धविकसित अवस्थाओंमें उपलब्ध होते स्वीकारे गये हैं. अत: इन मनुष्येतर प्राणिओंको व्यावर्तनीय मानने के बजाय मानवरूपके विकासकी साधक पूर्वकड़ियोंके रूपमें मान्य करना ही उचित लगता है.

अतएव विचारशीलता सामाजिकता या धर्मशीलता जैसे गुणधर्म भी मनुष्य प्राणीमें किसी विकासशृंखलाकी एक विकसित कड़ी मात्र सिद्ध होती है. इन विशेषताओंका प्रकृत स्वरूपसे पूर्वजात रूप और उत्तरभावी रूप भी सोचे-विचारे जा सकते हैं. अत: मनुष्यके स्वरूपकी तरह उसके गुणधर्म भी एक लंबी विकासशृंखलाकी मध्यपाती कड़ी मात्र सिद्ध होते हैं. ऐसी मध्यपाती कड़ी अपनी पिछली या अगली कड़ियोंकी व्यावर्तक, पृथक होनेके कारण बनना चाहती हो तो, आत्मव्यावर्तक ही बन जायेगी. क्योंकि पिछली कड़ियोंमें विकसित होनेके बाद ही वह आत्मलाभ कर पाती

है. ऐसी स्थितिमें मध्यपाती कड़ीको स्थायिगुण नहीं माना जा सकता. अत: विकासशृंखलाकी अस्थायी अवस्थासे अधिक कोई महत्त्व उसका हो नहीं सकता.

धर्मशीलता रूपी मानवीय विशेषता यद्यपि धर्मके सनातन आदर्शोंपर अवलंबित होना चाहती है परन्तु भारतीय आर्ष प्रज्ञाने धर्मकी सनातनताका दावा देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मकी विविधतासे निरपेक्ष हो कर नहीं स्वीकारा. धर्मके छ अंगोके समुदित आधारपर अनैकान्तिक सापेक्षताके साथ ही धर्मकी परिकल्पना हो सकती है **''षड्भि: सम्पद्यते धर्म:''** (त.दी.नि.२।२१४) अर्थात् कोई धर्म किसी विशेष कर्ताके अधिकारानुसार किसी देशविशेषमें किसी कालविशेषमें किसी द्रव्यविशेषके हानोपादानादिके वश धर्म हो सकता है. वही धर्म किसी दूसरी तरहके अधिकारवाले कर्ताके लिये या किसी अन्य देश या काल में अथवा तो अन्य किसी द्रव्य या मन्त्र के साथ अनुष्ठित होनेपर अधर्म भी हो सकता है. अतएव देशभेद कालभेद द्रव्यभेद कर्तृभेद मन्त्रभेद या कर्मभेद के कारण धर्मकी अनैकान्तिक विविधता आर्ष धर्मोंका प्रमुख स्वरूप है. यही उस आर्ष धर्मकी सनातनताका भी प्रमुख हेतु बन जाता है.

अतएव किसी कर्मके धर्म होनेके निर्धारक श्रुति-स्मृति-सदाचार-स्वप्रियता के चतुर्विध निकष उसे त्रिकालवर्ती बना देते हैं. महर्षि यास्क अतएव कहते हैं **''मनुष्या: ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् 'को ऋषि: भविष्यति?' इति. तेभ्य**

एतं तर्कम् ऋषिं प्रायच्छन्. मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहो...तस्मात् यदेव किञ्च अनूचानो अभ्यूहति आर्षं ह तद् भवति'' (निरु.निघ. १३।१।१२) अत: मन्त्रद्रष्टा ऋषिओंकी अविद्यमानतामें भी मन्त्रविदों द्वारा की गयी अर्थमीमांसा आर्षतुल्य या आर्ष ही मानी गयी है, उसके कर्ताके अऋषि होनेपर भी. मनुस्मृतिकार भी अतएव यही कहते हैं **''आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना य: तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतर:''** (मनुस्मृ.१२।१०६) अतएव भगवद्गीताके उपदेशके समापनमें निजाभ्यूह या स्वक्रियता के आदर्शके निर्वाहार्थ ही **''विमृश्य एतद् अशेषेण यथा इच्छसि तथा कुरु''** (भग.गीता.१८।६३) भगवान्ने अर्जुनको कहा.

इस दृष्टिकोणको लक्ष्यमें रखनेपर वर्तमानमें बहुसंख्यक भारतीयविद्याविद् (इन्डोलोजिस्ट्) जो एक निरन्तर ऊहापोह करते रहनेकी अकाण्डताण्डव मानसिकतासे ग्रस्त हो गये हैं कि ब्राह्मणधर्ममें कौनसी धर्मसाधनाका स्वरूप वैदिक संहिता या पौराणिक संहिता में मूलमें था या नहीं? कौनसे देवताका उल्लेख वेदकी संहितामें नहीं था परन्तु पश्चात् आरण्यक उपनिषद् या स्मृति-पुराणोंमें जोड़ा गया! आदि-आदि. ये सब कथञ्चित् परम्परागत धर्मास्थाको शिथिल बनानेके प्रयोजनसे ही की जाती हैं. वे, परन्तु महर्षि यास्ककी तर्करूपी ऋषिकी मौलिक धारणासे अपरिचित होनेके 'प्रमाण' हैं. क्योंकि नूतन धारणाका भी किसी मन्त्रके अर्थतया अभ्यूह किया गया हो तो उसे आर्ष ही माननेकी स्वयं ऋषिगणोंकी अनुज्ञाकी यह अवहेलना है!

सूर्यके पिण्डकी संरचनामें वायु-जल-पृथ्वी तत्त्व उपलब्ध नहीं होते. एतावता इन तत्त्वोंसे प्रकट होनेवाली जीवसृष्टिका मूलकारण सौर द्रव्य नहीं था ऐसे कैसे सोचा जा सकता है? क्या पृथ्वीपर जीवसृष्टिके प्राकट्यको आकस्मिक संघात मान लेना? अथवा जीवचेतनाको स्वयं क्या भ्रान्ति मान लेना उचित हो सकता है? क्योंकि भ्रान्तिके लिये चेतना अपेक्षित हैं और चेतनाकी भ्रान्ति घटित होनेकी भी एक चेतना और उसके भ्रान्तिघटित होने पर दूसरी चेतना यों अन्योन्याश्रय दोषसे ग्रस्त कल्पना लगती है!

अतएव आर्षधर्म किसी एक व्यक्ति या एक धर्मग्रन्थ या किसी एक कालखण्डमें प्रकटी अन्त:स्फुरण या दैवी स्फुरणा का मोहताज नहीं. कालके भूत वर्तमान भावि तीनों आयामों का न केवल सहिष्णु अपितु तीनों आयामोंमें स्थास्नु (टिके रहनेवाला) धर्म माना गया है. पुनश्च कौनसे कर्मको धर्म मानना यह देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्रके प्रभेदवश एकान्तिक होनेके रूपमें नहीं प्रत्युत अनैकान्तिकधर्म होनेकी गरिमा धारण करता है. अत: कोई भी धर्म देश आदि छह अंगोका सापेक्ष होनेके कारण कभी निरपवादतया सर्वग्राह्य (सर्वग्रासी) माना नहीं गया है.

अपने-अपने आद्यप्रवर्तकोंके बारेमें एकान्तिक धर्मवादिओंद्वारा दिया जाता निकष कि वे सर्वज्ञ थे या रागद्वेषमोहरहित थे अथवा तो परमेश्वरके साक्षात् या अन्त:स्फुरित आदेशोंके वाहक होनेके कारण उनके उपदेश

सर्वदेश-काल-कर्ताओंको लक्ष्यमें रख कर प्रकट हुवे हैं. यह विचारणीय मुद्दा बन जाता है, क्योंकि उन ऐसे धर्मप्रवर्तकोंके अनुगामी प्रचारकोंद्वारा संकलित उपदेश वस्तुत: उन धर्मप्रवर्तकोंके हों तब भी संकलनकर्ताओं और उनमें श्रद्धाशील अनुसरणकर्ता तो अल्पज्ञ या असर्वज्ञ राग-द्वेष-मोहग्रस्त और परमेश्वरके साक्षात् या आन्तरिक सम्पर्कसे तो रहित ही होते हैं. अत: इनके वचनोंके प्रामाण्यवश आद्यप्रवर्तकोंको दिव्यश्लाघ्य विशेषताओंसे मण्डित माननेपर उनके जैसे असर्वज्ञ या अल्पज्ञ रागद्वेषमोहग्रस्त व्यक्तिओंकी भी अवधारणाओका प्रामाण्य सन्देहातीत होना चाहिये था!

दूरदर्शन आन्तरदर्शन इन्द्रियातीतदर्शन परमनोभावदर्शन सूक्ष्मपदार्थदर्शन देश-काल-व्यवहित पदार्थोंका दर्शन या ज्ञान आदि अनेकविध निकष, अलौकिक सर्वज्ञता या परमेश्वरसम्पर्क के अकाट्य प्रमाण माने जाते हैं, परन्तु आधुनिक टेलीस्कोप् माइक्रोस्कोप् राडार् टेलीविज़न् एम.आर.आई. सोनोग्राफी आदि जैसे वैज्ञानिक उपकरणोंकी खोजके बाद परमेश्वरसे जुडे या सर्वज्ञ सिद्धोंकी एकाधिकारवाली सिद्धियां वर्तमानमें अल्पज्ञ रागद्वेषमोहग्रस्त अनीश्वरवादी व्यक्तिओंके लिये सुलभ हैं ही.

अत: इन निकषोंके आधारपर भी किसी व्यक्ति मसीहा या अवतारी पुरुषके द्वारा उपदिष्ट धर्मकी एकान्तिक सर्वग्राह्यता अथवा सर्वदेशकालवर्ती सर्वपुराणोंके हेतु अपरिहार्य सिद्ध हो नहीं पाते.

एक रोचक तथ्य यह भी है कि धार्मिक आदर्श या सिद्धान्तोंके प्रचार-प्रसारार्थ ऐसे एकान्तिक धर्मवादी उपदेशकोंको, वर्तमानकालमें इन वैज्ञानिक उपकरणोंपर निर्भर होना, यह एक ध्रुव नियतिसी लगती है.

जबकि इन उपकरणोंके निर्माणार्थ या उपयोगार्थ किसी भी वैज्ञानिक या साधारणजन को अपने धर्मपर निर्भर होना आवश्यक नहीं रह गया!

न केवल इतना अपितु स्वयंके धार्मिक आदर्शोमें संन्निष्ठ हो कर धर्मके प्रचार-प्रसारमें निरत भी उपदेशकोंके कई बार अपने श्रद्धागृहीत धर्मके आदर्शोंसे विपरीताचरण मानवीय दुर्बलतावश प्रकट हो ही जाते हैं!

ऐसी स्थितिमें ''मनुष्य एक धार्मिक प्राणी या पशु है'' परिभाषाकी चौखटमें यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि इस व्यावर्तक धार्मिकताका उसकी प्राणिता या पशुता के साथ तुलनात्मक अनुपात क्या है? कितनी प्रतिशत धार्मिकता होती है और कितनी प्रतिशत पशुता!

आदमीयत इक था सवाब हज़रते आदमके सबब
इब्लिसकी विरासतसे वारिस इन्सान ही न रह गये!
मक्सदे दीनों-ईमां था इंसान बनानेका खुलूस
आदमी दीनोंखुदाको शेतां बनाके बच गये!

आपको शायद ये बात जो समझाई वो कठिन लगी

होगी. उसको और सरल करनेका प्रयास करुंगा. जहां तक मनुष्य विचारशील सामाजिक या तकनिकी का प्रयोग करनेवाले पशु होनेकी परिभाषा है वो आपको मैंने पूर्वमें विस्तारसे समझाई अब मनुष्यके धार्मिक पशु होनेकी परिभाषाके लिये और विचार करें.

कई धर्म मनुष्यकी परिभाषामें ये व्यक्तित्व भी स्वीकारते हैं कि man is a religious animal. क्योंकि धर्म जैसी विशेषता हमको दूसरे प्राणियोंमें अनुभूत नहीं होती कि वो कोई धर्म कर रहे हैं. अब सवाल ये पैदा होता है कि वो कौनसा धर्म नहीं कर रहे हैं. आप कहेंगे कि वो हमारी तरह किसी मूर्ति पर फूल नहीं चढ़ा रहे हैं, किसी भगवान्के भजन नहीं गा रहे हैं. किसी भगवान्की परिक्रमा नहीं कर रहे हैं. किसी मुसलमानसे पूछोगे तो वो कहेगा कि हज नहीं जाते हैं, रोजा नहीं रखते हैं, नमाज नहीं पढ़ते हैं. अब सवाल ये है कि आप भी तो किसी दूसरेके धर्मका आचरण नहीं कर रहे हो. वो भी आपके धर्मका आचरण नहीं कर रहा है. आप यदि क्रिश्चन् नहीं हो तो चर्चमें आप हर रविवारको नहीं जा रहे हैं. कन्फेशन् नहीं कर रहे हैं, बेप्टिइज़्ड् नहीं हो रहे हैं, प्रेयर् नहीं कर रहे हैं. उनके यहाँ धर्मका वो रूप है. हर धर्मके बहुत सारे रूप हैं. सरदारजीके वहां अपन जायें तो गुरुग्रंथकी वाणीको गाना वो धर्म है. गुरुग्रंथसाहबकी सेवा भी करते हैं जैसे पुष्टिमार्गीय करते हैं, वो भी धर्म है. किन्हीं लोगोंके यहाँ भूखे रहना, तप करना वगैरह धर्म है.

किसी एक धर्मके रूपको कोई दूसरा समुदाय तो पाल नहीं रहा है. फिर भी क्योंकि हम मानव हैं और हमने ऐसे मान लिया कि इतने सारे विभिन्न रूप धर्मके हो सकते हैं. पर ये मानवीय अहंकार हमको ये समझाता है कि बस मानवसमुदाय जितने विविध स्वरूपोंमें धर्मका अनुकरण कर रहा है वो तो धर्म है और दूसरे जो कर रहे हैं वो धर्म नहीं है. अरे हमको क्या पता? चिड़ियाँ या मुर्गा सुबह जो बोल रहा है, कोयल जो वसन्तमें कूक रही है, बरसातमें जो मोर कुहुकता है, वो प्रार्थना कर रहा है कि अपनी प्रेयसीको बुला रहा है, मादाको बुला रहा है, ये हमको क्या पता? चर्चमें थैंक्स् गिविंग् होती है. क्यों ऐसा नहीं हो सकता है कि बादल गरजने पर जब मोर बोलता है वो धन्यवाद दे रहा हो परमात्माको! मगर हमारा जो धर्मका रूप है उस रूपमें वो धर्म नहीं कर रहा है और हमने अपने मानवीय अहंकारके तहत ऐसा मान लिया कि मानव करे वो तो धर्म और दूसरा करे वो धर्म नहीं.

मैं एक बात बताऊँ आपको. शायद आपने भी पढ़ा होगा कि एटलांटिक् महासागरमें अमेरिकाके किनारे एक बच्चा डूब रहा था. डॉल्फिन् वहाँ तैर रही थी तो उसने उस बच्चेको उठाकर किनारे पर रख दिया. डॉल्फिन्को मनुष्यके बच्चेमें स्नेह था कि धर्मभाव था कि डूबनेवालेको बचाना चाहिये या लाइफ् सेविंग् बोट् थी वो? क्या उसको अहं ब्रह्मास्मिका बोध हो गया? क्या फीलिंग्स थी उस डॉल्फिन्को? हम उसे कैसे समझें? उसने धर्मभावसे उस

बच्चेको बचाया? हम सोचते हैं कि हमारे बच्चेको डॉल्फिन्ने बचाया, बड़ी दयालु है. खा जाती तो समझते कि वो बड़ी क्रूर है. अरे भई आप भी तो मछली खा जाते हो कि नहीं? गेहूँ तो आप भी खा जाते हो कि नहीं? आप यदि गेहूँ खाते हो और आप उसको धर्म मानते हो क्योंकि **''अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्''** (तैत्ति.उप. ३।२) हम हमारा जो खाना खाते हैं उसको समझते हैं कि वो ठीक है. दूसरा कोई हमें खाना मान कर खाता है तो उसे हम नृशंस समझते हैं. वो किसी दूसरेको खाये तो हमें आपत्ति नहीं है पर हमें खाये तो हमें आपत्ति लगती है. मानवीय अहंकार हमको कितना संकीर्ण बनाता है, इसका ये उदाहरण है. शेर बकरीको खाये तो हमें क्रूरता नहीं लगती पर हमें यदि वो खाने आये तो हमें बड़ी क्रूरता लगती है. पर यदि शेर आपको नहीं खाये तो वो क्या दया कर रहा है कि धर्म कर रहा है? हम अपने मानवीय अहंकारसे ऐसा सोचते हैं कि शायद शेरको आदमीका खून अभी तक नहीं मिला तो शायद उसका अभी उसमें स्वाद जाग्रत नहीं हुआ है. जैसे उत्तर भारतमें रहनेवालोंको पहले इडली डोसा का स्वाद जाग्रत नहीं हुआ था तो वो नहीं खाते थे. अब चारों ओर उड़ीपी रेस्टोरेंट् खुल गये तो वो स्वाद जाग्रत हो गया, वो भी खाने लग गये. दाल-बाटी-चूरमाका टेस्ट साऊथमें जाग्रत नहीं हुआ है तो वो वहाँ खाते ही नहीं है. अपन समझते है कि शायद शेरको मनुष्यका स्वाद जाग्रत नहीं हुआ है. जब स्वाद

जाग्रत हो जायगा तो वो खा लेंगे. अब ये नक्की करो कि मनुष्यको खाना उसका धर्म है कि अधर्म है.

(भारतीय आर्षदृष्टिसे मनुष्यकी परिभाषा : धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन)

इस संदर्भमें जो हमारा आर्षचिन्तन है उसकी एक बड़ी सुपरिभाषित धारणा रही है और वो धारणा स्वस्तिक धारणा है. स्वस्तिकको हम स्वस्तिक क्यों कहते हैं? **''सुअस्ति करोति इति स्वस्तिक.''** स्वस्तिककी स्वस्तिकता किस अर्थमें है कि उसके जो चारों हाथ हैं वो एक हाथ दूसरे हाथकी तरफ ले जाता है. दूसरा तीसरेकी तरफ, तीसरा चौथेकी तरफ और चौथा फिर पहलेकी तरफ ले जाता है. हर हाथ स्वस्तिकका एक-दूसरेकी तरफ अभिमुख है और वो ही हमारी पुरुषार्थचतुष्टयीकी धारणा है. भारतीय आर्षचिंतन मनुष्यको इस तरहसे नहीं परिभाषित करना चाहता कि ये गुण या अवगुण मनुष्यमें नहीं है, ऐसे भी हम नहीं कहना चाहते हैं. मनुष्यमें होंगे ये गुण या अवगुण पर मनुष्यकी मनुष्यता आर्षचिंतनके हिसाबसे इस तथ्यमें रही हुयी है कि अपने धर्म अर्थ काम मोक्ष का मेनेजमेंट् वो किस तरहसे करता है. If they are well managed, you are a human being and you are behaving like a human being. But if they are mismanaged than you are lacking something in your humanity ये मुख्य बात है, धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन आप कैसे कर रहे हैं? स्वस्तिक समायोजना है उसकी या कोई अन्यथा समायोजना

है. यदि स्वस्तिक समायोजना है तो कहा गया है कि पुरुषार्थ है और इस विषयपर धर्मार्थकाममोक्षकी समायोजना कैसे है, इस बारेमें कैसा कैसा चिंतन हमारे यहाँ प्रकट हुआ है, उसको इन तीन चार दिनोंमें मैं आपके साथ बांटना चाहूँगा.

(समायोजनका प्रथम सूत्र : ''धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः'')

सबसे पहली बात. कुछ शास्त्र वचन यदि आप देखें तो अपनी धारणा इस बारेमें कितनी स्पष्ट थी, ये स्पष्ट हो जायगा. जैसे महर्षि व्यासका एक वचन है **''धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्य, द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं, स उत्तमो यो निरतः त्रिवर्गे''** (महाभा.१२।१६१।३८) धर्म अर्थ काम का अनुपात, उनकी संतुलना, उनका संतुलन आप निभाओ. यदि आप संतुलन नहीं निभा पाते हो, किसी एकमें अनावश्यक रूपसे अत्यधिक आसक्त हो जा रहे हो तो आप मनुष्य होगे पर आप जघन्यकोटिके मनुष्य हो. **''यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्य, द्वयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यम्''**(वही.) यदि एकके बजाय यदि आप दोमें दक्ष हो, दोमें माने धर्म-अर्थमें या धर्म-काममें या अर्थ-काममें दक्ष हो तो आप मध्यम कोटिके हो. **''स उत्तमो यो निरतः त्रिवर्गे''**(वही.) महर्षि व्यास कहते हैं कि **''उसको मैं उत्तम कहता हूँ कि जो त्रिवर्गमें निरत है.''** ये बात प्रवृत्तिधर्मको लेकरके कही गयी है. जैसे प्रवृत्तिधर्म है, ऐसे निवृत्तिधर्म भी है. भारतीय प्रज्ञाकी एक विशेषता रही है कि हमने कभी भी किसी भी धर्मको

अथवा धर्मसंप्रदायके लिए ऐसा ठेका लेनेवाला दृष्टिकोण नहीं रखा कि सारी दुनियाके उद्धारका ठेका केवल इस धर्मका है. गीताको आप उठा कर देख लों तो कर्मषट्क्, ज्ञानषट्क् और भक्तिषट्क् हैं. तंत्र उठाके देख लों तो पंचपर्वाअविद्या है तो पंचपर्वाविद्या भी है और वो है **''वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेऽति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्''** (त.दी.नि.१।४५) ये पंचपर्वाविद्या मानी गयी है.

कहीं भी एक धर्मका सारे मनुष्योंके उद्धारका ठेका है, ऐसी भ्रमणा कमसकम हमको नहीं हुयी, अब चाहे हम रेशनल् (तार्किक) हों कि इर्रेशनल् (अतार्किक) हों, हम पॅगान् (प्रकृतिपूजनवादी) हों कि थीस्टिक् (देवपूजनवादी) हों, कभी भी ऐसी भ्रमणा हमें नहीं सतायी. हमारे मनमें एक दृढ़तर धारणा थी कि धर्म तो **''धर्मो रक्षति रक्षितः''**. जो आपका धर्म है, जिसको आप धारण कर सकते होओ, वो ही आपका धर्म है. जिसको आप धारण नहीं कर सकते वो आपका धर्म नहीं है.

इसका सामान्य उदाहरण आपको बताऊँ तो आपको ख्यालमें आयगा. शास्त्रका स्पष्ट निर्देश है कि ब्रह्मचारी और संन्यासी भीख मांग सकते हैं. वो भिक्षा मांगकर अपना निर्वाह कर सकते हैं. प्राचीनकालमें वर्णाश्रमधर्मके दृष्टिकोणसे शास्त्र ये कहता है कि संन्यास लेनेका अधिकार केवल ब्राह्मणोंको ही था. ये बुद्ध और जैन धर्मोके प्रादुर्भावके बाद ही ब्राह्मणेतर वर्गोने संन्यास धारण किया.

शास्त्रका उसमें एक बहुत गंभीर दृष्टिकोण था कि जो त्रिवर्गमें निरत मानव समुदायका समाज है, उसको संन्यास नहीं लेना चाहिये, उसको प्रवृत्तिधर्म निभाना चाहिये. निवृत्तिधर्म नहीं निभाना चाहिये. यदि उसको निवृत्तिधर्म निभाना भी है तो उसको वानप्रस्थ तककी छूट थी, संन्यासकी छूट नहीं थी. पुराने पुराण जितने भी आप उठाकर देख लो, राजाओंको जब विराग आया तो राजकुमारको राजगद्दी सोंपकर अपनी राजमहिषीके साथ वानप्रस्थ उन्होनें लिया. पुराणकी ऐसी धारणा थी. आज तो सारी बातें ही गड़बड़ा गयी हैं कि कहना मुश्किल है. सब लोग ही संन्यास लेने लग गये. खैर! मगर शास्त्रकी धारणा इस बारेमें एकदम स्पष्ट है कि संन्यासी और ब्रह्मचारी को भिक्षासे ही अपना जीवननिर्वाह करना चाहिये, घरमें रसोई नहीं बनानी चाहिये. अब ये लोग ऐसा समझते हैं कि शास्त्र सारे ब्राह्मणोंके लिखे हुये हैं इसलिए ब्राह्मणोंने अपना पौवा बैठानेके लिए सारे शास्त्रोंमें इस प्रकारका लिखा है. शास्त्र ब्राह्मणके प्रति जितना निष्ठुर है न, उतना निष्ठुर किसीके प्रति नहीं है.

शास्त्र ये स्पष्ट कहता है कि गृहस्थ ब्राह्मण यदि भिक्षा मांगता है तो जिस गाँवसे उसको भिक्षा मिलती है उस गाँवको दंडित करो कि तुमने चोरको आश्रय दिया. गृहस्थ ब्राह्मणको भिक्षा माँगनेकी छूट नहीं थी. शास्त्र ब्राह्मणोंके प्रति अति कठोर है. यदि ब्राह्मणोंने बनाया होता शास्त्र, तो ब्राह्मणोंका आरक्षण होना चाहिये था. पर शास्त्रने

ब्राह्मणोंको बिल्कुल दलितजातिका बना दिया है. केवल इतनी छूट दी है कि गृहस्थ ब्राह्मण यदि तीन दिन भूखा हो तो भीख मांग सकता है. शास्त्र पूछता है अपने आपसे कि ‘‘भई बिना माँगे मिले तो ले सकता है कि नहीं ब्राह्मण?’’ शास्त्र कहता है कि ‘‘नहीं ले सकता.’’ **‘‘प्रतिग्रहं मन्यमानः तपस्तेजोयशोनुदम् अन्याभ्यामेव जीवेत् शिलैर्वा दोषदृक्तयोः’’** (भाग.पुरा.११।१७।४१) ब्राह्मण तो बिना माँगे भी नहीं ले सकता है. अब ये तो निष्ठुरताकी पराकाष्ठा है. आज ब्राह्मण और समाज उस आदर्शको यदि नहीं जीता है, तो वो हमारी रेशनालिटीकी बौद्धिकता है. वो हमारे रेशनल् सोशियल् होनेकी कथा है. पर शास्त्रकी कथा ये नहीं है. शास्त्र तो ये कहता है कि बिना माँगे भी तुम नहीं ले सकते हो. तुम्हारे लिए दो ही वृत्ति मैनें निर्धारित करी है, याजन और अध्यापन. ज्ञानका और सद्धर्मका प्रचार करो और उसकी दक्षिणाके रूपमें जो कुछ तुम्हें मिले वो तुम्हारा है. उसको तुम ले सकते हो, उसको तुम जी सकते हो. एकके बजाय सौ दक्षिणा भी तुम ले सकते हो. रघुके प्रसंगमें आता है कि **‘‘जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ, गुरुप्रदेयाधिकनिः–स्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च’’** (रघुवंश–५।११) तो इतना भी तुम ले सकते हो, मगर अपनी वृत्ति से. अपनी वृत्तिसे तुम जीयो, अवृत्तिसे मत जीयो. शास्त्र यहाँ तक ब्राह्मणको कहता है कि यदि तुम अपनी वृत्तिसे तीन पीढ़ी तक नहीं जीते हो तो तुम ब्राह्मण नहीं हो. इससे ज्यादह

निष्ठुर और क्या बात हो सकती है ब्राह्मणके प्रति! बात यहां खत्म हो जाती तो ब्राह्मणजाति शास्त्रको क्षमा कर सकती थी. इससे आगे बढ़कर शास्त्र तो यह भी घोषित कर देता है कि कैसे कोई स्वधर्मनिष्ठ ब्राह्मण भी अब्राह्मण बन जाता है. **‘‘अब्राह्मणस्तु षट् प्रोक्ता इति शातातपो अब्रवीत् [१]आद्यस्तु राजभृत्यः स्यात् [२]द्वितीयः क्रय विक्रयी [३]तृतीयः बहुयाज्याख्यः [४]चतुर्थो अश्रौतयाजकः [५]पंचमो ग्रामयाजी स्याद् [६]षष्ठो ब्रह्मबन्धुः स्मृतः’’** (ऐ.ब्रा.सा.भा.३।५) के भाष्यमें यह स्पष्टीकरण किया गया है कि याजन और अध्यापन यद्यपि शास्त्रानुमत ब्राह्मणकी आजीविका है फिर भी जीवनार्थ अपेक्षितसे अधिक याजनकर्म करानेवाला बहुयाजी अथवा धनकी अदान्त अभिलाषाके वश योग्यायोग्य यजमानका विचार किये बिना सारे गाँव या नगर जनोंको याजन करानेवाला हम वल्लभसम्प्रदायके गुसांईबालकोके जैसा ग्रामयाजी ब्राह्मण ही नहीं रह जाता तो ऋत्विज गुरु या आचार्य कैसे रह पायेगा?

हमको आज बदनाम किया जा रहा है कि ब्राह्मणोंने शास्त्र लिखे हैं और ब्राह्मणोंने अपना पौवा बैठा दिया है. यदि ब्राह्मणोंने शास्त्र लिखे होते तो ब्राह्मणोंका फेवर् होना चाहिये था कि इस प्रकारकी निष्ठुरता होनी चाहिये थी!

ब्राह्मण जैसा भी हो, मैं भी ब्राह्मण हूँ, बहुत सारे ब्राह्मणोंकी बहोत सारी गड़बड़ी हैं, वो मुझमें भी होंगी पर

प्रश्न ये नहीं है. प्रश्न ये है कि ब्राह्मण चाहे जैसा भी हो, ब्राह्मणने कभी इन शास्त्रके वचनोंको कॅन्सल् तो नहीं किया. ये तो ब्राह्मणकी महत्ता है. अब वो ये कहते न हों, वो कथा अलग है. क्योंकि लोग सुनना और कहना भी नहीं चाहते हैं. वो तो आजकलके संगीतके जलसे जैसा हो गया है ऐसा आजकलका धार्मिक प्रवचनमें हो गया है कि जो आप सुनना चाहते हैं उसीको हम लोग कहते हैं. जो हम कहते रहते हैं उसको सुननेकी आपकी आदत पड़ जाती है. मगर शास्त्रकी कथा इस बारेमें बिल्कुल साफ-सुथरी है. क्यों ये कथा है? क्योंकि धर्म अर्थ काम का मेनेजमेंट् शास्त्र करना चाहता है और यदि ब्राह्मण मेनेजमेंट् कर रहा हो तभी वो योग्य ब्राह्मण है.

(समायोजनका दूसरा सूत्र: ''धर्मार्थकाममोक्षश्च...'')

इसलिए व्यासजी शास्त्र में ये कहते हैं कि प्रवृत्तिधर्ममें **''स उत्तमो यो निरत: त्रिवर्गे''** और निवृत्तिधर्ममें वो ही व्यासजी ये कहते हैं कि **''धर्मार्थकाममोक्षाख्या: पुरुषार्था: हि उदाहृता: चतुष्टयमिदं यस्मात्...''** (विष्णु.पुरा. १।१८।२१) ये चतुष्टय है ये चार मिलकर एक बन रहे हैं. ये चार अलग अलग नहीं है.

वो स्वस्तिक है हमारा धर्म अर्थ काम मोक्ष का. कोई मोक्ष ऐसा नहीं होना चाहिये जो धर्मविरोधी हो. कोई धर्म ऐसा नहीं होना चाहिये जो अर्थविरोधी हो. कोई अर्थ ऐसा नहीं होना चाहिये जो कामविरोधी हो, और कोई भी काम

ऐसा नहीं होना चाहिये जो मोक्षविरोधी हो. **''धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ यै चैव सात्त्विका भावा राजसा: तामसाश्च ये''** (भग.गीता.७।११-१२)

ये एक हमारी चतुष्टयकी कल्पना थी. धर्मार्थकाममोक्षके समायोजनके द्वारा मनुष्य अपनी मनुष्यताको उभार पाय. मनुष्यमें यदि अपनी मनुष्यता अच्छी तरहसे उभरी तो ब्राह्मण भी उभरेगा, क्षत्रिय भी उभरेगा, वैश्य भी उभरेगा और शूद्र भी उभरेगा और मनुष्यकी यदि मनुष्यता उभरी नहीं और हैवानियत उभरी तो जो परसेंन्टकी मैं बात कह रहा हूँ कि 'man is a rational animal, no doubt about it but what about the percentage of animality in him'. पशुता यदि अधिक उभर गयी तो वो रेशनालिटी वहींकी वहीं धरी रह जायगी. वो काम नहीं आती है.

आपको शायद पता हो कि न पता हो पर एक बात बताऊँ कि तम्बाकु सिगरेट् से कॅन्सर् होता है इसलिए तम्बाकुके व्यापार पर प्रतिबन्ध लानेके लिए, एक प्रतिबन्धात्मक आदेश जॉन कॅनेडीने अमेरिकाके प्रेसीडेन्टकी हैसियतसे लागू किया. पर उसके पहले स्वयंने इतना बड़ा स्टोक् मंगाया कि वो जब तक जीता तब तक वो खत्म नहीं होता. आप प्रतिबंध लाद रहे हो और अपना स्टोक् पहलेसे मंगा रहे हो. ये तो समायोजन नहीं हुआ न! ये तो कोई गड़बड़ाध्याय ही हो गया न! तुमने स्टोक मंगा

लिया. अब यदि कोई और मंगायेगा तो उस पर प्रतिबंध लागू होगा. पर भई तुमने जो स्टोक मंगाके रखा है उसका क्या ? मनुष्य इस प्रकारसे अपनी रेशनालिटीका बहुत दुरुपयोग करता है. रेशनालिटी होना बुरी बात नहीं है पर इस रेशनालिटीका इस तरहसे दुरुपयोग करना बहुत बुरी बात है.

अभी मैनें चुटकुला सुना कि एक वक्ता माँसाहारके विरोधमें प्रवचन कर रहे थे. और श्रोताओंको उन्होनें पूरी तौरपर झकझोर दिया. प्रवचनके बाद जब खाना-पीना हुआ तो उनके खानेकी डिश्में नोन-वेज् आइटम् ही थी. तो वहाँ मौजूद प्रेस् रिपोर्टर्ने कहा कि ''अभी आपने माँसाहारके विरोधमें इतना प्रभावशाली प्रवचन किया कि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे माँसाहारसे इतने नुकसान हैं, नीतिकी मोरेलिटीकी दृष्टिसे ये निर्दयता है, ये है वो है और सारे श्रोता झंकृत हो गये आपके प्रवचनको सुनकर और आप ही यहाँ माँसाहार ले रहे हो!!!'' उसने कहा ''भई मैनें ये थोड़े ही कहा था कि मैं नहीं खाता हूँ. मैनें तो खानेसे नुकसान क्या है, ये बताया. मैं तो खाता हूँ. तुम वहाँ भी पूछते तो बता देता. पर आपने पूछा नहीं इसलिए मैनें बताया नहीं.'' अब ये तो प्राइवेट्में और पब्लिक्में दो तरहकी बात हो गयी न! ये समायोजन नहीं है. धर्म भी है, अर्थ भी है, बोध भी है, ज्ञान भी दे रहा है, पर धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन नहीं है. धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन इस तरहसे नहीं होता है. समायोजन स्वस्तिकमें

होता है कि हर जो निषेध आप कर रहे हो, वो आपके आचरणमें आना चाहिये और जो आचरण आप कर रहे हो उससे विधि-निषेध आपका प्रकट होना चाहिये. विधि-निषेध फिर आपके आचरणमें आना चाहिये. कहें आप कुछ और करें कुछ और, तब फिर कुछ न कुछ तो लफड़ा है. वो समायोजन बराबर नहीं हो पाया. बात बस इतनी सी है. इसीलिए भगवान् व्यासजी ये कहते हैं कि **''धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः हि उदाहृताः चतुष्टयमिदं यस्मात्''** (वहां)

(समायोजनका तीसरा सूत्र : ''परित्यजेद् अर्थकामौ... धर्मं चाप्यसुखोदर्कं)

और एक बड़ी बात मनु कहते हैं **''परित्यजेद् अर्थकामौ स्यातां धर्मविरोधिनौ धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च''**(मनु.स्मृ.४।१७६) उन अर्थ और काम को तो मनु कहते हैं कि **''परित्यजेद् अर्थकामौ स्यातां धर्मविरोधिनौ''** ये तो कोई भी धर्म कहेगा मगर अपनी भारतीय प्रज्ञाकी विशेषता देखिये कि **''धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च''** अपना महर्षि इस बातको बेबाक कह सकता है कि जो धर्म तुम्हारे अर्थ-कामका नाशक हो ऐसे धर्मको भी छोड़ो.**''परित्यजेद् अर्थकामौ स्यातां धर्मविरोधिनौ धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च''**

(समायोजनका चौथा सूत्र : धर्म अर्थ काम का यथाशक्ति अनुष्ठान)

धर्म अर्थ और काम जब तक तुम्हारी शक्ति है, उसका

अनुसरण करो, उसका हान मत करो. ‘‘**ब्राह्मे मुहुर्ते हि उत्थाय चिन्तयेद् आत्मनो हितं, धर्मम् अर्थं च कामं च यथाशक्ति: न हापयेत्**’’ (याज्ञ.१।११५) जब सूर्योदय न हुआ हो तब उठकर आत्महितका आत्मोत्कर्षका विचार करो और सूर्योदयके बाद धर्म अर्थ काम का विचार करो. अरे! ये एक जीवनको जीनेकी एक कला है, एक लाइफ् स्टाइल् है जो हमारी आर्ष प्रज्ञा हमको समझा रही है. ये देखो चारोंके समायोजनमें टाईम् मेनेजमेंट् है. चार पुरुषार्थोको ऋषियोंने किस प्रकार मेनेज् किया और इस बारेमें उनकी अंतरर्दृष्टि क्या थी! आजकल तो क्या है कि टी.वी.के शो इतनी देर रात तक चलते हैं कि कोई सुबह जल्दी उठ नहीं पाता है. वो कथा एक अलग कथा है पर ये उस जमानेकी बात है कि जब टी.वी.के शो नहीं चलते थे. तो आजकी और पुरानी लाईफ् स्टाइल्में कुछ लफड़ा हो गया है.

(पुरुषार्थ=मानवदेहको धारण करनेवाली स्वभावगत आवश्यकता या अपेक्षा)

जो बात खास इसमें ध्यान देनेकी है वो ये कि इस समायोजनके आधारकी रचना ऋषिमुनि किस प्रकार कर रहे हैं. अक्सर धमार्थकाममोक्षको जब पुरुषार्थके रूपमें हम बिरदाते हैं कि पुरुषकी ये अर्थना है. ‘पुरुष’का मतलब यहाँ शरीरके अर्थमें नहीं, आत्माके अर्थमें कहा गया है. ‘पुरुष आत्मा’का अर्थ ये होता है कि ये एक पुर है और उस पुरमें जो शयन करता है, रहता है वो ‘पुरुष’ है

‘जीवात्मा’. यहाँ स्त्री–पुरुषके रूपमें पुरुष नहीं कहा गया है. इस शरीररूपी पुरमें जो रहता है ‘‘**नवद्वारे पुरे देही**’’ नवद्वारवाले पुरमें जो रहता है, उस पुरमें रहनेवाला जो जीवात्मा है वो ‘पुरुष’ है. उस पुरुषके भीतर ये अर्थनाएं, आकाक्षाएं किस तरहसे होनी चाहियें ?

आयुर्वेदमें बहुत अच्छी बात कहते हैं कि ‘‘**सर्वे रोगा: हि जायन्ते वेगोदीरणधारणात् न वेगं धारयेद् धीमान्**’’ अपनी वृत्तियोंको दबाना या उत्तेजित करना, दोनों ही पुरुषके लिए विघातक होते हैं. ‘‘**अति सर्वत्र वर्जयेत**’’ के न्यायसे. दबाना भी घातक है और अस्वाभाविक रूपसे उत्तेजित करना भी हमारे पुरुषके लिए विघातक होता है.

जैसे अपने पुष्टिमार्गकी एक बात बताऊँ. बूंदी मोहनथाल मठरी खालो प्रसादके नामसे पर डायाबिटीज़ होगी, कोलेस्ट्रोल् बढ़ेगा उसका क्या? मोहनलाल नामक एक कविने बहुत सुंदर कहा है..

रोग गयो भक्तिको भूख लगी जोरनतें
खायवे लगी अब दूध माखन मलाई है.
मोहनथार बूंदी मठरीको पथ्य मिल्यो
मोटी भयी खूब झट धोंद छिटकाई है.
ब्रह्मसंबंध चूर्ण पाचक अजीरणको
दियो वल्लभकुल कछु सेवा न बतायी है.
धरन लगे भेंट जन शरणमें आय गये
पुष्टिभक्ति बढ़ी नाहीं हृद्रोगिता बढ़ायी है.

किसी भी वृत्तिको अस्वाभाविकरूपसे बढ़ाना या किसी भी वृत्तिको अस्वाभाविकरूपसे दबाना, ये दोनों ही पुरुषके लिए विघातक होते हैं. ऐसा आयुर्वेदमें है.

(सत्त्वसे धर्म, रजसे अर्थ, तमसे काम संबंधित पुरुषार्थ और आत्मासे मोक्ष संबंधित पुरुषार्थ)

'पुरुष' माने जो इस पुरमें रहता है. उस पुरका स्वभाव क्या है? ये पुर त्रिगुणात्मक है: सत्त्व रज तम गुणोंवाला धर्म अर्थ काम जो त्रिवर्ग है उसमें धर्म सत्त्वसे संबंधित है, अर्थ रजसे संबंधित है और काम तमसे संबंधित है. ये शरीर हमारा त्रिगुणात्मक पुर है. इसके संबंधित हमारे धर्मार्थकाम पुरुषार्थ हैं और आत्मा निर्गुण है, तीन गुणोंसे अतीत है, उस अर्थमें मोक्षपुरुषार्थ है. एक बात ध्यानसे समझो कि किसी भी मनुष्यकी देहरहित आत्मा होना या आत्मारहित देह होना, मानवीय इकाई नहीं है. वो प्रेतकी इकाई हो सकती है, वो पिशाचकी इकाई हो सकती है. किसी देवताकी इकाई हो सकती है पर मानवीय इकाई तो इस तरहकी है कि सत्त्वरजतमोगुणात्मक पुरमें एक निर्गुण बसा हुआ है. आत्माका निर्गुण होना आत्माके देहातीत चैतन्य मानने या न मानने की आपकी दार्शनिक धारणाओंपे निर्भर नहीं. आत्माके निर्गुण होनेकी कथा देहमें इन गुणोंके होते विविध क्षोभको साक्षिभावसे निहार पानेकी क्षमतापर निर्भर है.

उस निर्गुणपुरुषकी भी तो कोई अर्थना होगी कि नहीं! जैसे कुछ शहरकी म्युनिसिपाल्टीकी अपेक्षा होती है ऐसे ही

कुछ उस म्युनिसिपाल्टीमें रहनेवाले नागरिकोंकी भी कुछ अपेक्षा होती है. कुछ फॅसिलिटी आपको म्युनिसिपाल्टी देती है, कुछ फॅसिलिटी आपको म्युनिसिपाल्टीको देनी पड़ती है. तो पुरुष क्या करेगा? वो पुरको मोक्षके लिए उकसाएगा और पुर क्या करेगा? वो उस पुरुषको धर्म अर्थ काम में निरत रहो उसके लिए उकसाएंगे और इस तरहसे ये एक-दूसरेके विघातक नहीं होकर एक-दूसरेके पूरक जब बनते हैं तब **''धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः हि उदाहृताः चतुष्टयमिदं यस्मात्''** ये सारे चारों पुरुषार्थोका एक चतुष्टय बनता है जो मानवीय इकाईके पुरुषार्थके रूपमें वर्णित है और इस तरहसे इसके समायोजनकी एक बड़ी उदात्त कल्पना हमारे आर्षद्रष्टाओने की थी. आज क्योंकि बहुत सारे प्रवाह इस तरहके प्रकट हो गये. कुछ लोग निरंतर हमें इस तरहसे उकसाते रहते हैं कि जीवनमें क्या है? बस स्वर्गमें जाओ, वैकुंठमें जाओ, मुक्त हो जाओ. ऐसे बहकावेके कारण भुला दी गयी है.

मैं एक बार किशनगढ़में प्रवचन कर रहा था. एक भाई मुझसे नाराज हो गये कि ''आपने कृष्णकी अनन्य शरणागतिकी बात की आपने शिवके बारे क्यों नहीं कहा?'' मैनें कहा कि ''भई! मैं कृष्णका भक्त हूँ इसलिए मैनें केवल कृष्णके बारेमें कहा. मैं आपको तो नहीं कह रहा कि आप शिवकी भक्ति मत करो. मैं तो ये कह रहा हूँ कि यदि आप शिवके भक्त हो तो शिवके अनन्याश्रयी रहो. हम कृष्णके भक्त हैं तो हम कृष्णके

अनन्याश्रयी रहेंगे.'' तो बोले कि ''इस तरह आपके प्रवचन करनेसे शिवभक्तोंका दिल दुःखी होता है.'' मैंने कहा कि ''यार! आपका दिल दुःखी नहीं हो रहा है.'' वो बोले ''नहीं नहीं, ये आप कैसे कह सकते हो? हमारा दिल तो दुःखी हो रहा है.'' मैनें कहा ''अच्छा! यदि सचमें दुःखी हो तो यहाँसे आप घर नहीं जाओगे, सीधे कैलाश जाओगे.'' वो सीधे अपने घर चले गये. अरे भई! यदि इतने दुःखी हो तो काहेको घर जाते हो, सीधे कैलाश जाओ न फिर! न कृष्णभक्तोंको कृष्णसे कुछ लेना-देना है, न शिवभक्तोंको शिवसे कुछ लेना-देना है. न अल्लाके भक्तोंको अल्लासे कुछ लेना-देना है, न रामके भक्तोंको रामसे लेना-देना है. बस झगड़ना है आपसमें!

वो झगड़ना इसलिए कि हम रेशनल् एनिमल् हैं. इस तरह झगड़ा करनेमें रेशनालिटीका परसेंटेज् केवल दस प्रतिशत होता है और एनिमलिटी नब्बे प्रतिशत विद्यमान है, जो हर घड़ी उभर-उभरकर आती रहती है और वो संतुष्ट नहीं होती है. इसलिए धर्म भी यदि मिल जाय तो हम उस धर्मको जीनेके बजाय उसको झगड़नेका अच्छा हथियार समझते हैं. जो मनमें रही एक भावना है न; एक-दूसरेको मारनेकी कुचलनेकी, किसी तरह धर्मका भी उसमें उपयोग करो. धर्म मिल गया तो धर्मका, अर्थ मिल गया तो अर्थका, काम मिल गया तो कामका, बस सबका उपयोग झगड़नेके लिए ही करना है. सबको सुलझानेके बाद मुक्तिकी बात करो तो मुक्तिमें भी झगड़ा कि तुम्हारे धर्मसे

मुक्ति नहीं, हमारे धर्मसे मुक्ति मिलेगी. अरे भई! जब इस पोइन्ट् पर आप झगड़ोगे तो मुक्ति होगी कि युद्ध होगा! जब हम इस विषय पर झगड़ा कर रहे हैं कि तुम्हारे धर्मसे मुक्ति नहीं मिलेगी, हमारे धर्मसे ही तुम्हें मुक्ति मिल सकती है. भगवान्ने केवल हमें ही ठेका दिया है मुक्तिका? और किसीके पास ठेका नहीं है तो तो इस बातका अर्थ यह है कि न आप मुक्त होना चाहते हो, न गाँवको ही मुक्त करना चाहते हो, केवल ठेकेदारीका अपना रोब जमाना चाह रहे हो. सब धर्मोमें ये प्रवृत्ति आ गयी है और उसका मूल कारण है कि हमने धर्मार्थकाममोक्षका अच्छी तरहसे समायोजन नहीं किया है.

आजकी तारीखमें सबसे अधिक आवश्यकता इन चारों पुरुषार्थोके समायोजनकी है. वो समायोजन क्यों करना चाहिये? उसका आर्ष दृष्टिमें रहा हुआ गंभीर रहस्य क्या है? क्योंकि हम त्रिगुणात्मक हैं. हमारे पुरकी कुछ आंकाक्षाएं हैं. त्रिगुण होनेके कारण हमारे भीतर कुछ सात्त्विकवृत्ति हैं, उन वृत्तियोंके कारण हमें कुछ धर्मको जीना है. कुछ राजसवृत्ति हैं, उन राजसवृत्तियोंके कारण अर्थवृत्तिको जीना है. और कुछ हमारे भीतर तामसगुण भी है, जिसके कारण हमको काम भी जीना है. और इन सबको असमायोजित प्रकारसे हम जी नहीं सकेंगे. वो हमारे ही नाशके हेतु बनेंगे. हम सिर्फ भूत-प्रेत-पिशाचके शरीर नहीं है. इस शरीरके भीतर रहा हुआ एक निर्गुण जीवात्मा भी है और उसको भी हमें जीना है. शरीरको भी जीना

है. जब इन चारोंको जीना है तो धमार्थकाममोक्षका समायोजन करना पड़ेगा, करना ही पड़ेगा. तभी ये सृष्टि एक–दूसरेके लिए सुखद शुभ और सुंदर बनेगी. वरना तो ये सृष्टि इतनी सुंदर होने पर भी वो अशुभ असुख और असुंदर बन जाती है.

(समायोजनका पाँचवा सूत्र : ''धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधत:'')

इसलिए भागवत स्पष्ट इस तरहका विधान करती है कि **''धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधत:''** (भाग.पुरा. ३।७।३२) इन चारों पुरुषार्थोमें आपसमें विरोध न हो, इस तरहसे धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन करो. अब किस अनुपातमें जाकरके विरोध हो जाएगा, उसका बहुत सुंदर प्रसंग भागवतमें आता है कि भगवान्ने प्रचेतसोंको सृष्टि उत्पन्न करनेका आदेश दिया. आदेश मिलते ही उन्होनें पृथ्वीपर आकर देखा और कहा कि ''सृष्टि तो हम उत्पन्न करें पर सारी पृथ्वी पर तो वृक्ष ही वृक्ष हैं तो हमारी सृष्टि रहेगी कहाँ ?'' तो उन्होनें सारे वृक्षोंको जला दिया. तब भगवान्ने प्रकट होकर कहा कि ''तुम्हें तो मैनें सृष्टि उत्पन्न करनेको कहा था, ये तो नहीं कहा था कि वृक्षोंको जलाओ.'' तब उन्होनें कहा कि ''यदि हम मैदान नहीं बनायेंगे तो हमारी सृष्टि रहेगी कहाँ ?'' तब बहुत बड़ी बात वहाँ भगवान्ने कही है कि **''समझो कि तुम्हारा जीवन अन्योन्याश्रित है. वृक्ष यदि सब समाप्त हो गये तो तुम भी नहीं बचोगे. और तुम यदि नहीं रहे तो वृक्ष भी खत्म हो**

जायेंगे.'' **''अहस्तानि सहस्तानाम् अपदानि चतुष्पदां फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्''** (भाग.पुरा.१।१३।४६) हर जीव दूसरे जीव पर निर्भर है. परस्पर यदि जीवनको सम्बल बनाके जियोगे तो तुम इस तरह पैदा भी हो सकोगे और बढ़ भी सकोगे. यदि एक–दूसरेके नाशका ही तुम्हारा भाव है, तब तुम स्वयं भी नष्ट हो जाओगे. दूसरेको तो नष्ट करोगे ही. जब इन सारी बातोंको देखें तो हमें पता चलता है कि आर्षदृष्टिने धर्मार्थकाममोक्षके समायोजनके बारेमें कितनी गंभीरतासे विचार किया है और उस गंभीरताको क्यों हम आज भूल गये!!!

(''यथाशक्तिन हापयेत्'': धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थका यथाशक्ति निर्वहन करना चहिये बिना उपेक्षाके)

मैं किसी धर्मकी आलोचनाके रूपमें ये बात नहीं कर रहा हूँ. मैं मानवीय दुर्बलताकी ये बात आपको समझाना चाहता हूँ कि धर्मसम्प्रदाय कोई भी हो पर उस धर्मसम्प्रदायमें इन चारों पुरुषार्थोका समायोजन अच्छी तरहसे होना चाहिये. महर्षि व्यास कहते हैं कि **''यथाशक्ति न हापयेत''** जो आपकी शक्ति है उसके अनुसार इसका हापन नहीं होना चाहिए, उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये, उसको छोड़ना नहीं चाहिये, उसे निभानेका प्रयास करो. निभानेका प्रयास करोगे तो वो निभता चला जायगा और शक्ति भी बढ़ती चली जायगी. मेरे घुटनेमें एक प्रोब्लेम् हो गयी थी. एक वक्त ऐसा आ गया कि दो कदम भी मेरे लिए चलना मुश्किल हो गया. मैनें धीरे–धीरे फिरसे चलना शुरू

किया. अब मैं करीब चार-पाँच मील चल सकता हूँ. डॉक्टर् मुझे कहते रहे कि तुमको घुटना बदलवाना पड़ेगा. मैनें कहा कि अभी तो करानेकी इच्छा नहीं है. सचमुचमें धीरे-धीरे चलना शुरू किया तो चार-पाँच मील तो अब चल लेता हूँ. **''युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा.''** (भग.गीता.६।१७) जब अयुक्त आहार, अयुक्त विहार, अयुक्त चेष्टा होती है तो शक्तिका ह्रास हो जाता है. चिंताकी कोई बात नहीं है. फिरसे प्रयास करो. फिरसे वो रीसाइकल् होकरके फिर लौट कर आती है. जब मैनें चलना शुरू किया तो मेरा घुटना दु:खना भी बंद हो गया.

इस बातको समझना चाहिये कि चाहे वो धर्मकी बात हो चाहे अर्थके बारेमें हो, चाहे कामके बारेमें हो, चाहे मोक्षके बारेमें हो, जब किसी कारणवश हमारी शक्तिका ह्रास हुआ हो तो उसमें घबरानेकी, निराश होनेकी और न स्वयं या अन्यके बारेमें इस तरहके अपराधबोधकी आवश्यकता है. जिस बातकी आवश्यकता है वो है थोड़े प्रयासकी. यथाशक्ति फिरसे शुरू करो. बच्चनकी कविता मैं कभी भुल नहीं सकता -

''इन चिकने ताजे नये हरे पत्तोंके सायेमें सुमने!
फिर प्यार नया हो सकता है.
हर दंत समयका जो लगता मानो विषदंत नहीं होता,
दु:ख मानवके मनके ऊपर सब दिन बलवंत नहीं होता.

आहें उठती आंसू झरते, सपने पीले पड़ते लेकिन,
जीवनमें पतझड़ आनेसे जीवनका अंत नहीं होता.
इन चिकने ताजे नये हरे पत्तोंके सायेमें सुमने!
फिर प्यार नया हो सकता है...''

यथाशक्ति प्रयास करना चाहिये. हर बातमें शक्तिह्राससे, अपराधबोधसे ग्रसित होना किसी व्यवस्थामें होगा, हमारी भारतीय व्यवस्थामें नहीं है. क्योंकि जो भी ब्राह्मण संध्या करता है वो इस बातको रोज कहता है कि **''मन्यु: अकार्षीत् नाहं करोमि, मन्यु: करोति, मन्यु: कर्ता, मन्यु: कारयिता. एष ते मन्यो मन्यवे स्वाहा''** (महा.नारा.उप.१८।३) **कामो अकार्षीत् नाहं करोमि, काम: करोति काम: कर्ता, काम: कारयिता एष ते काम कामाय स्वाहा.''** (महा.नारा.उप.१८।२)

इन चिकने ताजे नये हरे पत्तोके सायेमें फिर प्यार नया हो सकता है. हमें किसीके सामने कन्फेशन् करनेकी जरूरत नहीं है. हमें अपने स्वयंके सामने कन्फेशन् करनेका तात्पर्य यह है कि जो कुछ हमने उग्र किया, प्रतिग्रह किया उसको एक जलके आचमनके साथ हम अपने आपको समझा रहे हैं कि इससे हम शुद्ध हो जाऐं. **''आप: पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्, पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म पूता पुनातु माम्, यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम, सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रह स्वाहा''** (तैत्ति.आ.१।१०।२३) **''अत्याशनाद् अतिपानाद् यच्च उग्रात् प्रतिग्रहात् तन्नो वरुणो**

राजा पाणिनाह्यवमर्शतु. सोऽहमपापो विरजो निर्मुक्तो मुक्तिकिल्विषः नाकस्य पृष्ठमारुह्य गच्छेद् ब्रह्मसलोकताम्'' (तैत्ति.आ.१०।१) ये हम प्रतिदिन संध्यामें करते हैं कि उस शक्तिका यदि किसी अयुक्ताहार-विहारके कारण ह्रास हुआ है तो किसीके सामने गिड़गिड़ानेकी आवश्यकता नहीं है. अपनी यथाशक्ति, धर्म अर्थ काम मोक्ष के पुरुषार्थोमें फिरसे प्रवृत्त होनेकी जरूरत है और उस स्वस्तिकको निभानेकी जरूरत है. यदि वो स्वस्तिक निभा तो बराबर सुअस्ति होगी. यदि वो स्वस्तिक खंडित हो गया, उसका कोई एक हाथ टूट गया या अनावश्यकरूपसे बढ़ गया तो सारी गड़बड़ फैलेगी, फैलेगी और फैलेगी.

(भक्ति भी पाँचवा पुरुषार्थ है)

इसलिए महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं कि भागवतसे पूर्व, धर्मार्थकाममोक्ष पुरुषार्थोकी परिकल्पना बहुत अच्छी तरहसे प्रस्तुत श्रुति स्मृति पुराण आदिमें हो गयी है. भागवत पहली बार आकर हमको समझाती है कि एक पंचम पुरुषार्थ और रहा है और वो है भक्ति. भक्ति एक अद्‌भुत पुरुषार्थ है.

अब ये प्रश्न होता है कि हमने त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका पुर देखा. उस पुरमें निर्गुण बिराजमान जीव देखा तो इस 'भक्ति'का उत्पत्तिस्थान (सोर्स) कहाँ है? कहाँ खोजना इस 'भक्ति'के उत्पत्तिस्थानको ? इन दोके अलावा और क्या है ? जैसे धर्मार्थकामका उत्पत्तिस्थान ये शरीर है. मोक्षका आधारभूत स्थान हमारी जीवात्मा है. तो फिर इस भक्तिका

स्थान कहाँ है ? सूरदासजी महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके सामने गिड़गिड़ा रहे थे ''मो सम कौन कुटिल खल कामी'' ''हों पतितन्‌को टीको'' महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने कहा कि ''सूर ह्वेकें काहेकों घिघियात है कछु भगवल्लीला गा.'' इस सारी सृष्टिको एक लीलाकी दृष्टिसे देखना शुरू करो. लीलाकी दृष्टिसे देखोगे तो ये गिड़गिड़ाना बंद हो जायगा. ये घिघियाना बंद हो जायगा. जब तुम इस लीलाकी दृष्टिसे नहीं देखते हो और जब तुम इसको अपने संकल्पप्रभव कामसे देख रहे हो, जब तुम अपनी अहंताका इतना उद्वेग कर रहे हो जैसे कि आयुर्वेदने कहा है कि ''**सर्वे रोगाहि जायन्ते वेगोदीरणधारणात्**'' इस तरह कि सारे रोग वेगके उदीरण और धारण के कारण प्रकट होते हैं. आयुर्वेदका ये महावाक्य है तो अपने अहंकारका इतना उदीरण तुमने कर लिया कि इस अहंकारके उदीरणमें तुम इस बातको भूल गये कि ये त्रिगुणात्मक प्रकृतिरूपी शरीर और ये निर्गुणात्मक चिदात्मा इसका कोई एक उत्पत्तिस्थान है कि नहीं!

(त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष का युग्मीभूत एकरूप मतलब 'अक्षरब्रह्म')

भगवान् गीतामें हमें समझाते है कि ''**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षर उच्यते**'' (भग.गीता.१५।१६) और उस अक्षरमें ''**तद्धाम परमं मम**'' (भग.गीता.१५।६) ये जितना भूत है, ये क्षर है इनमें जो कूटस्थ है वो अक्षर है और ''**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु**'' (भग.गीता १३।२) जैसे वहाँ आप देखोगे तो ऐसा मिलता है कि. ''**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**'' (भग.गीता. १३।१९) प्रकृति और

पुरुष दोनों अनादि हैं पर जो प्रकृतिको जानता है वो भी मुझे किसी न किसी रूपमें जान रहा है और जो पुरुषको जान रहा है वो भी किसी न किसी रूपमें मुझे जान रहा है. प्रकृतिका ज्ञान भी मेरा ही ज्ञान है और पुरुषका ज्ञान भी मेरा ही ज्ञान है. वो जब हम यूनिफिकेशन् पोइन्ट् खोजते हैं, वहाँसे लीला प्रकट होती है कि अक्षरमें क्षरका प्राकट्य वो मायिक नहीं है, वो अज्ञान नहीं है, वो प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है. वो अक्षरातीत लीला है जिसमें क्षर प्रकट हुआ है.

हमको बहुत विस्मय होता है कि अक्षरमें क्षर कैसे प्रकट हो सकता है? 'अक्षर' माने जिसका क्षरण न होता हो. 'क्षर' माने जो क्षरणशील हो. क्षरणशील वो कभी अक्षर नहीं हो सकता. अक्षर कभी क्षरणशील नहीं हो सकता पर परमात्मा क्षराक्षर हो सकता है कि नहीं? यदि नहीं हुआ होता तो एक सीधीसी बात हमको एक समझनी चाहिये कि आधुनिक विज्ञानकी दृष्टिसे आप देख लो कि इस सारी पृथ्वीमें जल तेज वायु आकाश है और वो पृथ्वी सूर्यसे प्रकट हुयी है जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है. तो ये सब कहाँसे प्रकट हुआ! वैज्ञानिक लोग स्वयं कहते हैं कि पृथ्वी जल तेज वायु आकाश जो हमारे इस लोकके कोन्सटीट्यूटिंग् फेक्टर् हैं, वो सूर्यमेंसे प्रकट हुये हैं. पर सूर्यमें तो कुछ नहीं है. सूर्यमें ये नहीं है तो क्या उसका मतलब ये है कि ये हमारी भ्रांति है? ये हमारी भ्रांति तो नहीं है. सूर्यमें जिस

रूपमें ये तत्त्व हैं उसमें ये संभावना रही हुयी है कि सूर्यसे अलग हट जाय वो, **''द्वितीयो मे आत्मा जायेत''** (बृह.उप. १।२।४) उपनिषद् उसको कहता है कि मेरी आत्माका एक दूसरा रूप और प्रकट हो और दूसरे रूपमें प्रकट होते ही उस सूर्यका प्लाज़्मिक् रूप हमारे सामने नहीं है. अब हमारे सामने पृथ्वी जल तेज वायु आकाश है. वहाँ सूर्यलोकमें कुछ भी नहीं है. यहाँ हमको सबकुछ मिल रहा है उसी सूर्यके कारण. **''तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि, धियो यो नः प्रचोदयाद्''** (ऋक्सं.३।६२।१०) वो सविता जो हमारी इस बुद्धिका प्रेरक है, वो 'सविता'का मतलब इसका प्रसविता है. इन चातुर्विध तत्त्वोंका प्रसविता वो प्लाज़्मिक् रूप है. वो चतुर्विध नहीं है. नहीं होना भी हमको दिखलाई नहीं देता है मगर यदि सूक्ष्म रूपमें वो नहीं होता तो यहाँ स्थूल रूपमें वो कैसे प्रकट हुआ होता! इसलिए भगवान् कहते हैं कि **''यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः''** (भग.गीता. १५।१८) वो पुरुषोत्तम कहाँ है? उपनिषद् भी ये कहता है कि **''यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवी अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीम् अन्तरो यमयति एष ते आत्मा अमृतः''**(बृह.उप.३।७।३) जो पृथ्वीमें छिपकर भीतरसे उसका नियमन करता है वह तुम्हारे भीतर भी छुपा हुआ है. जिस तरह इस लोकके चतुर्विध या पंचविध महातत्त्व उस सूर्यलोकके प्लाज़्मिक् रूपमें छुपे हुये थे, अनभिव्यक्त रूपमें थे और पृथ्वी पर वो अभिव्यक्त

रूपमें हुये हैं. उस तरहसे क्षराक्षरका जो प्रभेद है, वो पुरुषोत्तममें अनभिव्यक्त रूपमें छुपा हुआ है. और ''**एकोहं बहुस्यां प्रजायेय**'' ये उपनिषद्का जो सूत्र है, उस सूत्रके न्यायसे वो बहुविधता यहाँ प्रकट हुयी है. वो एककी अनेकविधता यहाँ प्रकट हुयी है.

(भागवत और श्रीवल्लभाचार्य के मतसे भक्ति भी पुरुषार्थ है. अतः धर्मार्थकाममोक्षभक्तिका समायोजन करता है वो ही अपने सम्प्रदायमें सच्चा 'पुरुष' है.)

उसके प्रकट होनेमें हमको लीलाबोध होता है और उस लीलाबोधमें कहीं न कहीं भक्तिका मूड छिपा होता है जिसे वल्लभाचार्य कहते हैं कि इस पुरुषार्थका भी समायोजन हमको इसी तरह करना है. भक्ति भी ऐसी नहीं करनी है जो धर्मार्थकाममोक्षकी विरोधिनी हो और धर्मार्थकाममोक्ष भी उस तरह नहीं करने चाहिये कि वो भक्तिके विरोधमें चले जायें. इन पाँचों पुरुषार्थोंका समायोजन यदि हम अच्छी प्रकारसे कर सकें तो हमने बराबर अपनी सर्वरूपता, जो पुरुषोत्तममेंसे प्रकट हुयी है, उसका निर्वाह अच्छी तरहसे किया. प्रारंभिक सूत्रमें हमें ये बात अवश्य अच्छी प्रकारसे समझनी चाहिये.

भागवत इसीलिए एक बहुत अच्छी बात बताता है कि ''**सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकम् आदौ**''(भाग.पुरा.११।३।३७) सत्त्व रज तम ये त्रिविध पहले एक हैं. ''**सूत्रं महान् अहम् इति प्रवदन्ति जीवम्**''(वहीं) सूत्र महान और अहं के साथ वो जीव बन जाता है. ''**ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति**''

(वहीं) और इन दोनोंके कारण होता क्या है कि ज्ञान और क्रिया उनका अर्थ और उनका फल वो विविध शक्तियोंमें प्रकट होता है पर ''**ब्रह्मैव भाति सद् असद् च तयोः परं यत्**'' (वहीं) पर इन सारे तत्त्वोंमें जिसका भान हो रहा है वो तो केवल ब्रह्मका, ब्रह्मका और ब्रह्मका. ''**ब्रह्म ते ब्रवाणि इति**'' (बृह.उप.२।१।१) ''**मा अहं ब्रह्म निराकुर्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोद्. अनिराकरणं मे अस्तु. तद् अनिराकरणं मे अस्तु**'' (केनोप.शां.पा.) भक्तिका मूल यहाँ है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके हिसाबसे भक्ति यदि पंचम पुरुषार्थ है तो उसका मूल हवेली चलानेमें नहीं है, उसका मूल भागवतकथामें नहीं है, उसका मूल मनोरथोंके चंदा इकट्ठे करनेमें नहीं है. उसका मूल कहीं है तो ब्रह्मके इस स्वरूपमें हैं कि ''**एकं रूपं बहुधा यः करोति**'' (कठोप. २।२।१२) इसमें भक्तिका मूल रहा हुआ है. भक्तिकी आधारशिला महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य यहाँ स्थापित करना चाहते हैं.

मेरी अपेक्षा है कि इस बातको हम समझें. हम पुष्टिमार्गको जी रहे हैं, वो बहुत अच्छी बात है. हम पुष्टिमार्गमें जी रहे हैं ये बड़े सौभाग्यकी बात है पर अपनी भक्तिकी आधारशिला जब अपन इस ब्रह्ममें स्थापित करेंगे तब ही हम पुष्टिमार्गको स्वस्थ रूपमें जी पायेंगे. अन्यथा हम पुष्टिमार्गमें जी रहे हैं पर पुष्टिमार्ग हममें नहीं जी पाएगा. पुष्टिमार्ग हममें कहीं मर रहा है, दम तोड़ रहा है. इसलिए हमारी पुष्टिभक्तिको, इस ब्रह्ममें सुप्रतिष्ठित करनेकी

बहुत–बहुत आवश्यकता आज है. जो भी कुछ इस बारेमें प्रश्न करना हो आप निशंक करो. मुझे इक्तरफा ट्रेफिक् चलाना पसंद नहीं आता है. मैं हर प्रवचनमें ये ही कहता हूँ कि मैं प्रश्नोत्तर चाहता हूँ क्योंकि **''तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेव अभिगच्छेत् समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्''** (मुंडक. उप.१।२।१२) परिप्रश्नके बिना कुछ उत्तर देना, कुछ पता नहीं चलता है कि क्या? क्योंकि आपको जिज्ञासा है कि नहीं? मैं प्रवचन करता रहूँ और आपको नींद आती रहे ऐसा भी हो सकता है. अक्सर मेरे प्रवचनमें मेरे श्रोता सो जाते हैं. मुझे चिंता हुयी तो मैनें अपना प्रवचन स्वयं सुना तो मैं भी सो गया पर वो कुछ मेरी विवशता है पर चाहता मैं ये नहीं हूँ कि हम सो जांय. मैं ये चाहता हूँ कि अपने महाप्रभुकी जो वाणी है वो हमारे लिए जागरणका हेतु बने **''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत''** (कठोप.१।३।१४) आप लोग इस बारेमें कुछ भी प्रश्न करोगे तो मुझे हार्दिक संतोष होगा. और जो भी कुछ मैनें कहा मुझे लगेगा कि कुछ संप्रेषित हुआ. वरना तो इकतरफा ट्रेफिक् ही है. जब ट्रेफिक् बढ़ जाता है तो गाड़ी इकतरफ चलानी पड़ती है. जब थोड़ी गाड़ीयें होती हैं तो दोनों बाजुसे आ जा सकती है. पर अधिक गाड़ी होने पर इकतरफ चलानी पड़ती है. अब ये आपकी इच्छा पर है कि आप इकतरफा ट्रेफिक् चाहते हैं या दोनों तरफ चाहते हैं. पूछेंगे तो मुझे बहुत खुशी होगी. एक बात मैं अपनी ओरसे बता दूँ कि प्रश्न कोई गलत नहीं होता. उत्तरमें

दोनों संभावना होती है गलत और सच होनेकी. प्रश्न सिर्फ प्रश्न ही होता है, वो न गलत होता है न सच होता है. एक बार हमारे सेमिनार्में प्रा.मुखर्जीने ये सवाल किया कि ''आप क्या चाहते हैं कि हम क्या पूछें?'' मैनें कहा ''हमारी प्रशंसा करनेवाले बहुत है, आप कुछ हममें क्रिटिसाइज़ करिये कि हमने क्या समझा है?'' मैं उस अनुशासनमें बड़ा हुआ हूँ कि मैं आलोचनाको भी कभी खराब नहीं मानता. मुझे आलोचना ऐसी लगती है कि जैसे भजियाके साथ कोई चटनी हो. जैसे भजियाका सच्चा स्वाद चटनीके बिना नहीं आता ऐसे ही अपने मतका सच्चा स्वाद आलोचनाकी चटनीके बिना नहीं आता. तो आलोचना तक भी आप सवाल करना चाहें तो आप कर सकते हैं. जिज्ञासाभावसे भी कर सकते हैं. ये तो आप पर निर्भर है. यदि कोई प्रश्न न हो तो आश्रयपदगान करके आज यहाँ रखें.

प्रकरण : २

(प्रश्नोत्तर)

कल जैसे मैनें आपको बताया था कि अपने प्रवचनकी बंदिश चार श्लोक है और उनके गानके बाद ही अपना विमर्श शुरू करेंगे तो पहले अपन उन चार श्लोकोंका गान कर लें.

कल मैं निराश हो गया था पर आज तो मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है कि बहुत सारे प्रश्न आये हैं और सचमुचमें मेरा हृदय उल्लसित है आज. कुछ लोगोंने बाहर गामसे भी सवाल पूछे हैं.

प्र. सत्त्व रज तमो गुण प्रकृतिसे आते है और निर्गुणता जीवात्मासे आती है, आत्मा निर्गुण है तो क्या सूक्ष्म देह भी निर्गुण है ?

उ. कल मैनें एक बात समझायी थी कि अपने मस्तिष्ककी जो संरचना है, जिसको आर कॉम्प्लेक्स् कहते हैं, उसके बाद भावनाका, जिसको लिम्बिक् सिस्टम् और नीयो कोर्टेक्स्, जो कि तृतीय है. आधुनिक मस्तिष्कविज्ञानने, मस्तिष्क्की न्यूरोलोजी और मोर्फोलोजी करके जो सारे केन्द्र खोजे जा रहे हैं, ब्रेनवेव जो मापी जा रही हैं, उन सबके हिसाबसे सबसे पहले आर कॉम्प्लेक्स् है, अब उनके शब्द अलग है अपने शब्द अलग हैं, वो ही सारे फन्क्शन्स्

वहाँ भी बताये जा रहे हैं.

अपने भागवतकी परिभाषामें सबसे पहले चित्त है और चित्तको सात्त्विक माना गया है. वो जिसको आर-कॉम्प्लेक्स् कहते हैं जो कि ब्रेनकी आंतरिक निगूढ़ संरचना है, उस निगूढ़ संरचनाके भीतर जागरूकता (awareness) है, मगर भावुकता (emotions) नहीं हैं. जब भी भावना (emotions)के बिना जागरूकता (awareness) होती है उसीको अपने यहाँ **''सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्''** (भग.गीता. १४।१७) कहा जाता है. उसे ही भागवतमें विशुद्ध सत्त्वात्मक चित्त कहा गया है. उस चित्तके ऊपर अपने यहाँ ये बात बताई गयी है कि अहंकार और संकल्प-विकल्पात्मक मन है. जो संकल्प-विकल्पात्मक मन और अहंकार है, ध्यानसे देखिये कि सेल्फ्-अवेयरनेस् और दूसरोंकी अवेयरनेस्, क्रियाकी अवेयरनेस् या विषयकी अवेयरनेस् और उसके जितनी भी विविधताएं संभव हैं, उसे 'विकल्प' कहा जाता है. जो कुछ मैं कर सकता हूँ उसके संकल्पको यानि 'मुझे ये करना है' ऐसा संकल्प ये मनका कार्य माना गया है. जो भी हम काम कर रहे हैं उसमें यदि संकल्प या विकल्प जो भी कुछ होते हैं, वो बाहरकी वस्तुके बारेमें होते हैं. सामान्यतया 'विकल्प' बाहरकी वस्तुका भीतर सोचा जाता कोई रूप है और भीतरसे जो क्रिया बाहरकी ओर प्रकट करनी है उसका सोचे जानेवाला रूप 'संकल्प' कहा जाता है. जैसे मुझे

खाना है, सोना है, चलना है, जागना है, ये सब संकल्प है. उसीके बाद हम सोते हैं, जागते हैं, चलते हैं. जैसे ये कागजकी पत्ती आपके सामने दिख रही है इसमें प्रश्न पूछा गया है कि नहीं पूछा गया है? पूछा गया है तो वो आपके मनमें विकल्प आ गया और नहीं पूछा गया है तो वो दूसरा विकल्प है. तो किसी एक वस्तुके बारेमें जो दो तरहकी हम धारणाएं सोचते हैं उसे 'विकल्प' कहा जाता है. ध्यानसे देखिये कि एक खुदकी अवेयरनेस माने खुदके बारेमें चेतना और दूसरी विषयचेतना, एक ये स्तर है. उसके बाद एक बुद्धिका रूप आया है. अपने यहाँ मन बुद्धि अहंकार चित्त ऐसे चर्तुग्रंथी अंत:करण माना गया है. और इस चर्तुग्रंथी अंत:करणमें सात्त्विकता राजसता तामसता का समावेश किया गया है. बिल्कुल उसी प्रकारसे जिस प्रकार आजके ब्रेन्के वैज्ञानिक ये कहते हैं कि आर-कॉम्प्लेक्स्में अवेयरनेस् मुख्य है, मगर भावुकता नहीं है. उसके बाद उसके ऊपरकी परतमें भावनाएं हैं. अपने यहाँ अवेयरनेस् सात्त्विक है **''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं''** (वहां) और जैसे भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं कि **''काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः, महाशनो महापाप्मा विद्धि एनम् इह वैरिणम्''** (भग.गीता.३।३७) ये जो काम क्रोध की भावुकताएं हैं वो रजोगुणसे समुद्भूत है. वो लिम्बिक्-सिस्टम् है, जो आर-कॉम्प्लेक्स्के ऊपर है. वो रजोगुणसमुद्भूत है पर रजोगुणसे पैदा होनेवाली मनकी तामस अवस्था है और जो क्रिया है वो अपने अहंकारसे या मनसे पैदा होती है.

उसको भागवत और गीता दोनों राजस मानते हैं. क्यों राजस मानते हैं? क्योंकि राजसमें न तो मूढ़ता होती है और न स्थिरता होती है. 'राजस'का अर्थ है चंचल होना. किसी एक बात पर स्थिर नहीं हो पाना. इन संकल्प या विकल्प का स्वरूप हम देखते हैं और अपने अहंकारका स्वरूप देखते हैं तो स्पष्ट पता चलता है कि वहाँ राजसता प्रकट हो रही है. अभी सर्वोत्तम पर मेरे प्रवचन हो रहे थे तो एक बात मैनें श्रोताओंको बताई थी कि हम जितने बुद्धिमान हैं उससे कहीं ज्यादा हमारी बुद्धि बुद्धिमान है. और हम जितने बेवकूफ हैं उससे कहीं ज्यादा अपना दिल बेवकूफ होता है. उसका सीधासा प्रमाण क्या? अपन् सोचें तो पता नहीं चलता कि हमारी बुद्धि हमसे अधिक कैसे बुद्धिमती हो सकती है. और हमसे अधिक हमारा दिल कैसे बेवकूफ हो सकता है? पर प्रयोग करके देखो तो पता चलेगा और कोई गंभीर प्रयोग नहीं है, एक छोटासा प्रयोग है. आप कोई भी एक शब्द जैसे 'माईक' है, 'फूलकी माला' है, लिख लें. उसके बाद उससे जुड़ा हुआ दूसरा कौनसा शब्द है उसे लिखो. उससे जुड़ा तीसरा चौथा पांचवा कौनसा शब्द है लिखते जाओ. घंटा डेढ़ घंटा यदि आप प्रयास करेंगे तो हजारों शब्द आप लिख सकेंगे. वो आपको पता भी नहीं होगा कि इतने शब्द आपके दिमागमें कब भर गये थे! कब डाउनलोड् किये गये थे! आपको नहीं पता है पर आपके दिमागको पता है कि अच्छा इससे जुड़ा ये है और उससे जुड़ा वो है. पर

अचानक मैं आपसे पूछूं तो तो आप नहीं बता पाओगे. मगर मस्तिष्कके पास वो सूचनाएं हैं. इस अर्थमें हमसे कहीं अधिक बुद्धिमान हमारा मस्तिष्क होता है.

अब दिलकी बात करें तो हमेशा ऐसा लगता है कि मनमें जो संकल्प विकल्प हो रहे हैं, उनको करें कि नहीं करें? बुद्धि कहती है कि 'मत करो, कुछ गड़बड़ है इसमें.' पर दिल कहता है कि 'कौन देख रहा है, एक बार तो करके देख लो. भगवान् यहाँ थोड़े देखने आ रहा है!' जिसको बुद्धि साफ इन्कार करती हो उसे भी दिल तो करना चाहता है. अपन् जितने बेवकूफ हैं उससे कहीं ज्यादा अपना दिल बेवकूफ है और अपन् जितने अक्कलवाले हैं उससे कहीं ज्यादा अपना मस्तिष्क अक्कलवाला है. ये एक छोटासा प्रयोग करके अपन् देख सकते हैं जीवनमें. इससे पता चलता है कि सत्त्व रज तम के जो आवरण एकके ऊपर एक प्रकट हुये हैं, उन आवरणोंके पूर्वमें जीवात्मा जब रह रही है तो उसकी निर्गुणता चेतनाके अंशमें है. आवृत्त होते ही वो भी सगुण हो जाती है. जीवात्मा जब कहा जा रहा है तो चेतनाके अंशमें कहा जा रहा है. जीववाले अंशमें नहीं, आत्मावाले अंशमें.

प्र. दूसरी जो एक बात ये पूछी गयी है कि पुरुषार्थचतुष्टयमें जीव क्या कर सकता है? ये प्रभुका सहज स्वभाव है या कर्मोंका फल या कुछ और? यदि ये प्रभुका सहज स्वभाव है तो सदैव प्रतीत क्यों नहीं होता? जब कभी ऐसा लगता है कि प्रभुकृपा नहीं है या नहीं हुयी तो क्या ये अन्याश्रय है?

उ. कृपा क्या है? यदि ये अपन् जिज्ञासा करें तो? कभी अपनेसे पूछो कि हवा क्या है? ये पूछनेके लिए भी यदि हवा नहीं होगी तो हम ये पूछ नहीं सकेंगे अपने आपसे भी. कहीं वेक्यूम्में हमको रख दिया जाय तो वहाँ ये सवाल पैदा ही नहीं होगा कि हवा क्या है? हवा क्या है ये सवाल भी इसीलिए पैदा हो रहा है क्योंकि हम हवामें हैं. सांस ले रहे हैं, सांस छोड़ रहे हैं. हवा क्या है ये सवाल नहीं है. मगर हवा जो कि सदा है उसकी सदा अनुभूति हमें नहीं होती है. जैसे रामदेवजी कहते हैं कि "गहरी सांस लो" तो ही अपन्को होता है कि हां हवा कुछ है. इसी तरह 'गहरी सांस छोड़ो' तो अनुभूत होता है कि हां हवा कुछ है. हमको पता नहीं चलता है कि सांस चल रही है या नहीं चल रही. ये प्रश्न भी तभी पैदा हो सकता है कि जब हवा भीतर आ-जा रही है तो. जहाँ हवा आनी जानी बंद हो जायगी वहाँ ये प्रश्न भी पैदा होने बंद हो जायेंगे. इसलिए कृपा क्या है? कृपाके दो रूप है. एक कृपाका वो रूप है जिसमें श्वासोच्छ्वास हम ले रहे हैं. श्वासोच्छ्वाससे मेरा मतलब है कि साधना करना अथवा साधना नहीं करना. वो साधना चाहे धर्मकी हो चाहे अधर्मकी हो. चाहे अर्थकी हो या अनर्थकी हो. चाहे कामकी हो या प्रेमकी हो. कोई भी साधना जब हम

कर रहे हैं तो जिस कृपाके वातावरणमें हम कर रहे हैं वो कृपा हमको अनुभूत नहीं होती. क्योंकि उसके लिए तो हमको थोड़ा अपने बारेमें सभान होना पड़ेगा. और वो सभान कैसे हुआ जाता है कि चलती सांसका हमको पता नहीं चलता पर जब हम प्राणायाम करके गहरी सांस लेते हैं, तो झटसे पता चल जाता है कि हवा कुछ है जो कि नाकमें आ–जा रही है.

कृपा तो सर्वत्र है अब वो प्रतीत क्यों नहीं होती? मैं समझता हूं कि इसका अर्थ भी मैनें समझा दिया है. विज्ञानके हिसाबसे शायद आपको पता होगा कि शरीरके प्रत्येक स्क्वेर् इंच् पर पन्द्रह किलोका वजन है. अपने शरीरके स्क्वेर् इंच् मापो और हिसाब करो कि शरीर पर कितना वजन है? उस वजनको हम निरंतर ढो रहे हैं. जहाँ हवाका दाब कम हो जाता है तो अपनी रगोंमें दौड़ता हुआ खून निकल कर बाहर आ जाता है, उस दाबके कारण वो खून अपनी रगोंमें बह रहा है और बाहर नहीं निकल रहा है. इतना वजन हम ढो रहे हैं, क्या हमको पता है? कभी पता नहीं चला. उतना वजन उठाके देखो तो पता चलेगा कि भयंकर वजन है. शरीर पर बिना जानकारीके इतना वजन हम ढो रहे है वो कृपा है. सारा कृपाका भार तो हम ढो ही रहे हैं पर जब अपने पुरुषार्थसे उसे अपन ढोना चाहेंगे तो वो भार महसूस होता है. बिल्कुल प्राणायाम और श्वासोच्छ्वास की बात है.

प्राणायाम करोगे तो श्वासोच्छ्वास अनुभूत होता है. और जब नहीं करें तो वो अनुभूत नहीं होता.

प्रभुकी कृपा क्या प्रभुका स्वभाव है या कर्मोका फल? एक बात ध्यानसे समझो कि कर्म हमारे फेफड़े करते हैं. फेफड़े यदि काम न करते हो तो चाहे हवा बाहर भरी हुयी भी हो पर भीतर नहीं जायगी. और यदि फेफड़े काम कर रहे हैं तो बाहरकी हवा भीतर जा रही है. इतना ही नहीं खूनका संचार भी करवा रही है. बहुत सारे काम कर रही है. अपन इससे निर्धारित करें कि जो हवा हमारे भीतर जा रही है वो पृथ्वीका स्वभाव है या हमारे कर्मोका फल है?

ये सारे सवाल तब पैदा होते हैं जब हमने अपने आपको पृथ्वीसे अलग अपने अहंकारसे तोलना चाहा कि ये ‘पृथ्वी’ और ये ‘मैं’. अहंकार निंदाके अर्थमें नहीं कर रहा हूँ. ‘अहंकार’ माने सेल्फ –अवेयरनेस्. जब हम अपने आपको सेल्फ–अवेरनेस्के कारण पृथ्वीसे अलग देखते हैं तभी ये सवाल पैदा हो रहे हैं. यदि हम ये मानकर चलें कि पृथ्वीका मैं एक प्राणी हूँ और पृथ्वी जो कुछ कर रही है वो सब मेरे साथ हो रहा है. ऐसे ही ब्रह्मका अंश मैं एक जीव हूँ. ब्रह्म जो कुछ कर रहा है वो मेरे साथ हो रहा है. इस बातका पता चलना मुश्किल है कि स्वभाव है कि कर्म है. क्योंकि जो मेरा कर्म है वो उसका स्वभाव है. जो उसका कर्म है वो मेरा स्वभाव है.

स्वभाव और कर्म में जो हमने भेद डाला है वो भेद अपने इस अहंकारके बलबूते पर डाला है. ये अहंकारका हमको इतना बड़ा उपकरण दिया गया है! जैसे मैं आपको एक बात समझाऊँ कि ये एक फूलकी माला है. इस फूलकी मालामें धागे और फूलका एक संयोजन है. अब अचानक इस फूलकी मालामेंसे एक फूलमें ये अहंकार या जग जाय कि मैं फूल हूँ और ये सब धागेमें पुरोये हुये कुछ और तत्त्व हैं, तब ये प्रश्न पैदा होगा कि ये फूल यहाँ अपने कर्मसे आया कि स्वभावसे आया? जिन फूलोंमें ये अहंकार या सेल्फ-अवेयरनेस् नहीं जगी उनमें ये प्रश्न ही नहीं होगा कि मैं कर्मसे आया या स्वभावसे आया क्योंकि दोनों बात संयोजित है. जो हमारा स्वभाव है वो ही हमारा कर्म है.

जैसे अपने महाप्रभु शुद्धाद्वैतवादी है, ऐसे ही हौलेंडमें महाप्रभुके पचास वर्ष बाद बारुक स्पिनोज़ा हुए. उन्होनें इस बारेमें एक बड़ा मजेदार विधान किया है और वो कहते हैं कि पहाड़ परसे लुढ़कते समय यदि पत्थरमें सेल्फ-अवेयरनेस् जग जाय तो वो कभी भी गुरुत्वाकर्षणको कुबूल नहीं करेगा. वो कहेगा कि मुझे नीचे जाना है और देखो मैं कैसे नीचे जा रहा हूँ. पर दुनिया जानती है कि जो भी पत्थर पहाड़ परसे लुढ़कता है वो नीचे जानेके लिए नीचे नहीं आता है पर गुरुत्वाकर्षणके कारण नीचे आ रहा है. अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ हममें सेल्फ-अवेयरनेस् जग गयी वहाँ हमको लगता है कि हम कुछ कर रहे हैं.

आप इसको ऐसे भी समझ सकते हैं जैसे ट्रेन् चल रही है और सब जगह जाती है पर यदि किसी यात्रीको उतावली हो और वो ट्रेन्में भी दौड़ना शुरू करे पहुँचनेके लिए. वो कर सकता है, पर ये तो निश्चित है कि वो ट्रेन्से पहले तो नहीं पहुँच सकता. वो पहुँचेगा तो तभी जब ट्रेन पहुँचेगी. वहाँ स्वभाव और हमारे कार्य का प्रभेद हमको समझ आता है.

आज ही मैं यहाँ नर्मदा स्नान करने गया. बड़ी मजेदार बात आपको बताऊँ. नर्मदाके प्रवाहको देखकर मेरा मन एकदम लालायित हो गया कि चलो तैरूं इसमें. मैं तैर रहा था. मैनें एकदम सामने तैरना चाहा पर नर्मदाका प्रवाह मुझे एक तरफ घसीट रहा था. मैं अपने तैरनेके संकल्पके हिसाबसे सोचूँ तो मैं तैर रहा था. और नर्मदाके प्रवाहके हिसाबसे सोचूँ तो बह रहा था. अब बह रहा था कि तैर रहा था? यदि मेरेमें तैरनेका संकल्प न होता तो मैं बह रहा था. मेरे संकल्पके कारण मुझे ये प्रभेद लगता है कि मैं तैर रहा हूँ कि बह रहा हूँ. वैसे तैरना और बहना दो क्रिया नहीं है. मैं भी अक्सर इस बातको कहता हूँ कि भक्ति और समर्पण तैरना नहीं है, ब्रह्मके कृपाके प्रवाहमें बहना है. आनंदसे पड़े रहो और बहते रहो वो जिस दिशामें बहाकर ले जाय उस दिशामें बहना है. वो जो बहनेका बोध है, बहनेका आनंद है, कभी पृथक करके आप इसको देखें कि तैरनेका श्रम और बहनेका आनंद.

हम दोनोंको कन्फ़्यूज़ कर लेते हैं. क्योंकि हमारे भीतर एक संकल्पशक्ति है तैरनेकी क्रियाशक्ति है. जिसके कारण हम बहनेकी क्रियाको तैरनेकी क्रियासे जोड़ लेते हैं. इसलिए ये कन्फ़्यूज़न् होता रहता है पर एक बात ध्यानसे समझो कि यदि हमारे संकल्पको हमने थोड़ा शांत बना दिया, प्रवाहको समर्पित कर दिया, अब चाहे वो नर्मदाका प्रवाह हो अथवा कृपाका प्रवाह हो, चाहे गंगाका प्रवाह हो या यमुनाका प्रवाह हो, चाहे संसारका प्रवाह हो, हम तैरते नहीं है, बहते हैं. और जब हमने समर्पण नहीं किया है और संकल्प किया है कि मुझे करना है भगवान् इसीलिए गीतामें कहते हैं कि **''अहंकारविमूढात्मा 'कर्ताहम्' इति मन्यते''** (भग.गीता.३।२७) वो अहंकार जो अपने अंदर है उसका मोह इतना अपनेमें पैदा होता है कि कई बार हम बहते होते हैं पर फिर भी हमको ऐसा लगता है कि हम तैर रहे हैं. पता ही नहीं चलता है कि तैर रहे हैं कि बह रहे हैं. पर तैरना और बहना एक क्रिया भी नहीं है और एक-दूसरेसे पृथक क्रिया भी नहीं है. दोनोंके कुछ इन्टरसेक्शन् ऐसे हैं कि इधर कुछ तैरना है, उधर कुछ बहना है. उस सर्कल्के इन्टरसेक्शन्में तैरना और बहना एक भी हो जाते हैं. अपनी भक्ति शरणागति समर्पण कुछ इस तरहकी प्रक्रिया है.

प्रश्न ये है कि जब हमको कृपाका बोध नहीं हो रहा

है तो अन्याश्रय हो रहा है कि नहीं हो रहा है. तो बस अपने आपको टटोलो कि यदि आपको अपने अहंकारका बोध हो रहा है तो भगवान् गीतामें स्पष्ट कहते हैं कि **''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति, न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रिताः''** (भग.गीता.७।१४-१५)

उन्होनें अपने अहंकारको इतना उभार लिया है, इतना उत्तेजित कर लिया है कि उनको समझ ही नहीं आता है कि जब वो बह भी रहे हैं तो समझते हैं कि तैर रहे हैं! मैं एक दिन रास्ते परसे गुजर रहा था. अचानक सारी दुकाने बंद होने लग गयीं. सबको लगा कि हिन्दु-मुसलमानका दंगा हुआ. सारी पब्लिक इधर-उधर दौड़ने लग गयी. जब सब दौड़ने लगे तो मैंने सोचा कि मुझे भी दौड़ना चाहिए. जब सब ही दौड़ रहे हैं तो अपन कैसे खड़े रहें? थोड़ी देर दौड़ा पर समझ ही नहीं आ रहा था कि क्यों दौड़ रहे हैं. मतलब तैर रहे हैं कि बह रहे हैं? फिर मैनें खड़े होकर किसीसे पूछा कि क्या मामला है? तो किसीने बताया कि किसी गायने भड़ककर किसी व्यक्तिको सींग मार दिया उससे बचनेके लिए एक आदमी दौड़ा, उसको देखकर सबने दौड़ना चालू कर दिया. फिर दुकानें बंद होनी शुरू हो गयीं. हमको पता ही नहीं चलता है कि कब हम दौड़ रहे हैं और कब दौड़ाये जा रहे हैं!

वो भय था कि पता नहीं कि क्या घटित हो गया है, सब दौड़ रहे हैं तो अपन भी दौड़ें. प्रवाहमें जैसे बहनेकी प्रक्रिया अपन देखते हैं तो थोड़ा धीरज धरके सोचना शुरू करो कि क्यों दौड़ रहे हैं? जब कारणका संकल्प-विकल्प किया तो समझमें आया कि बहुत छोटासा कारण था. कोई दंगा हुआ ही नहीं था. इस तरहकी दुर्घटनाएं कभी-कभी इन बातोंके पृथक न करनेके कारण हो जाती है. मैं समझता हूँ कि आपके प्रश्नका मैनें आशय स्फुट किया.

प्र. पंचम पुरुषार्थ भक्तिका उद्गम कहाँसे हैं? जैसा आपने बताया कि धर्म अर्थ काम मोक्ष का उद्गम सत्त्व रज तम गुणसे हैं तो भक्तिका मूल उद्गम कहाँसे हैं?

उ. कल मैनें इस बातको स्पष्ट करनेका प्रयास किया था कि भक्तिका मूल उद्गम हमारे सत्त्व रज तमो गुणके मूल स्वभावसे नहीं है और न हमारी आत्माके गुणातीत होनेसे भक्तिका उद्गम है. भक्तिका उद्गम तो परमात्मासे होता है. परमात्मासे जिस भक्तिका उद्गम है उसको महाप्रभु 'निर्गुणभक्ति' कहते हैं और जो भक्ति हमारे सत्त्व रज तमो गुणके स्वभावसे उत्पन्न होती है, उन भक्तियोंको महाप्रभु 'सगुणभक्ति' कहते हैं. आजके हिंदी साहित्यकार सगुण और निर्गुण भक्तिका कुछ और अर्थ करते हैं. जैसे निराकार ब्रह्मकी भक्तिको 'निर्गुणभक्ति' कहते हैं और साकार ब्रह्मकी भक्तिको 'सगुणभक्ति' कहते हैं. महाप्रभुकी पदावलि वैसी नहीं है. उपनिषद् कुछ ऐसे समझाता है कि परमात्माने

अपनी लीलाकी इच्छाके वश ये सृष्टि प्रकट की है और उस लीलाकी इच्छाके वश जो सृष्टि प्रकट की उसमें हम प्रकट हुए हैं. उस प्रकट होनेमें यदि हमको लीलाका बोध हो रहा है तो परमात्मासे हमारी भक्तिका उद्गम हो रहा है. और वो लीलाबोध हमें नहीं हो रहा है और हमें हमारे संकल्पोंका बोध, हमारे कर्मोका बोध यदि हो रहा है तो वो बोध कहीं न कहीं हमारे आर कॉम्प्लेक्स् लिम्बिक् सिस्टम् और नीयो-कोर्टेक्स् से, हमारे सात्त्विक राजस तामस गुणसे पैदा होनेवाला हमारा स्वभाव है. वो स्वभाव वहाँसे पैदा होनेके कारण वो सगुणभक्ति बन जाता है. माने संक्षेपमें इसे आप इस तरहसे समझ सकते हैं कि भगवान्‌को मुझे भजना है क्योंकि भगवान्‌को मुझे जानना है तो ये सात्त्विकी भक्ति है. क्योंकि भक्तिका उद्गम आपकी जिज्ञासाके वश हुआ है. भगवान्‌की लीलाके आनंदवश नहीं हुआ है. वो तो कुछ ब्रह्मकी जिज्ञासा है. **''चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ''** (भग.गीता.४।१६) लिम्बिक् सिस्टम्‌से आर्तो जिज्ञासु अर्थार्थी, ये देखो काम धर्म और अर्थ तीनों आ गये. जो धर्मके रूपसे भजन करना चाहता है, जो अर्थके रूपसे भजन करना चाहता है और जो काम पुरुषार्थके अन्तर्गत भगवान्‌का भजन करना चाहता है वो कामभक्ति अर्थभक्ति और धर्मभक्ति एक अलग भक्ति है और जो इनसे भजन नहीं करता, भगवान्‌के लीलाबोधसे भजन करता है वो भक्ति 'निर्गुणा भक्ति' है उस निर्गुणा भक्तिका स्रोत

हमारी जीवात्मा नहीं है. इसका मूल कारण यह है कि हमारी जीवात्मा इन गुणोंके पुरमें बसनेवाली नागरिक है और परमात्मा किसी भी ऐसे एक पुरमें बसनेवाला नागरिक नहीं है. वो इन सारे पुरों जो गुणोंसे निर्मित हुए हैं उनके भीतर बाहर, चारों ओर मल्टी-डाइमेंशनल् फिनोमिना है. वो एक ऐसी चेतना है जो किसी चिड़ियाकी तरह पिंजरेमें कैद नहीं है. वो उन्मुक्त गगनमें विहरती हुई चेतना है. बल्कि एक सच बात कहूँ कि वो एक किसी तरहका नेटवर्क है (जैसे वर्ल्ड-वेब्-साइट् जैसी होती है.) आप उसे अपने मोबाईल्में प्रकट कर सकते हो पर वो अपने आप प्रकट नहीं होता. जो नेटवर्क है उससे आपका सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता. आप उसको अपने मोबाईल्में प्रकट कर सकते हो. इस तरहसे वो सर्वत्र व्याप्त है, आपके घरमें भी है. पर आपके पास मोबाईल् नहीं है तो आपका सम्बन्ध उससे नहीं हो सकता. (इस तरह आपके भीतर यदि किसी आकारको भजनेका भाव न हो) जैसे मोबाईल उस नेटवर्कका आकार है, तो साकाररूप है. साकारब्रह्मवादकी जब हम बात करते हैं तो बस इस तरहसे आप समझ जाओ कि एक ऐसी इलेक्ट्रो-मेग्नेटिक् फील्ड है जो कि चारों ओर फैली हुई है. आपके भीतर भी है आपके बाहर भी है. आपके चारों ओर है और वो सबसे जुड़ी हुई है. मगर किसीसे भी उसका सम्बन्ध नहीं है **''यं न स्पृशन्ति''** ऐसे कहा है. उसको कोई छूता नहीं है उसको कोई छू नहीं सकता पर वो सबके साथ जुड़ी हुई

है. जुड़ी होनेके बावजूद भी उसे कोई छू नहीं सकता पर आपके पास यदि मोबाईल है तो आपका उससे भी सम्बन्ध हो सकता है और उसके द्वारा सबसे भी सम्बन्ध हो सकता है. **''एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति''** (द्रष्ट.: छांदो.उप.६।१।४) उपनिषद् कहता है कि एकविज्ञानसे सबका विज्ञान हो सकता है. अपने मोबाईलमें देखना कि कभी-कभी वो नेटवर्क ड्रोप् हो जाता है उसके बाद फिर सम्बन्ध होना मुश्किल होता है और नेटवर्क आने पर तुरंत फिरसे सम्बन्ध स्थापित हो जाता है. यहाँ बैठे-बैठे अमेरिकामें भी सम्बन्ध हो सकता है. क्यों हो सकता है? क्योंकि वो सर्वत्र व्याप्त है. **''एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च''** (श्वेता.६।११) और मोबाईलके बिना वो साक्षीचेता है उसका आपसे अपने आप संबंध नहीं हो सकता. परमात्माकी व्यापकता कुछ इस तरहके मॉडल्की है. उस मॉडल्की व्यापकतामें जब आप उसको समझेंगे तो ये सारी बात आपको समझमें सहजतया आ जायगी कि भक्तिका उद्गम जीवात्मामें नहीं है. जैसे हम ये समझते हैं कि हमारे मोबाईल्में वो सामर्थ्य है पर मोबाईल्का यदि नेटवर्कसे कोन्टेक्ट् नहीं हो रहा है तो वो डाऊन् हो जायगा. नेटवर्कसे संबंध है तो मोबाईल् चालू हो जाता है. बस सीधासा वो ही सिद्धांत है.

प्र. पुरुषार्थ चार है, धर्म अर्थ काम और मोक्ष और पाँचवा

पुरुषार्थ भक्ति है और भक्तिका धर्ममें ही समावेश हो जाता है तो वो पुरुषार्थ अलग कैसे हुआ ?

उ. भक्तिका धर्ममें ही समावेश नहीं होता बल्कि, भक्तिका तो अर्थमें भी समावेश होता है. क्योंकि अर्थार्थी भी भक्त हो सकता है. भक्तिका तो काममें भी समावेश हो सकता है क्योंकि अपनी कामनापूर्तिके लिए हम निरंतर मन्नत मानते रहते हैं कभी गिरिराजजीकी कभी यमुनाजीकी कभी श्रीनाथजीकी, कभी शिरडीके सांईबाबाकी, कभी गणपतिकी.

एक बड़ी मजेदार बात बताऊँ. आपके जबलपुरके ही एक राय साहब थे हमारे यहाँ. वो हमारे बड़े मन्दिरमें ही रहते थे. उनका बड़ा ही विलक्षण स्वभाव था. वो चोपड़ाके वहाँ दूसरी-तीसरी ग्रेड्में असिस्टेंट् डायरेक्टर् थे. उनका सुबहसे ये नियम था कि भूलेश्वरमें जितने मन्दिर है उनमें सबमें जाकर भगवान्को नमस्कार करना. सब जगह नमस्कार करके गरदन एक बाजुमें झटका देते. एक दिन उन्होनें हमारे बड़े मन्दिरमें भी ऐसे ही किया तो मैनें पूछा कि '''राय साहब आप नमस्कार करते हो पर ये मुद्रा आपकी क्या है ?'' उन्होनें कहा कि ''नमस्कार तो इसलिए करता हूँ कि तुम भगवान् हो.'' मैनें कहा कि ''फिर बाजुमें झटका क्यों देते हो ?'' तो बोले कि ''मैं असिस्टेंट् डायरेक्टर् हूँ पर कोई फाइनेंसर् नहीं मिलता है कि जिससे मेरा भी प्रमोशन् हो और मैं भी डायरेक्टर् हो जाऊँ.''

भक्ति तो बिचारे वो भी करते थे पर वो कामभक्ति थी. उनको प्रोब्लेम थी कि इतने वर्षोसे असिस्टेंट् डायरेक्टर् बना हुआ हूँ पर मेरा प्रमोशन नहीं हो रहा है. तो भक्ति करके हर भगवान्को नमस्कार तो करते थे पर साथमें यह भी जताते थे कि ''भगवान् हो पर मेरे किसी काम नहीं आ रहे हो.'' मुझे बहुत मजेदार बात लगती थी ये राय साहबकी. बिल्कुल बच्चेके जैसी भोली बात थी. भगवान्को नमस्कार भी किया जा सकता है तो झटका भी दिया जा सकता है.

एक बात ध्यानसे समझो कि ऐसी भक्ति कामभक्ति तो है पर इसको हम 'सगुणा भक्ति' कहते हैं. 'निर्गुणा भक्ति' नहीं कहते. 'निर्गुणा भक्ति' उसको कहते हैं कि जो धर्मके रूपमें नहीं की जाती, जहाँ अर्थार्थितया भक्ति नहीं की जाती, जहाँ किसी कामपूर्तिके लिए भक्ति नहीं की जाती, भक्ति की जाती है इसलिए कि हमको एक ये लीलाका बोध हो रहा है कि 'एक' कितने सारे रूपोंमें विलसित हो रहा है. जो भी मेरी कामना पूर्ण हो रही है या जो भी कुछ मेरी कामना पूर्ण नहीं हो रही है वो भी सब उसकी लीला है. इस लीलाके बोधके साथ जब हमसे भक्ति होती है तो उस भक्तिका उद्गम न तो इस शारीरिक या आंतरिक अवस्थामें है और न हमारी चेतनामें वो व्यवस्था उपस्थित है. वो व्यवस्था तो परमात्माके आत्मरमणशील,

परमात्माके आत्मरमणके विस्तारके रूपमें ब्रह्माण्डको प्रकट करनेकी एक योजना है, उस योजनामें वो उसका उद्गम रहा हुआ है. उस योजनासे जब हमारा मोबाईल् जुड़ जाता है तो हमारी भक्ति शुरू हो जाती है. वरना तो हमारी भक्ति शुरू नहीं हो पाती. मुझे बहुत खुशी हुयी आज कि आपने सचमुचमें पूछा, नहीं तो कलमें घबरा गया था. मुझे लगा कि आप भी मेरे प्रवचनको सुनकर वंदन भी कर रहे हो और बाजुमें झटका भी दे रहे हो तो आज मुझे बड़ी खुशी हुयी कि आपने मुझे झटका नहीं दिया राय साहबकी तरह. मैं बस यही चाहता हूं कि हम लोगोंमें बस आपसमें संवाद होना चाहिये, अच्छा संवाद और मैं तो आक्षेपात्मक संवादको भी संवाद ही मानता हूं, आक्षेप नहीं मानता क्योंकि मुझे इस तरहका लीलाबोध है कि यदि आप आक्षेप कर रहे हो तो उसमें भी कोई भगवान्की एक लीला है. यदि आप जिज्ञासा प्रकट कर रहे हो तो वो भी एक भगवान्की एक लीला है. उस लीलाबोधसे ही मैं प्रवचन करना और सुनाना चाहता हूं. उसी लीलाबोधसे आपके साथ संवाद करना चाहता हूं.

प्रकरण : ३

(भागवतकी धर्मपुरुषार्थकी कलारूपता=लीलात्मकभेदमें एकत्वका दर्शन)

(धर्म अर्थ काम मोक्ष या भक्ति पुरुषार्थकी विभाजक रेखा अपने दृष्टिकोणसे बदलती है)

अपन विषयपे आ जाय. शास्त्रको देखो आप. शास्त्र स्पष्ट इस बातको कहता है कि भोजन करना भी एक धर्म है यदि आप धर्मबुद्धिसे कर रहे हो तो. **''प्राणाय स्वाहा:, अपानाय स्वाहा:, व्यानाय स्वाहा:, उदानाय स्वाहा: समानाय स्वाहा:''** (मैत्रा.६।९) ये वैश्वानर जठरमें जो बिराजमान है उसको आहुतिके रूपमें हम एक-एक कौर ले रहे हैं. इस भावसे जब अपन खाना खा रहे हैं तो खाना भी एक धर्म है और जब हम खाना इसलिए खा रहे हैं कि विटामिन बढ़ेंगे, कॅलोरी बढ़ेगी तो वो धर्म न रहके काम पुरुषार्थ हो गया. धर्मपुरुषार्थ कामपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ के बीचकी जो विभाजक रेखा बहुत सूक्ष्म रेखा है. पता नहीं चलता कहाँ धर्म काम बन जाता है, कहाँ काम धर्म बन जाता है. कहाँ धर्म, अर्थपुरुषार्थमें घुस जाता है. कहाँ अर्थपुरुषार्थ धर्ममें घुस जाता है. जैसे शास्त्र यदि हम देखें तो पता चलता है कि **''कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्''** (भग.गीता. १८।४४) कृषि गोरक्षा वाणिज्य ये वैश्यका स्वभावज कर्म है. मगर ये अर्थपुरुषार्थ है कि नहीं ?और भगवान् कहते हैं कि **''स्वे-स्वे कर्मणि अभिरत: संसिद्धिं लभते नर:''** (भग.गीता.१८।४५) अपने-अपने कर्ममें तुम लगे हुए हो तो तुमको संसिद्धि मिल रही है क्योंकि

तुम वर्णाश्रमधर्मका पालन कर रहे हो. वो धर्म हो गया. वो ही धंधा, वो ही खेतीबाड़ी, वर्णाश्रम बुद्धिसे आप कर रहे हो तो धर्म है और पैसा कमानेके लिए कर रहे हो तो अर्थपुरुषार्थ है.

एक विवाहका सरल उदाहरण ले लो. यदि दहेज लेनेके लिए कर रहे हो तो अर्थपुरुषार्थ हो गया. यदि लव-मेरेज् कर रहे हो तो कामपुरुषार्थ हो गया. शास्त्र कहता है कि अध्ययन पूरा करनेके बाद आपको गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये. यदि आप इस बुद्धिसे विवाह कर रहे हो तो वो धर्मपुरुषार्थ हो गया. शादी अपने आपमें तो एक चीज़ है पर उसमें भी प्रभेद हो सकता है कि वो धर्मपुरुषार्थ है अर्थपुरुषार्थ है कि कामपुरुषार्थ है! और ऐसा नहीं है कि शादी मोक्षके लिए नहीं की जा सकती. भागवत स्वयं इस बातको समझाती है कि **''कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते भैषज्यं अगदो यथा''** (भाग.पुरा.११।३।४४) ये सारी बात भैषज्यके लिए बतायी गई है कि आपको समझमें आये कि हम अपने आवेगोंपे काबू पायें, उस तरहसे कि वो हमारे आवेग, हमारे मोक्षपुरुषार्थमें बाधक न हो जाय, इसलिए हमको शादी करनी चाहिये. वो शादी करना मोक्षपुरुषार्थ है. इस गलतफहमीमें मत रहिये कि शादी करना मोक्षपुरुषार्थ ही है. वो भक्तिपुरुषार्थ भी हो सकता है जब आप ऐसा सोचते हैं कि मैं सेवा कर रहा हूँ. मेरे घरमें ठाकुर बिराज रहा है. मुझे सेवा करनेके लिए एक जीवनसंगिनी चाहिये, या एक जीवनसंगी चाहिये जिससे हम दोनों मिल-जुलकर

सेवा करें. तो वो ही शादी, वो ही बच्चे पैदा करना भक्तिपुरुषार्थ है.

ध्यानसे समझो कि आईटम नहीं बदल रही है. आईटम वो ही है मगर किस दृष्टिकोणसे उस आईटमको आप देख रहे हो, उस दृष्टिकोणसे उस पुरुषार्थका स्वरूप बदल जाता है. वो तो अपन अपने दिल पर हाथ रखकर समझ सकते हैं कि हम शादी कर रहे हैं, वो दहेज लेनेके लिए कर रहे हैं कि हमारी कामुकताको शांत करनेके लिए कर रहे हैं कि एक सामाजिक व्यवहारको निभानेके लिए कर रहे हैं या अपने भगवान्‌की सेवाके लिए हम एक जीवनसाथी चाहते हैं. सबमें सब चीज़ उपलब्ध है. **''सर्व सर्वमयं''** (नृसिंहोत्तरता.उप.९) आप सर्व सर्वमयं हैं मगर जैसे मैंनें आपको कल बताया था कि गंगा तो गंगोत्रीसे गंगासागर तब बह रही है मगर घाट आपको चुनना पड़ेगा, तीर्थ आपको चुनना पड़ेगा. किस तीर्थ पर आप गंगाका स्नान करना चाहते हो! उस तीर्थके किस घाट पर आप स्नान करना चाहते हो. इस तरहसे सारे पुरुषार्थकी जो व्यवस्था है वो सर्वत्र सुलभ है मगर आपको चुनना पड़ेगा कि किस भावसे आप उस पुरुषार्थका आचरण कर रहे हो. जिस भावसे आप पुरुषार्थका आचरण कर रहे हो उस भावसे वो पुरुषार्थ धर्म अर्थ काम मोक्ष या भक्ति पुरुषार्थ भी बन सकता है. इनकी जो विभाजक रेखा है वो महीन है. इतनी महीन है कि जल्दीसे पता नहीं चलता कि कहाँ एक क्षेत्र पूरा हुआ और कहाँ वो दूसरा क्षेत्र शुरू हुआ!

कहाँसे धर्मपुरुषार्थ खत्म हुआ और कहाँसे अर्थपुरुषार्थ शुरू हुआ!

कल मैनें आपको स्वस्तिककी बात बताई थी उसमें तो हम चार हाथ स्वस्तिकके बराबर देख सकते हैं कि एक हाथ यहाँ खत्म हुआ और यहाँसे दूसरा हाथ शुरू हुआ. दोनों हाथोंके बीचमें थोड़ासा अंतराल हमें दिखलायी देता है. मगर शायद आपको पता हो कि नहीं अपने पुष्टिमार्गमें दो तरहके स्वस्तिक होते हैं. खुले (卐) और ( ) बंद. हमारे यहाँ उत्सवोंमें ठाकुरजीकी आरती खुले स्वस्तिककी नहीं उतारी जाती, बंद स्वस्तिककी उतारी जाती है. बंद स्वस्तिकका अर्थ क्या? स्वस्तिकके हाथको खुला मत रहने दो उसको आगे बढ़ाके जोड़ो, फिर दूसरे हाथको वहाँ खत्म मत होने दो उसे भी आगे बढ़ाके जोड़ो. स्वस्तिक स्वस्तिक ही दिखता है पर हाथ खुले न होकर एक-दूसरेसे बंधे होते हैं. वो समायोजनकी कल्पना है कि धर्म अर्थ काम मोक्ष सब एक दूसरेसे समायोजित इस तरहसे हों कि उनके बीचमें अंतराल दिखलायी न दे. तब उत्सव मनता है. उससे हम प्रभुकी आरती करते हैं. ये जीवनका हमारा सच्चा उत्सव हो गया कि हमारे स्वस्तिकके सारे हाथ दूसरे हाथसे इस तरहसे जुड़ गये कि आज चलो उत्सवकी आरती अपन इस तरहसे उतारेंगे. वो बंद स्वस्तिककी आरती हमारी अंतर्दृष्टि है कि अपने चारों पुरुषार्थोको समायोजित करके भगवान् पर न्योछावर कर देनेसे वो भक्तिपुरुषार्थ हो जाता है. ये हमारी एक दृष्टि है और उस

दृष्टिसे हम आरती करते हैं. हम आरती जोर-जोरसे घंटा बजाके पब्लिकको ललचानेके लिए नहीं करते कि आओ दर्शन करो. जब तक पब्लिक इकट्ठी नहीं हो तब तक घंटा बजता ही रहे. भगवान् भी बोर हो जाता होगा कि पता नहीं कब तक घंटा बजायेंगे. इतना घंटा बजानेकी जरूरत पुष्टिमार्गमें हमने कभी नहीं मानी. हम अपने चारों पुरुषार्थोको समर्पित कर देनेकी आरती करते हैं. ये एक पुष्टिमार्गीय भाव है और इस भावको जब आप समझेंगे तो आपको भक्ति और चार पुरुषार्थो का भेद क्या है वो स्पष्टतया समझमें आ जायगा. आप इस आरतीके मॉडेल्से इन भेदको समझ जांय. बहुतसी ऐसी सूक्ष्म बातें हमारे पूर्वजोंने सोची है. नित्य प्रति हमारे यहाँ वो प्रयोगान्वित होती है मगर ये क्या हो गया है कि हर बातमें एक अनुष्ठान (ritual) खड़ा हो जाता है और उस अनुष्ठानमें रहे हुए संदेश भाव विचारों की उदात्तता और गंभीरता याद नहीं आती.

‘‘बस कि दुश्वार हर एक कामका आसां होना
आदमीको भी मयस्सर नहीं इन्सां होना’’

इस तरहका कुछ चक्कर पैदा हो जाता है कि हम आदमी तो हो गये पर इन्सान नहीं हो पाते हैं. इन्सान होना बहुत दुश्वार हो गया है आदमी होना तो बहुत आसान है. ये केवल पुष्टिमार्गमें ही कबाड़ा हुआ है ऐसी बात नहीं है, हर धर्ममें आदमी तो बहुत हो गये हैं पर धर्मके अनुयायीयोंमें इन्सान पैदा होना जरा मुश्किल हो गया

है. धर्मकी पहली आवश्यकता और अंतिम आवश्यकता ये ही है कि धर्मका अनुयायी यदि इन्सान हो जाय तो धर्मके चार चांद लग जाय.

(भागवतकी दृष्टिसे धर्मपुरुषार्थकी विवेचना)

ये बात समझानेके लिए भागवतने धर्मपुरुषार्थकी बड़ी सूक्ष्मतम विवेचना की है और उन विवेचनाओंके जो श्लोक हैं उन श्लोकोंको मैं आपके साथ बाँटना चाहूँगा इसलिए कि आप उस पर निगाह करें कि जिन बातोंमें हम उलझ गये हैं, वो बातें क्यों शास्त्र हमको धर्मपुरुषार्थ(तया) बता रहा है? और हम उसको उस अर्थमें न करके किसी और ही अर्थमें क्यों कर रहे हैं और कैसे कर रहे हैं! उसका प्रभेद हम भागवतके धर्मपुरुषार्थकी विवेचना यदि देखें तो हमें थोड़ी सी कुछ झलक मिलती है कि शास्त्रको अभिप्रेत धर्मपुरुषार्थका वास्तविक स्वरूप क्या था? वो वास्तविक स्वरूप यदि हमारी बुद्धिगत हृद्गत और व्यवहारान्वित हो सके तो पुरुषार्थोका समायोजन अच्छी तरहसे हो सकता है. वो बुद्धिगत ही नहीं हो. मतलब वो हमारे आर कॉम्प्लेक्स्में ही न जाय, हमारे लिम्बिक्में ही न जाय, हमारे नीयो-कोर्टेक्स् में ही न जाय तो जीव बेचारा क्या करें? मुसीबतका नाम महात्मा गाँधी. बेचारा जीव फिर भुगतता रहता है कि अब क्या करना?

एक बात ध्यानसे समझो कि भारतीय प्रज्ञाका सबसे महत्वपूर्ण धर्मके बारेमें कोई वैचारिक सूत्र है, जिस पर हम

लोगोंने ही ध्यान नहीं दिया है. दूसरे लोग ध्यान न दें तो वो क्षम्य हैं पर हम लोगोंने ही ध्यान नहीं दिया. हमारे यहाँ धर्मको कभी भी एकान्तिक सत्य नहीं माना गया. माने कोई भी धर्म अथवा धर्मके नामकी कोई भी आइटम, कोई भी अनुष्ठान (ritual), कोई भी दीक्षा, कोई भी साधनानुष्ठान, ऐसा कुछ भी आप उठाकर देख लो, शास्त्र ये नहीं कहता कि ये एकान्तिक है. उसके लाभ क्या? उसका सबसे पहला लाभ ये कि हम समझ पायें या न समझ पायें पर चिरन्तनकालसे भारतीय जनमानसमें ये धारणा दृढ़ रही कि सबका धर्म एक नहीं हो सकता. सबके कुछ कुछ धर्म होते हैं पर सबका एक धर्म हो ही नहीं सकता. आज यद्यपि बहुत निंदास्पद हो गयी है, जिसमें कुछ हमारा भी गुनाह है, कुछ लोगोंकी नासमझी भी उसमें काम कर रही है और कुछ पराये लोगोंके द्वारा मचाया गया हो हल्ला भी काम कर रहा है, ऐसे बहुतसे कारण इकट्ठे हो गये हैं पर अपनी यदि वर्णाश्रमव्यवस्थाको देखें तो उसमें मूल एक समझनेकी बात है कि हम किसी धर्मको एकान्तिक नहीं मानते. इसीलिए हमारे यहाँ इतने सारे धर्म आये, जैसे वैदिकधर्मके साथ जैनधर्म बौद्धधर्म. चार्वाक भी एक धर्म था. आज तो वो रहे नहीं क्योंकि उनकी धर्मके नामसे कोई आन्दोलन नहीं चला. वो सभी धर्म आये पर हमने कभी ऐसे नहीं सोचा. हम अपना स्पेक्ट्रम् देखें न, तो पता चलेगा कि वामाचारके भी धर्म हमारे यहाँ रहे. दक्षिणतंत्रके भी धर्म हमारे यहाँ रहे. कर्म ज्ञान भक्ति तप

वैराग्य के भी धर्म हमारे यहाँ रहे. **''रंडा चंडा दिक्खिया धङ्कम्मदारा मज्जं मांसं पिज्जये खज्जये च, कोलो धम्मो कस्स नो भाई पाई''** शराब पियेंगे, किसी भी स्त्रीके साथ जायेंगे कुछ भी करेंगे. आदमीकी खोपड़ीमें खाना खायेंगे, क्या हरकत होगी! क्योंकि **''सर्व खलु इदं ब्रह्म''** इस ''सर्व खलु इदं ब्रह्म''की ये व्याख्या भी हमारे यहाँ मौजूद थी. उस धर्मके आचरण करनेवाले संप्रदाय भी हमारे यहाँ मौजूद थे. उस धर्मके कौलाचार्य भी थे, उस संप्रदायके अनुगामी भी थे मगर किसी भी धर्मके अनुयायीयों पर हमने उस तरहका अत्याचार नहीं बरता. खंडन-मंडन करते थे हम उन धर्मोका. वो हमारी बुद्धिप्रधानता थी मगर किसी धर्मका कोई आचरण कर रहा है तो उसकी गर्दन काट दो, उसके मंदिरोंको तोड़ दो, वो हमें क्यों नहीं सूझा? उसका मूल कारण ये है कि हमारी बुद्धिमें कूट कूट कर ये भरा गया है कि धर्म एकान्तिक नहीं होता.

(धर्मके छह अंग [१]देश [२]काल [३]कर्म [४]कर्ता [५]मन्त्र और [६]द्रव्य)

धर्म देश काल कर्म कर्ता द्रव्य और मंत्र इन छः चीज़ोंके कारण बनता है.

(देश)

एक ही देशमें किसी प्रकारका आचरण धर्म है. उसी [१]देशमें दूसरी तरहका आचरण अधर्म है. एक ही देशमें किसीके लिए रहना धर्म है, किसीके लिए अधर्म है. जैसे एक सामान्य बात बताऊँ तो आपको समझमें आ जाएगा.

हम गंगा यमुना सरस्वती त्रिवेणी संगममें स्नान करते हैं. वो हमारे लिये धर्म है पर जो मछली कछुए रहते हैं उनके लिए वो धर्म नहीं है, उनके लिए वो जीवनप्रणाली है. हमारे लिए तीर्थमें जाना धर्मप्रणाली है.

(काल)

किसी कालमें जैसे अधिकमास आने पर बड़े-बड़े मनोरथ पुष्टिमार्गमें होते हैं तो वो कोई निश्चित कालमें कोई धर्म है. आप उसको बारह महीने करने लग जाओ तो वो धर्म नहीं रह जायगा. हमें एक भाई बता रहे थे कि आजकल तो डिजीटल सिस्टम् इतनी अच्छी आ गयी है और हर बातकी वर्चुअल् रीआलिटीका हम सृजन कर सकते हैं तो लोग क्यों मंदिरोमें इतना दौड़ते हैं. जो भी भगवान् आप मानते होओ, गणपति दुर्गा शिवजी राम श्रीनाथजी उनकी एक वर्चुअल् रीआलिटी अपने कम्प्यूटर्में पैदा करो. उसके लिए फूल भी वर्चुअल् रीअलिटीमें पैदा किये जा सकते हैं. एक बार माउस्को क्लिक करो, आरती भी उतर जायगी. छप्पनभोग धरना है तो बस सारी सामग्री वर्चुअल् रीअलिटीमें सजा दो. एक बार माउस् क्लिक् करनेकी देर ही तो है, झटसे छप्पनभोग श्रीनाथजीके सामने आ जायगा. अब बताओ इस बातको धर्म मानना कि अधर्म? मैनें कहा कि ''इसको कैसे धर्म मानेंगे?'' तो वो बोले कि ''हम मंदिरोमें क्या करते हैं? केवल देखते ही तो हैं तो देख तो यहाँ भी लेंगे. अब बताओ

कि इसमें और उसमें अंतर क्या है?'' मैं भ्रमित हो गया और कहा कि ''भाई! इस विषयमें सोचेंगे कि धर्म है कि नहीं.'' यदि हवेलियोंमें भटक-भटक कर दर्शन करना धर्म है, तो आज अपनी हवेलियोंमें कितनी सुविधा उपलब्ध है! और अपन इसको फेसबुक्‌में शेयर् भी कर सकते हैं. फेसबुक् और गूगल् तो इतनी अच्छी सिस्टम है कि आप इसको शेयर् कर सकते हो, उसकी क्लब् बना सकते हो कि आज छप्पनभोगका मनोरथ है हमारे कोम्प्यूटर्‌में आप अपनी फेसबुक्‌की स्क्रीन खोलो, आपको तुरंत छप्पनभोगके दर्शन हो जायेंगे. सावन आ गया तो हिंडोला झूलते हुये श्रीनाथजीके दर्शन हो जायेंगे और ऐसी बात नहीं है कि अपन कीर्तन नहीं गा सकेंगे. वो भी डाले जा सकते हैं, पखावज बजाई जा सकती है, झांझ बजाई जा सकती है. यदि आपको भी संकोच होता हो तो आप अपना फोटो भी वहाँ ऐनीमेटेड् डाल दो. तो बस माऊस्‌को क्लिक् करो तो कीर्तन भी आप गा सकते हो. फिजूलमें स्वयं गाकर अपना गला खराब क्यों करना! दर्शन ही तो करने हैं, दर्शन तो हो ही जायेंगे.

अब हम ये कहते हैं कि हमारी मूर्तिमें तो भगवान् है वो वहाँ नहीं हैं. उसके दो कारण ही है. या तो इस कारणसे हैं कि वो सर्वव्यापी है या इस कारणसे है कि भावसे भगवान् है. भाव नहीं है तो पत्थर है. तो भाव तो कोम्प्यूटरकी स्क्रीन्‌पे स्थापित कर लो. और सर्वव्यापी

भगवान् क्या कम्प्यूटर्‌की स्क्रीन्‌को छोड़के सर्वव्यापी है? भगवान् ऐसा तो सर्वव्यापी नहीं हो सकता. जैसे सरदारजीका जोक सुनाते हैं. एक सरदारजी भाषण करने गये और उनकी पत्नी वहीं बैठी हुयी थी. उन्होनें कहा कि ''एक कोना छोड़कर, भाईयों और बहनों!'' ऐसे कोई भगवान् कोम्प्यूटर्‌की स्क्रीनको छोड़कर सर्वव्यापी है क्या? ऐसा तो अपन नहीं कह सकते न! भगवान् यदि सर्वव्यापी है तो कोम्प्यूटर्‌की स्क्रीनमें भी सर्वव्यापी है. अब रही बात भावकी. भावसे भगवान् बनता है, भाव गया तो भगवान् भी गया. भाव वहाँ स्थापित कर लो तो भगवान् वहाँ भी प्रकट हो सकता है कि नहीं? वैसे व्यापारिक मंदिर चलानेवाले इसको धर्म नहीं मानेंगे. सब अधर्म मानेंगे पर यदि आपके हृदयमें भाव है तो भगवान् वहाँ क्यों नहीं प्रकट हो सकता?

लेकिन प्रह्लादवाले भावकी जरूरत है. उस खंभेमें कोई भगवान्‌का अंडा नहीं रख गया था. जैसे दीमकका अंडा आ जाता है. हिरण्यकश्यपुके महलके खंभेमें भगवान्‌का अंडा नहीं रखा हुआ था कि अचानक उसमेंसे नृसिंहजी प्रकट हो गये. हिरण्यकश्यपुने कहा कि ''तुम मानते हो कि इस खंभेमें भगवान् है?'' प्रह्लादने कहा ''है, मेरा भाव है तो है ही.'' उसने कहा ''अभी लात मारके तोड़ कर देखता हूँ.'' भगवान् सचमुचमें वहाँ प्रकट हो गये. जो भगवान् सर्वत्र है वो खंभेमें भी है. वो बिना अंडेके भी प्रकट हो सकता है. उसको दीमकके अंडेमेंसे प्रकट होनेकी

जरूरत नहीं रहती. तो क्या कारण है कि वो भगवान् कम्प्यूटर्में प्रकट नहीं हो सकता यदि दर्शन करना ही धर्म है तो. पर इन सारी बातोंमें, इस तरहकी बहस चल सकती है और बहुत दूर तक चलाई जा सकती है. जिस निष्कर्षपर पहुँचते पहुँचते हम खुद घबरा जायेंगे, थक जायेंगे या सो जायेंगे मगर समझनेकी बात है कि हमारी आर्षदृष्टि क्या थी इस बारेमें ?

हमारी आर्षदृष्टि ये थी कि धर्मके छह अंग है देश काल कर्म कर्ता मंत्र और द्रव्य और इन अंगोंसे धर्म सम्पन्न होता है. प्रत्येक व्यक्तिके लिए सर्वदेश धर्मात्मक नहीं है, प्रत्येक व्यक्तिके लिए सर्वकाल धर्मात्मक नहीं है. प्रत्येक व्यक्तिके लिए सारे द्रव्य धर्मात्मक नहीं हैं. वो ही द्रव्य किसीके लिए धर्म है और किसीके लिए अधर्म है.

वो ही काल किसीके लिए धर्म है और किसीके लिए अधर्म है. जैसे शास्त्र आप देखेंगे तो स्पष्ट आपको उल्लेख मिलेगा कि तप ज्ञान वैराग्य ये सब सतयुग त्रेतायुग द्वापरयुग में धर्म थे **''कलौ तद्हरिकीर्तनात्''** (भाग.पुरा. १२।३।५२) कलियुगमें हरिकीर्तन धर्म है. हमको इस बातको समझना पड़ेगा कि हरिकीर्तन यदि कलयुगमें धर्म है तो वो कालसे संबंधित बात है कि नहीं ? मेरी बात समझमें आ रही है न आपको!

(द्रव्य)

ऐसे ही द्रव्य. आपको बहुत मजेदार बात बताऊँ. जैसे यमुनाजल गंगाजल या नर्मदाका जल. जब भी हम इस

जलमें तीर्थबुद्धिसे स्नान करते हैं कि ये तीर्थका जल है तो वो धर्म है. पर जब हम उसी जलमें कपड़े धोते हैं या अपनी भैंसको नहलाते हैं, वहाँ क्या वो धर्म है ? वो धर्मकी बात नहीं, सफाईकी बात है. अब धार्मिक व्यक्ति सोचता है कि ये अधर्म है और अधर्मवाला व्यक्ति सोचता है कि पानी लाएँ कहाँसे और कहीं पानी तो मौजूद नहीं है तो भैंसको कहाँ नहलाएं. जिसको हम धर्म समझते हैं उसमें वो अपनी भैंस नहलाता है. आप बद्रीनाथ अमरनाथ जाओ तो जितने आर्मीके लोग है वो अपनी जीप् या बस अलकनंदामें धोते हैं. हमको लगता है कि पता नहीं ये जीप् धोनेकी नदी है या पाप धोनेकी नदी है. अरे भई ! आर्मीके लिए वो जीप् धोनेकी नदी है और यात्रीके लिए वो पाप धोनेकी नदी है. कहनेका अर्थ है कि वो ही द्रव्य किसीके लिए वो धर्म है और किसीके लिए वो धर्म नहीं भी है. वैसे प्रभाकर मांचवेकी थोड़ी उटपटांग कविता है पर आपको सुननेमें पसंद आयगी. वे एक हिन्दीके बहुत मंझे हुऐ लेखक हुये हैं उन्होनें एक बहुत अच्छी बात कही है इस बारेमें कि ''गाय बोली बैलसे, क्यों घूरते हो भाई! देखते नहीं दुनिया कहती मुझे माई, बैल बोला धत्त रे, मारूँगा दुलत्त रे, मैं भी चौपाया तू भी चौपाई.''

गाय माँ है कि चौपाया है ? किसीके लिए माँ है ? गोभक्तके लिए गाय माँ है. किसी बैलको आप कहोगे कि तू इसे माँ मान, तो वो कहेगा कि ''हम दोनों तो चौपाये हैं फिर क्यों इसे माँ मानूँ.'' जो गो माता है वो सर्व

देवमयी है पर किसके लिए? सबके लिए नहीं.

(कर्ता)

आज सबको एक फितूर चढ़ गयी है कि हमें कुछ करना है. हमें जो भी करना हो उसे हम धर्म समझते हैं. वो तो हमारे मनुष्य होनेके अहंकारका दुष्परिणाम है. शास्त्रने उसकी व्यवस्था बताई है कि ये किस कर्ताके लिए? जैसे आपको एक सामान्य उदाहरण बताऊँ तो ख्याल आ जायगा. शास्त्र कहता है कि आठ प्रकारके ब्याह होते हें. प्रजापत्य दैव आसुर ब्राह्म आर्ष पैशाच राक्षस. ऐसे कई तरहके ब्याह होते हैं. शास्त्र ये कहता है कि क्षत्रियको इनमेंसे कई प्रकारके विवाहोंकी छूट है. ब्राह्मण यदि पिशाच या राक्षस विवाह करता है तो केवल विवाह करनेके कारण वो ब्राह्मण नहीं रह जाता. हम कहते हैं कि जब क्षत्रिय विवाह करके भी क्षत्रिय रह जाता है तो ब्राह्मण क्यों नहीं रह सकता. ये तो प्रजातंत्र है. ये तो मानवअधिकारकी बात आ गयी यहाँ. जब क्षत्रियको ये अधिकार है तो हमको ये अधिकार क्यों नहीं? अरे! पर हमारे शास्त्रोमें किसी कर्ताके लिए कोई कृत्य धर्म है और किसी और कर्ताके लिए वो ही कृत्य अधर्म है. क्षत्रियका हथियार धारण करना और प्रजाका संरक्षण करना धर्म है और ब्राह्मण यदि अपने शरीर पर हथियार धारण करता है तो वो अधर्म है, ऐसा शास्त्र कहता है. अब बताओ हथियार धारण करना धर्म है या अधर्म है? शास्त्रने स्पष्ट ये बात कही है, मनुस्मृति याज्ञवल्क्यस्मृति आप उठाकर

देख लें कि तीन पीढ़ी तक यदि कोई ब्राह्मण ब्राह्मणवृत्ति न करके वैश्य या कोई और वृत्ति करता है तो वो ब्राह्मण नहीं रहकर उस वर्णका हो जाता है. अब बताओ वैश्यकी तरह धंधा करना धर्म है कि अधर्म है? फिरसे ये ही बात आ गयी कि कोई भी कर्म किसीके लिए धर्म है किसीके लिए अधर्म है, उसका निर्णय हम एकान्तिक नहीं कर सकते. धर्म कभी भी एकान्तिक नहीं होता.

कुछ लोगोंने ऐसा मान लिया कि हमने जिस बातको धर्मके रूपमें मान लिया उसका जो पालन नहीं कर रहे हैं वो सब अधर्मी है. सब काफिर है. भई! हमारे यहाँ ऐसे नहीं सोचा गया था. जैसे मूर्तिपूजाकी आप बात देखें तो आपको तुरंत समझमें आ जाएगा कि **''अग्नौ क्रियावतां देवो''** जो कर्मकाण्डी है उनके लिए अग्निमें सारे देव आ गये. **''अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवम् ऋत्विजं, होतारं रत्नधातमम् अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः देवो देवेभिरागमत्''** (ऋक्.सं.१।१।१) अग्नि ही सर्व देव है पर यदि आप ध्यान लगाना चाहते हैं तो आपका देव अग्निमें नहीं है ऊपरके लोकोमें हैं. क्योंकि ध्यान लगानेके लिए ऊपरकी उड़ान उड़नी पड़ेगी और वो दिविमें देव विराजमान है. **''दिवि देवो मनस्विनां योगीनां हृदये हरि''** योगीके लिये मूर्तिमें हरि नहीं है. योगीके लिए हृदयमें देव है. और भक्तके लिए मूर्तिमें देव है. तो अब बताओ देव कहाँ है? फिरसे सवाल ये ही आ गया. देव कहाँ है? प्रश्न ये नहीं है. प्रश्न ये है कि देव कहाँ नहीं है? देव तो

सर्वत्र है मगर आप कहाँ उसे भज सकते हो अपने भक्त होनेके कर्तापनेके स्वरूपमें. आप निश्चित करिये कि आपमें किस प्रकारका भजनकर्तृत्व है? कर्म-काण्डात्मक भजनकर्तृत्व है, योगात्मक भजनकर्तृत्व है, ध्यानात्मक मननात्मक भजनकर्तृत्व है. कीर्तनात्मक भजनकर्तृत्व है. जिस तरहसे आपका भजनकर्तृत्व है उस प्रकारसे आपका देव प्रकट होता है. प्रश्न ये नहीं है कि देव कहाँ है और कहाँ नहीं है? प्रश्न ये है कि आप देवको कहाँ भज सकते हो. जैसे **''सर्व खलु इदं ब्रह्म''** इतने सेंकड़ों वर्षोसे हम ये कहते हैं कि भगवान् कण-कणमें व्याप्त है. पर कोई कुत्तेकी या सूअरकी सेवा करता है? एक दिन कुत्ते या सूअर को पधराओ सिंहासन पर. उसको भोग धरो. उसकी आरती उतारो. उसको पंचामृत कराओ. उसका चरणामृत लो. क्यों नहीं लेते? भगवान् वहाँ नहीं है क्या? है भगवान् वहाँ भी. आप यदि ऐसा कहते हैं कि भगवान् वहाँ नहीं है तो फिर वो मूर्तिमें भी नहीं है. इतनी बात निश्चित समझो. यदि मूर्तिमें भगवान् है तो वो इसी शर्त पर है कि वो सर्वत्र है, इसीलिए वो मूर्तिमें भी है. जो सर्वत्र है वो मूर्तिमें भी है, सूअरमें भी है, कुत्तेमें भी है और गधेमें भी है. गधेको सिंहासन पर पधराओ, हिंडोला झुलाओ. वो खूब होंची होंची करेगा. अरे, मूर्तिवाला भगवान् तो बोलता नहीं है आपसे, ये तो बोलेगा भी. फर्क कहाँ है? देव कहाँ है ये मुद्दा नहीं है. देखो ध्यानसे समझो. आप देवको कहाँ भज सकते हो? अपनी कर्तृत्वकी मर्यादासे, वहाँ देव है. वो देव आपके लिए वहाँ

प्रकट हो रहा है.

(मन्त्र)

देश काल कर्ता द्रव्य मंत्र, किस मंत्रसे भगवान्‌का ध्यान धरना चाहिये? किस मंत्रकी दीक्षा लेनी चाहिये? मुझे बराबर याद है. मैं देख रहा था उस रोज कि जिस रोज राजीव गांधीका अग्निसंस्कार हो रहा था उस रोज वृंदावनसे कुछ पुरोहित बुलवाये गये थे. और वो अग्निसंस्कारके मंत्रोके बजाय पुरुषसूक्तमंत्र बोल रहे थे. **''सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्''** (तैत्ति.आर.३।१३।२) एक पुरोहितने कहा कि ''भाई! ये मंत्र अभी नहीं बोला जाता है.'' तो बोले ''तुम चुप रहो, जो चल रहा है, उसे चलने दो.'' टी.वी.में आया था नजारा. उन्होनें पुरुषसूक्तसे ही उसका अग्निसंस्कार करवा दिया. ये तो चलो ठीक बात है, बहुत साधारणसी बात है. मेरे एक परिचित है, उन्होनें मुझसे पूछा कि ''महाराज! आप किसी पुरोहितको जानते हो?'' मैनें कहा ''हाँ! जानता तो हूँ पर कार्य क्या है?'' वो बोले कि ''विवाह करना है.'' मैनें एक दो पुराहितोंको पूछा कि ''आप विवाह कराते हो.'' तो उन्होनें कहा कि ''आपकी आज्ञा हो तो अवश्य कराऊँगा.'' मैनें दोनोंका मेल-मिलाप करा दिया. तब उनके विवाहमें जब मेरी पधरावनी हुयी तो वो लघुसिद्धांतकौमुदीके **''इको यणचि स्वाहाः एचोऽयवायावः स्वाहाः एत्येधत्यूठसु स्वाहा:''** मैनें कहा कि ''भई क्या कर रहे हो'' उसने कहा ''महाराज

मुझे विवाहके मंत्र तो आते नहीं है पर आप इस विधिको देखिये इसमें कोई गड़बड़ है?'' मैनें कहा ''नहीं, विधि तो ठीक है'' तो बोले कि ''जो मैनें मंत्र पढ़ा है वो ही तो बोलूँगा.'' मैंने कहा कि ''पहलेसे तो मुझे कहना था.'' अब मेरी ऐसी द्विविधा हो गयी कि उनको कहूँ तो उन्हें हो जाय कि हमारा विवाह हुआ कि नहीं हुआ! और इनको कहूँ तो क्या कहूँ क्योंकि भिजवाये तो मैनें ही थे. अब सवाल ये उठा कि उस स्थितिमें विवाह धर्म हुआ कि अधर्म हुआ. संस्कार हुआ कि अपसंस्कार हुआ? क्या हुआ? धीरजसे इस बातको समझो, सोचो कि धर्म अपने यहाँ एकान्तिक नहीं होता. कुछ संस्कृतमें मन्त्र हमने बोल दिया. अब वो बाहरवालेको समझमें नहीं आता है और यजमान भी इसी तरहके होते हैं. मैं अक्सर इस बातको कहता रहता हूँ कि विवाहमें जो वरवधूके बोलनेके मंत्र होते हैं वो पुरोहित बोलता है कि ''इस सुमंगली कन्याको मैं अपनी जीवनसंगिनी बनानेके लिए लेता हूँ.'' वो वर तो वधूको देखता रहता है और केवल पुरोहित ही ये मंत्र बोलता रहता है. अरे भई क्या लफड़ा है? पुरोहित है कि पूरा अहित है? पर वरका ध्यान तो वधूको देखनेमें मस्त रहता है और ये मंत्र तो पुरोहित ही बोल जाता है. अब जो मंत्र वरको बोलना चाहिये था उसका कर्ता तो बदल गया. अब कर्ता यदि बदल गया और मंत्र यदि इतना सक्षम है तो वधू वरकी हुयी कि पुरोहितकी हुयी? मैनें एक पुरोहितसे इसकी चर्चा की के ''भई! आपने वरसे तो

मंत्र नहीं बुलवाया तो ये कन्या अब आपकी पत्नी हुयी कि उसकी हुयी.'' वो बोले कि ''वकील जब ये कहता है कि माई लॉर्ड मुझे ये तकलीफ है, तो वो वकीलकी तकलीफ है कि क्लाइंटकी तकलीफ है?'' मैनें कहा ''हाँ, ये तो सच बात है.'' ऐसा होता है.

एक बार एक कारका ऐक्सीडेंट् हो गया. कारने एक गरीब आदमीको टक्कर मार दी. बेचारा गरीब आदमी रो रुआकर खड़ा हो गया. पीछेसे एक वकील आ रहे थे. उन्होनें उससे पूछा ''क्या हुआ?'' उसने कहा ''क्या करें, अपने दुर्भाग्य हैं.'' वकीलने कहा ''नहीं-नहीं, तुम्हारा अधिकार है जो चोट तुम्हें लगी है उसके लिए तुम हानिका दावा कर सकते हो.'' व्यक्तिने कहा ''पर मैं गरीब हूँ.'' वकीलने कहा ''कोई चिंताकी बात नहीं है, मैं तुम्हें पूरा हर्जाना दिलवाऊँगा.'' वो भी राजी हो गया. कोर्टमें वकीलने ऐसी ऐसी दलील दी कि ये हानि हो गयी, ऐसी हानि हो गयी, वो हानि हो गयी. वो व्यक्ति बहुत जोर जोरसे रोने लग गया. जज्ने पूछा ''रोते क्यों हो.'' वो बोला कि ''मेरी इतनी हानि हो गयी ये तो मुझे भी पता नहीं था. जब इन वकील साहबने समझाया तब समझमें आया.'' वकीलको तो बहुत सारी हानियाँ पता हैं जो क्लाइंट्को भी पता नहीं होती है. पुरोहितने भी ऐसा ही कहा. मैनें भी कहा कि मंत्रका प्रभाव ऐसा भी हो सकता है! पर ध्यानसे समझनेकी बात है कि सब जगह सब मंत्र नहीं वापरे जाते. आजकल लोग अग्निसंस्कारमें

गायत्री बोलने लग गये हैं. ''**ॐ भूभुर्वस्व: तत्सवितु: वर्रेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि**'' (ऋक्सं.३।६२।१०) अरे वो भर्गो देवस्य नहीं है शवस्य भर्ग है, देवस्य भर्ग नहीं है. मगर अब लोग बोलते हैं तो क्या करना! सबसे मजेदार बात तो ये है कि उसमें भी अब रेप् सोंग् आ गया है. गायत्रीको रेप् म्युज़िक्की तरह गाते हैं. अरे ये भी कोई मंत्र है? ''दिले नादान तुझे हुआ क्या है, आखिर इस दर्दकी दवा क्या है?''

हम किसी भी मंत्रको कहीं भी बोलना धर्म समझते हैं. हमारे शास्त्रकी दृष्टि ऐसी नहीं थी. हमारे शास्त्रकी दृष्टि थी कि ''**मन्त्रो हीन: स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह, स वाग्व्रज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रु: स्वरतो अपराधात्**'' (पाणिनियशिक्षा प्रारंभ-५२) आपने गलत स्वर लगाये, गलत उच्चारण किया, मंत्रका गलत ढंगसे उसका प्रयोग किया, किसी गलत कर्ममें आपने गलत मंत्र बोल दिया. मंत्र बोलनेसे पुण्य नहीं होता है. किसी कर्मविशेषमें मंत्र धर्मात्मक होता है, कर्ताविशेषके द्वारा, किसी प्रसंगविशेष में, किसी देवविशेषके लिए वो मंत्र विहित है, वो ही मंत्र मंत्र है. वरना वो ही शब्द केवल वैसे शब्द वैसे हैं, मगर मंत्र नहीं है.

आपको शायद पता हो कि सर् विलियम् थे, जिन्होनें संस्कृतके ऊपर बहुत रिसर्च की. वो कलकत्ता हाईकोर्टमें जज् थे. उन्होनें किसी शास्त्री पंडितसे काफी शास्त्रका

अध्ययन किया. अध्ययन करनेके बाद अचानक उन्होनें शास्त्रीजीसे पूछ लिया कि गायत्रीमंत्र क्या है? शास्त्रीजीने कहा कि गायत्रीमंत्र यदि दीक्षा विधि हो तभी बता सकते हैं वरना हम बता नहीं सकते. हमारे लिए निषेध है. दीक्षामंत्र ''**षट्कर्णो भिद्यते मंत्र**'' हम बता नहीं सकते. अब विलियम्ने शास्त्र इतने पढ़ रखे थे कि अंतमें गायत्रीमंत्र उसको पता चल गया. कई दिन बाद उन्हीं पंडितजीका केस् कलकत्ता हाईकोर्टमें चला. अब उस अंग्रेज जज्को पहचाननेमें आ गये कि ये वो ही पंडितजी है जो कि मुझे पढ़ाते थे. उस जज्ने हाईकोर्टमें वो गायत्रीमंत्र बोलकर बता दिया. फिर कहा कि ''देखो पंडितजी आपने तो नहीं बताया पर गायत्रीमंत्र तो यह ही है न!'' पंडितजीने कहा कि ''नहीं, ये गायत्रीमंत्र नहीं है'' तब वह बोला कि ''बताओ फिर, गायत्रीमंत्र और कौनसा है.'' पंडितजीने कहा कि ''वो तो गंगाजीमें स्नान करके यदि मैं बोलूँ तो वो गायत्रीमंत्र है. ये तो कुछ गायत्रीमंत्र जैसी ध्वनि है पर गायत्रीमंत्र तो नहीं है.'' ध्वनिमें और मंत्रमें कुछ अंतर है! ध्वनि तो एक जैसी हो सकती है. यदि ध्वनि वैसी ही है तो वो मंत्र है वैसी भ्रमणामें मत रहना. हमारा शास्त्र मंत्रोंको एकान्तिक धर्म नहीं मानता. जिस मंत्रका जिस कर्ममें, जिस कर्ताके द्वारा, जिस विधिके अनुसार, ठीक उच्चारण किया गया है, उस अर्थमें वो मंत्र है, वरना वो ध्वनि है पर मंत्र नहीं है. ध्वनि एक अलग चीज़ है, नादात्मक ध्वनि और मंत्र एक अलग चीज़ है. आपको

लगेगा कि बहुत पुरानी बातें मैं कर रहा हूँ. मैं पुरानी बात नहीं कर रहा हूँ बिल्कुल आधुनिक बात कर रहा हूँ.

(कर्म)

मेरी आँखोंमें एक बार तकलीफ हो गयी. मुझे किसीने कहा कि बहुत बड़ा एक नेत्रका औषधालय है आप वहाँ जाकर दिखाओ. वहाँ बहुत अच्छी चिकित्सा होती है. डेढ़ घंटा वहाँ लाईन्में बैठा तब जाकर मेरा नम्बर आया. बहुतसी दवाएं वो डालते रहे डाइल्यूट करनेके लिए. जब मेरा नम्बर आया तो डॉक्टरने मुझे देखकर कहा कि ''आपकी आँखके रोगका मैं डॉक्टर् नहीं हूँ.'' अब मैं डेढ़ घंटा वहाँ क्यों बैठा? वो बोला ''वो आप जाने पर जो रोग आँखका आपको है उसका मैं डॉक्टर् नहीं हूँ.'' अब देखो हम समझते हैं कि आँखका डॉक्टर् है माने सब आँखकी सब तकलीफोंका डॉक्टर् है. अरे भाई आँखमें भी इतना स्पेशलाइज़ेशन् हो गया है कि कोई लैंसका डॉक्टर् है तो कोई कोर्नियाका डॉक्टर् है तो कोई चीआज्मका डॉक्टर् है. कहाँका डॉक्टर् है, उसे जाने बिना हम कहते हैं कि महाराज तुम आँख ठीक कर दो. तब तो गड़बड़ हो जायगी न!

दाँत दुःखता है तो दाँत निकलवा देते थे पहले. अब कोई कहे कि आँख दुःखती है, और डाक्टर कहे कि आँख ही निकलवा दो तो वो आँखका डाक्टर है कि क्या है? अपनको उपाधि देनेमें दिक्कत हो जायगी न फिर!

कर्ताका निर्णय हमको करना पड़ेगा. ये आधुनिक बातें हैं कि नहीं! अरे क्रिमीनल् लॉके वकीलके पास सोशियल् मॅटर्का केस् लेकर जायेंगे तो वो कहेगा कि ''मेरा विषय नहीं है.'' अपन समझते हैं कि वकील साहब हैं. अरे वकील साहब है तो क्या हुआ? टेक्सेशन्के वकील सिविल केस् नहीं ले सकते हैं. उन्होनें उस विषयमें स्पेशलाइज़ेशन् नहीं किया है. इसलिए सब जगह हमको ये बात मंजूर है पर धर्ममें ये बात मंजूर नहीं है. क्योंकि हम समझते हैं कि ये दकियानूसी पुराने विचार है. यहाँ क्यों मंजूर करते हैं! मैं कुछ दिन पहले प्लेन्में इन्दौर गया था. अब लोगोंको मेरा ऐसा वेश देखकर उद्दीपन विभाव होता रहता है. प्लेन्के दो यात्री, जिससे मैं सुन सकूँ ऐसे वो बोल रहे थे कि ''इन धर्माचार्योने और धर्मगुरुओंने धर्ममें कर्मकाण्ड इतना बढ़ा दिया है, इतनी उलझन बढ़ा दी है कि लोगोंकी धर्ममें अश्रद्धा हो जाती है.'' मैं सुनता रहा, पर प्लेन्से जब हम उतरे तो एयरपोर्टका गेट् दो कदमकी दूरी पर था. पर हमको वहाँ पैदल जानेकी छूट नहीं थी. बससे ही जाना आवश्यक था. वो बस एक लंबा चक्कर काट कर फिर वहाँ आती. उसके इंतजारमें करीब बीस मिनट् हमारे और बिगड़े. पैदलका रस्ता मात्र तीन मिनट्का भी नहीं था. मैनें उन लोगोंसे धीरेसे पूछा कि – ''ये अनुष्ठान (Ritual) है कि नहीं? आपका क्या ख्याल है?'' बोले ''हाँ ये तो अनुष्ठान है.'' मैनें कहा कि ''ये अनुष्ठान आपको मान्य है तो धर्मके अनुष्ठानमें आपको

क्या आपत्ति आ गयी?'' ये कितना बड़ा अनुष्ठान है कि जो सामने दिख रहा है उसे आप नहीं पकड़ रहे हो और बीस मिनट् आपने यहाँ बाट देखी और फिर बस भी सीधी न ले जाकर, लंबा चक्कर काट कर हमें गेट् पर छोड़ेगी. क्यों? क्योंकि यदि इस तरहसे न ले जाकर सीधे ले जानेमें यदि कोई एक्सीडेन्ट् हुआ तो उसका जिम्मेदार कौन होगा? एयरपोर्ट ओथोरिटी जिम्मेदार है. हर्जाना कौन भरेगा? ये सारी सावधानी ऐयरपोर्ट ओथोरिटी लेती है.

(हमारे शास्त्र धर्मको कभी भी एकान्तिक नहीं मानते)

इस तरहसे हमारे शास्त्रोंने सारी सावधानियाँ बर्ती है. देश काल कर्ता मंत्र द्रव्य कर्म की सारी सावधानी लेनेके बाद ही किसी धर्मको किसी विशेष अर्थमें धर्म माना है. किसी भी धर्मको एकान्तिक नहीं माना कि इस धर्मका जो पालन नहीं करता है वो पापी है, नरकमें जायगा. उसको भगवान् ये त्रास देंगे. वो धर्मकी बहुत संकीर्णदृष्टि इस तरहकी रही कि जिन लोगोंने ये सोचा कि जो आपने धर्म सोचा वो ही सबके लिए है. अब कल तो गधा उठके बोलेगा कि आप होंची होंची बोलके भगवान्‌की आरती नहीं गाते हो तो आप बड़ा अधर्म करते हो तो क्या हम भगवान्‌की आरती होंची होंची बोलकर गायें? अरे गधा यदि भगवान्‌की आरती होंची होंची करके गायेगा तो भगवान् उससे खुश होगा पर हम अपने भगवान्‌की आरतीको होंची होंची स्वरमें गायेंगे तो बहुत अधर्म हो जायगा. इस बातको समझनेका प्रयास करो कि हर चीज़की

कोई एक खासियत होती है. फूल भी यदि हमको पकड़ना हो तो उसका एक अंदाज होता है. उसे डंठुलसे हम पकड़ेंगे तो फूल ताजा रहेगा और फूलकी शोभा बनी रहेगी. यदि पत्तियोंसे पकड़ लिया और मसल दिया तो फूल कुम्हला जायगा. इसी तरह धर्मको पकड़नेका हमारे भीतर एक अंदाज होना चाहिये. जैसे बिल्ली या शेरनी अपने बच्चोंको दाँतोंसे पकड़ती है वो खानेके लिए नहीं पकड़ती है पर दूसरी जगह ले जानेके लिए पकड़ती है. इतना ढीलसे नहीं पकड़ती है कि वो छूट जाय और इतनी कठोरतासे नहीं पकड़ती है कि उसके दांत उस बच्चेकी गर्दनमें गढ़ जायें. उसका एक बहुत नाजुक अंदाज होता है. उस नाजुक अंदाजसे हमको धर्म पकड़ना चाहिये. धर्मको इतनी निष्ठुरतासे दाँतसे नहीं पकड़ो कि जो इस तरहसे नहीं पकड़ता वो अधर्म है, वो काफिर है, वो पापी है. इस तरहकी संकीर्ण सोच कमसे कम हमारे भारतमें कभी नहीं थी.

(भागवतकी दृष्टि धर्मके बारेमें)

धर्मके बारेमें जो कारिकाएँ भागवतमें समझायी है. वो मैं आपके साथ शेयर् करना चाहूंगा. हम हमेशा भागवतकी कथाओंमें खो जाते हैं कि भगवान्‌ने फिर रास किया, चीरहरण किया, गोवर्धन पर्वत उठाया. इन कथाओंमें हमारा सारा धर्मका भाव कहाँ था वो भूल जाते हैं. भागवत हमको धर्मके बारेमें कितनी गंभीरता समझाना चाहती है वो आप थोड़ा धीरजसे सुनेंगे तो आपको समझमें आयेगा कि धर्मके बारेमें भागवतका विचार क्या है?

(स्वे स्वेऽधिकारे... विपर्ययस्तु दोषः स्यात्)

सबसे पहले भागवत एक बात कहती है, जैसे लोगो (logo) होता है, इस तरहसे एक बात कहती है **''स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः''** (भाग.पुरा. ११।२१।२) हर धर्ममें किसीका कुछ अधिकार होता है. जिसका जिस धर्मको करनेका कुछ अधिकार है, उस अधिकारीको उस धर्ममें यदि निष्ठा है, तो गुण है और यदि उस अधिकारीको उस धर्ममें निष्ठा नहीं है तो वो गुण न होकर अवगुण है. वो धर्म किसी औरका धर्म हो सकता है पर उसमें आपको निष्ठा क्यों हुयी? अब तो वो गुण होनेके बजाय दुर्गुण हो गया. **''स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तिताः विपर्ययस्तु दोषः स्यात्''** (वहां) जो आपके अधिकारकी बात नहीं है, उसमें यदि आपकी निष्ठा पनप गयी तो वो विपर्यय है और दोष भी है.

(निष्ठाका अर्थ)

एक बात ध्यानसे समझो कि आज निष्ठाका अर्थ भी अपनको ठीकसे मालूम नहीं है. सबसे पहली है रुचि. किसी भी कार्यमें हमारी रुचि होना. रुचिके कारण हमारे भीतर श्रद्धा आती है. हम समझते हैं कि किसीके सामने सिर झुकाना श्रद्धा है. ये श्रद्धाका सही अर्थ नहीं है. सिर झुके कि न झुके पर 'श्रद्धा'का सही अर्थ है कि जिसको आपने ठीक तरहसे जाना नहीं उसको स्वीकारनेकी अपनेमें शक्ति है कि नहीं? एक बात ध्यानसे समझो कि जब हम ट्रेन्में बैठ रहे है तो हमको पता नहीं है कि ट्रेन्के

ड्राइवर्को रातमें नींद आ जायगी कि नहीं! पर हमारी श्रद्धा है. हम अपना बिस्तर लगा कर सो जाते हैं ये सोचकर कि रातभर ड्राइवर् गाड़ी चलायेगा, ये श्रद्धा है. यदि तर्क पर आप उतर जाओ कि जैसे अपनको नींद आ रही है ऐसे ड्राइवर्को भी क्यों नींद नहीं आ सकती? वो सो सकता है, तो क्यों वो ऐक्सीडेंट् नहीं कर सकता है? अब यदि ये सोचें तो आप रात भर सो नहीं सकते. आपने बर्थ तो रिज़र्व करवा ली पर नींद आपको नहीं आयगी. आपको ट्रेन्में जो आरामसे नींद आ रही है, प्लेन्में आप सो जाते हो, उसका नाम श्रद्धा है. जिन बातोंका निष्कर्ष आप किसी केलक्युलेशन्से नहीं ले पाते पर उसको स्वीकारना चाहते हो, उसका नाम 'श्रद्धा' है. रुचिके कारण वो श्रद्धा आती है. 'श्रत्'का अर्थ होता है ''श्रत् दधाति इति श्रद्धाः''. एक सत्यका हम अपनी बुद्धिमें आधान करते हैं कि हमने ट्रेन्में बर्थ रिज़र्व करवायी है और ये ड्राइवर् हमें जहाँ जाना है वहाँ पहुँचायगा. ऐसी सोचका नाम 'श्रद्धा' है. हमने श्रद्धाको धर्मके साथ जोड़ दिया है इसलिए हमको श्रद्धाके सीमित अर्थ समझमें आते हैं. श्रद्धाका अर्थ इतना सीमित नहीं है. बहुत व्यापक अर्थ है.

जब मैं छोटा था तब मुझे समुद्रस्नानका बहुत शौक था. मैं और मेरी बुआका लड़का समुद्रस्नानके लिए साथ जाते थे. मेरी बुआ हमेशा मुझको यों टोकती कि ''तेरे बापके तो तुम दो बच्चे हो, पर मेरे तो ये एक ही है.

इसे शार्क खा गयी या ये समुद्रमें बह गया तो क्या होगा?'' हमारे यहाँ बुआको अत्ताजी कहते हैं. मैं अत्ताजीको कहता कि ''अत्ताजी, आप जिस घरमें रह रहे हैं वो भूकंपमें ढह गया तो क्या होगा?'' तो वो कहती कि ''तू तो बदमाश है, जब तू मेरे लड़केको समुद्रस्नानको ले जाता है तो मेरे दिल पर क्या गुज़रती है!'' वो बात तो मुझे भी स्वीकार्य है कि माँके दिल पर कुछ अधिक गुजरती है. मगर मेरी श्रद्धा है कि हम समुद्रस्नानको जा रहे हैं और हमको शार्क नहीं खायगी. खाती तो होगी ही न शार्क किसीको, पर हमें नहीं खायी. ''गिरी थी जिसपे कल बिजली, वो मेरा आशियां क्यूँ हो''.

ऐसा ही मान कर क्यों चलना कि शार्क खायगी ही. यदि ऐसा मानना है तो फिर यह भी मानना होगा कि कल भूकंप आयगा और ये सारा घर जो हम नया बना रहे हैं वो ढह जायगा और हम इसके अंदर दब जायेंगे. दब जायेंगे तब क्या होगा? अरे भई! कई दबे लोग भी तो निकल जाते हैं, ऐसी श्रद्धा क्यों नहीं रखते हो. एक सत्यको स्वीकारनेका माद्दा, हौसलेका नाम 'श्रद्धा' है. इस बातको आप समझो. जिसकी आप पूरी परिकल्पना नहीं कर सकते उस अपरिकल्पित सत्यको स्वीकारनेका माद्दा या हौसला या साहस है, उसका नाम श्रद्धा है. श्रद्धाके बाद उस तरहसे जब आप जीवन जीते हो और आपको कोई दुष्परिणाम प्रकट नहीं होता तो आपमें एक विश्वास प्रकट होता है.

हम समझते हैं पहला कदम विश्वास है बादका श्रद्धा है. ये बिल्कुल गलत बात है. जब हम विवाह करते है तो ये मेरे प्रति वफादार है, ये श्रद्धा ही तो होती है, विश्वास कहाँ होता है. विश्वास होता तो पत्नी इन्क्वायरी ही क्यों करती कि पतिदेव कहाँ गये? इन्क्वायरी करती है इसका अर्थ ये ही है कि श्रद्धा है पर विश्वास नहीं है. जब पत्नी किसी दूसरेसे बात करती हो तो हमारा विश्वास क्यों खो जाता है? श्रद्धा होना एक अलग बात है, जिसको कि हम कह सकते हैं कि स्वीकार करना. विश्वास होना साहसकी बात नहीं है प्रतिदिनकी आदतकी बात है. विश्वासका अर्थ मैं सरल शब्दोंमें समझा दूँ. रातको आप अपने बेडरूममें सो रहे हो. आपने बत्ती नहीं जलाई. आप बाथरूममें जाकर नल खोलते हो, बत्ती जलाए बिना भी नल कहाँ है, ये पता चल जाता है कि नहीं? ये श्रद्धासे पता चलता है कि विश्वाससे? जब रोज आपने नल खोला हो तभी विश्वास होता है कि हाँ यहाँ ही नल है. जिस श्रद्धाको हम प्रतिदिन जीते हैं, उस प्रतिदिन जीनेके कारण एक विश्वास पनपता है और जब विश्वास पनपता है, उसके कारण हमारे भीतर एक निष्ठा आती है कि अब इसको छोड़कर दूसरा कार्य नहीं करेंगे. अब इस विश्वाससे अगली स्थिति है निष्ठा. 'निष्ठा' मतलब **''नितरां स्थितिः इति निष्ठा''** अर्थात् जिस चीज़में हमारी नितरां स्थिति रहे उसे 'निष्ठा' कहते है. 'विश्वास' का मतलब है जिसको करनेमें हमारा श्वास ऊपर-नीचे न हो. जैसे कि रातको आप किसीके घरमें सो गये और रातको यदि

आपको बिना बिजलीके बाथरूम जाना पड़ा तो आपका सर फूटेगा ही, क्योंकि आपको विश्वास है नहीं. पर यदि रोज आप वापर रहे हो तो आपमें एक विश्वास पनपेगा. चाहे दिखलाई दे कि न दे, भले ही बत्ती गुल हो जाय तो भी आप बाथरूमका दरवाजा खोल सकते हो. वो दरवाजा श्रद्धासे नहीं विश्वाससे खुलता है क्योंकि आपने वो रोज किया है. उस विश्वासके कारण जो निष्ठा पैदा होती है उस निष्ठाकी बात यहाँ कर रहे हैं. **''स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तिता विपर्ययस्तु दोषः स्यात्''** (वहां) अपने अधिकारमें निष्ठा है. अब आपको ये बात समझमें आयी होगी कि अपने अधिकारमें यहाँ रुचिकी श्रद्धाकी विश्वासकी बात यहाँ नहीं है, अपने अधिकारमें निष्ठाकी बातको भागवत कहती है कि किसी धर्ममें आपको जो अधिकार है और उसमें आपकी यदि निष्ठा है तो वो आपका गुण है और यदि विपर्यय आप कर रहे हो तो वो दोष है.

(द्रव्यकी शुद्धि-अशुद्धिका संज्ञान)

ये तो एक सामान्य वाक्य है, पर यदि इसका विशेष वाक्य देखें तो वो कितना मजेदार है कि **''शुद्ध्यशुद्धी विधीयते समानेष्वपि वस्तषु द्रव्यस्य विचिकिसार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ''** (भाग.पुरा.११।२१।३) एक ही वस्तु शुद्ध भी है और वो ही वस्तु अशुद्ध भी है. जो शुद्ध है वो अशुद्ध भी है और जो अशुद्ध है वो शुद्ध भी है. क्यों? क्योंकि जो काम आपको करना है, जिस लिए करना है, उस

कामके लिए शास्त्रने गुण-दोषकी परिकल्पना की है. ये परिकल्पना कैसे है, जैसे **''अदेङ्गुण''** (पा.सू.१।१।२) **''अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात्''** (वृत्ति) तो वृद्धि क्या अवगुण या दुर्गुण है? पर पाणिनि कहता है कि **''आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्''** (पा.सू.वृ.१।१।१) अदेङ् यदि गुण है तो वृद्धि क्या दुर्गुण है? नहीं वृद्धि दुर्गुण नहीं है. उसको एक संज्ञा दी है. जब संज्ञा दी है तो उसका उस प्रकारसे संज्ञान होता है. एक सीधासा उदाहरण समझ लो कि आपका नाम आपके माता-पिताने जो भी कुछ रख दिया. कई दिन पुकारनेके बाद आपमें एक निष्ठा पनपती है. बच्चेको जब उसका नाम लेकर बुलाओ तो उसे रुचि पनपति है वो चारों ओर देखता है कि पता नहीं ये लोग क्या ध्वनि निकाल रहे हैं! पर धीरे-धीरे उसको ये पता चलता है कि जब ये लोग मुझे देखते हैं तब ये ध्वनि निकालते हैं, उसके भीतर एक श्रद्धा पैदा होती है कि शायद ये मेरा नाम है. उसी बातको जब बार-बार वो सुनता है तो उस श्रद्धाके बाद उसमें विश्वास पैदा होता है कि हाँ ये मेरा ही नाम है. फिर कोई और कहे कि ये मेरा नाम है तो वो कहेगा कि नहीं ये मेरा नाम है. ये उसका विश्वास है. उसके बाद वो सोया हुआ भी हो, तब भी उसका यदि नाम पुकारेंगे तो वो जाग सकता है. उसको यदि दूसरे नामसे बुलाओगे तो नहीं जागेगा. पर उसके नामसे बुलायेंगे तो वो जग जाता है. क्योंकि उसके भीतर उस संज्ञाकी निष्ठा पैदा होती है कि ये मेरी संज्ञा

है. मेरी संज्ञाके कारण मेरा संज्ञान मुझे होता है. वैसे जो गुण-दोषकी संज्ञाएँ शास्त्रने निर्धारित की हैं वो एकान्तिक नहीं हैं.

ठाकुरजीको हम गोपालकृष्ण कहते हैं कि नहीं? एक प्रसिद्ध चुटकुला है कि गोपालकृष्णजीकी पत्नी एक भजनमें गयी. वहाँ चल रहा था कि राधेकृष्ण हरे हरे, गोपाल कृष्ण हरे हरे. उसने सोचा कि पतिका नाम लेना तो बड़ा पाप है. उसने गाना शुरु किया कि ''राधेकृष्ण हरे हरे मुन्नीके पापा हरे हरे.'' क्योंकि उसे संज्ञान था कि 'गोपालकृष्ण' मेरे पतिकी संज्ञा है. उसने वैसे ही गाना शुरु किया. पर जिसका पति गोपालकृष्ण नहीं है उसे तो वो संज्ञान ही नहीं होगा. तो शास्त्र जब ये कहता है कि ''ये द्रव्य शुद्ध है'' तो उसका संज्ञान हमको होता है कि ये द्रव्य शुद्ध है. जब शास्त्र ये कहता है कि ''ये द्रव्य अशुद्ध है'' तो हमको संज्ञान होता है कि ये द्रव्य अशुद्ध है. उस शास्त्रनिर्णित संज्ञानके कारण कोई भी द्रव्य शुद्ध या अशुद्ध होता है. अपने आपमें न कोई द्रव्य शुद्ध है न अशुद्ध. ये हमारे शास्त्रका सिद्धांत है.

थोड़ी धीरज वापरके सोचो कि शास्त्रका धर्मके बारेमें कितना गंभीर और कितना उदात्त दृष्टिकोण है. कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जो अशुद्ध है वो अशुद्ध ही है. किस हद तक कि जो मेरे लिए अशुद्ध है वो तुम्हारे लिए भी अशुद्ध है. अरे ऐसा थोड़े ही होता है! जैसे चाचाकी

लड़की हमारे लिए बहन होती है पर किन्हीं और लोगोंके लिए पत्नी होती है. अपना संज्ञान बहनका है और उनका संज्ञान अपने विवाहयोग्य स्त्रीका है. प्रत्येकके संज्ञान अलग हैं. हम उसमें ऐसा नहीं मानते कि कोई चाचाकी लड़कीसे विवाह करता है इसलिए वो पापी है. क्योंकि उसके धर्मने उस प्रकारका संज्ञान वहाँ नहीं किया है. इसलिए हम यह समझ कर भी उसको पत्थर मारने नहीं जाते कि तुमने अपने चाचाकी लड़कीसे विवाह कैसे कर लिया! तुम पापी हो, तुम नरकमें जाओगे. हम पत्थर मारकर तुम्हारी हत्या कर देंगे, क्योंकि हमको ये संज्ञान कराया गया है कि चाचाकी लड़की हमारी बहन होती है. दूसरेके लिए वो बहन होना जरूरी नहीं है. यदि ऐसा होता तो पशु-पक्षीके लिए भी वो बहन होनी चाहिए थी. फिर तो हर पशु-पक्षीको मारो. ऐसा नहीं होता है. जो धर्म जिसके लिए धर्म है उसीके लिए वो धर्म है. दूसरेके लिए वो ही धर्म अधर्म हो सकता है, ये बात हमारे शास्त्रोंने हमको समझायी है. धर्मको इस प्रकारसे एकान्तिक नहीं मानना, ये हमारी कितनी उदात्त दृष्टि थी कि हम किसी भी एक धर्मको सबके लिए नहीं मानते थे.

उसका स्पष्ट प्रमाण आप देखिये कि हमारे यहाँ छह प्रकारके देवसंप्रदाय थे. शाक्त सौर वैष्णव गाणपत्य शैव और स्कान्ध. ये सारे संप्रदाय अपने-अपने धर्मके आराध्य देवोंको अपना आराध्य मानते थे. मगर कभी उन्होनें ऐसे नहीं सोचा कि जिस देवको हमने अपना आराध्य नहीं

माना उस देवका भजन अधर्म है, नरकमें ले जानेवाला है.

(देवार्चनके लिये मूर्तिकी शुद्धिका संज्ञान)

जैसे प्राणप्रतिष्ठाके मंत्र आप जाँच लो कि जो भी देवकी आप प्राणप्रतिष्ठा करते हो उस देवमें सारे देवोंकी प्राणप्रतिष्ठा कर दी जाती है. देवकी प्रतिष्ठा तो बहोत दूरकी कथा है. पृथ्वी तेज जल वायु आकाश दिशा काल आत्मा मन बुद्धि अहंकार चित्त और तमाम देव हम अपने देवमें प्रतिष्ठापित करते हैं. यदि आपके देव शिव हैं तो वो शिवमें प्रतिष्ठापित हो जाते हैं. यदि आपके देव विष्णु हैं तो वो विष्णुमें प्रतिष्ठापित हो जाते हैं. यदि आपका देव देवी है तो वो सारे देव उस देवीमें प्रतिष्ठापित हो जाते हैं. हमारे पुराण इस तरहके साहित्यसे भरे पड़े हुए हैं. यदि आप विष्णुपुराण पढ़ेंगे तो यही बात मिलेगी कि शिव, देवी, गणपति और अन्य देव विष्णुके भक्त हैं. यदि शिव पुराण पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि देवी, विष्णु, गणपति और अन्य देव शिवके भक्त है. यदि गणपति पुराण पढ़ेंगे तो लगेगा कि सारे ये देवता गणपतिके भक्त हैं. या तो ये सब पुराण गप्प है या इनका अभिप्राय क्या है, ये हमको सोचना पड़ेगा. यदि अभिप्राय जानना है तो कहाँसे पता चलेगा? जहाँसे अपने इष्टदेवकी प्रतिष्ठा होती है, वहाँसे पता चलेगा कि जब हम अपने इष्टदेवकी प्रतिष्ठा करते हैं तो उस प्रतिष्ठामें सारे देवोंको हम वहीं प्रतिष्ठित कर देते हैं और हम अपने इष्टदेवके प्रति अनन्य भक्तिभावसे ओतप्रोत हो जाते हैं. ये हमारी संस्कृति थी. हमने अपने देवमें सारे

देव प्रतिष्ठापित कर दिये. अब हमें किसी और चीज़की अपेक्षा नहीं है. हमारे देवमें सब देव आ गये. ये एक भावना थी तो जिस देवका हम भजन नहीं करते हैं वो भी हमारे देवमें तो हैं कि नहीं?

वो प्राणप्रतिष्ठाविधि हम देखेंगे तो पता चलता है. आज तो पुष्टिमार्गमें कबाड़ा हो गया है. वैष्णव लोग तो ये सोचने लगे हैं कि यदि महाराज चरणस्पर्श तो क्या छू भी दें तो ठाकुरजी पुष्ट हो जाते हैं. हम लोगोंको भी ऐसी भ्रमणा हो गयी है कि हम चरणस्पर्श कर दें तो ठाकुरजी पुष्ट हो जाते हैं. अरे! गुसांईजीने आखी पुष्ट करनेकी एक विधि लिखी है. पहले पुरुषसूक्तसे उस मूर्तिको शुद्ध करो. **''पुरुषएवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भव्यम् उतामृतत्वस्येशान यदन्नेनातिरोहति''** (पु.सू.२) उस सूत्रसे उस मूर्तिकी शुद्धि करो. उसके बाद उसमें कृष्णकी प्रतिष्ठा करो. वहाँ भी अपनी उस दृष्टिकी उदात्तताको भुलाया नहीं, कभी छोड़ा नहीं. चाहे वो पुष्टिमार्ग हो या मर्यादामार्ग हो, चाहे पूजामार्ग हो या शैवमार्ग हो, चाहे शाक्तमार्ग हो या वैष्णवमार्ग हो. हमारी भारतीय दृष्टिमें एक उदात्तता रही है कि जिस देवकी हम आराधना कर रहे हैं, उस देवमें सर्वदेव बिराजमान हैं. इसलिए अब हमको और किसी देवकी आवश्यकता नहीं है. पर हमको यदि आवश्यकता नहीं है तो इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि किसी दूसरेको दूसरे देवकी आवश्यकता नहीं होगी. दूसरा कोई अपने देवमें मेरे देवको प्रतिष्ठापित कर सकता है. प्रतिष्ठाविधिको आप

जाँचेगे तो आपको पता चल जायगा और वो ही बात सारे पुराण समझा रहे हैं. ये एक हमारी गरिमा थी कि हमने किसी अन्यदेवके भजन करनेवालेको कभी भी नरकगामी नहीं माना. हम भजन नहीं करते हैं, ये हमारे देवके प्रति हमारी शरणागति समर्पण भक्ति का भाव था. ये कितनी उदात्तताकी बात थी जो हमारे देवको नहीं भजता है वो मूढ़ है, वो पापी है, ऐसा कभी हमने नहीं सोचा. देवकी बात है वहाँ भी ये ही बात है, द्रव्यकी बात है तो भी वहाँ ये ही बात है. मंत्रकी बात है तो वहाँ भी ये ही बात है. जैसे हम कृष्णनामको मंत्र मानते हैं. कोई शिवनामको मंत्र मानता है तो हम ऐसे नहीं समझते हैं कि वो कुछ गलत कर रहा है. आप पुरुषोत्तमसहस्त्रनाम स्तोत्र उठाकर देख लो. महाप्रभुने पुरुषोत्तमसहस्त्रनाममें 'शिव'नाम कृष्णका माना है. शिवपुराण उठाकर देख लो. कृष्णके बहुत सारे नाम शिवके हैं. लिंगपुराण उठाकर देख लो, बहुतसे विष्णुके नाम शिवके हैं. और सभी पुराण उठाकर देख लो सारेके सारे पुराण इस बातको समझाते हैं कि ''**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च, अहंकार इतियं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**'' (भग.गीता.७।४)

भगवान् कृष्ण कह रहे हैं तो हमको लगता है कि भूमि जल तेज वायु आकाश मन अहंकार बुद्धि ये कृष्णके रूप हैं. लिंगपुराण उठाकर देख लो, तो शिवजीके लिये भी ये ही कह रहे हैं कि ''**भूमिरापोऽनलो वायुः**'' अब झगड़ो कि ये जल पृथ्वी तेज आदि शिव है कि विष्णु है. अरे

भई! जो शिवभक्त है उसके लिए शिव हैं और जो कृष्णभक्त है उसके लिए जल भी कृष्ण है. उसके लिए पृथ्वी वायु अग्नि आकाश मन बुद्धि चित्त अहंकार, सभी कृष्ण हैं. ''**सर्वं कृष्णमयं जगत्**'' और जो शिवभक्त है उसके लिए ''**सर्वं शिवमयं जगत्**'' शिवके बाहर कुछ है नहीं. अब ये कृष्ण है कि शिव है? प्रश्न ये हमारे लिए पैदा नहीं होता है. ये दूसरे लोगोंके लिए पैदा होता है कि हमने संप्रदाय खड़े किये. हमने संप्रदाय खड़े करके झगड़ा फैलाया. अरे हमने संप्रदाय खड़े करके हर देवकी वो महत्ता स्वीकारी है कि हर देवका भक्त अपने देवकी आराधनामें उतना तन्मय हो सकता है कि लोक और देव सबको भूलकर वो अपने देवका आशिक बन जाय, मजनू बन जाय. उसे और कोई समझमें न आये.

ऐसा कहा जाता है कि एक मुल्ला रास्तेमें नमाज़ पढ़ रहा था. वहाँ उसके आगेसे मजनू गुजर गया तो मुल्लाको बहुत गुस्सा आया और उसने कहा कि ''तुम्हें होश नहीं है कि मैं यहाँ नमाज़ पढ़ रहा हूँ और तुम मेरे आगेसे गुजर गये.'' मजनूंने कहा कि ''आप नमाज़में किसको याद कर रहे थे.'' मुल्लाने कहा ''मैं अपने अल्लाहको याद कर रहा था.'' मजनूने कहा ''माफ करना, मैं अपनी लैलाको याद कर रहा था, मुझे पता ही नहीं चला कि आप रास्तेमें बैठे हो.'' तो ये बात है. हम इस बातको मानते हैं. हम अपने देवके मजनू हैं. हम अपने देवके मुल्ला नहीं है. फ़रक केवल इतना है. हमने अपने देवके

मजनू बनाना चाहा है, लोगोंको मुल्ला बनाना नहीं चाहा है. मुल्लाओंको ये होश रहता है कि अल्लाहकी नमाज़ पढ़ रहे हैं तो सामनेसे मजनू कैसे निकल गया! मजनूको ये होश नहीं रहता कि जब वो लैलाको खोज रहा है तो कौन सामने है, कौन पीछे है, कौन आगे है, उसके लिए ''**सर्वं लैलामयं जगत्**'' हो जाता है. उसका नाम मजनू है. ये हमारी दृष्टिकी उदात्तता थी. वो हम भूल गये इसलिए बहुत सारी गड़बड़िया हमारे धर्मोमें दूसरे लोगोंके आक्षेपके कारण और खुदके अविश्वासके कारण फैलती है. मगर हमारे विश्वासको टटोलो, हमारे शास्त्रवचनोंको टटोलो, ये सारी बातें एकदम निहायत स्पष्ट हैं. इसलिए भागवत ये समझाती है कि ''**शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेषु अपि वस्तुषु द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ**'' (भाग.पुरा. ११।२१।३)

(भगवान्‌के सारे नाम-रूपकी विषमता धर्मके लिये है)

''**वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि धातुषु उद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये**'' (भाग.पुरा.११।२१।६) भागवत ये समझाना चाहती है कि भगवान् तो सर्वनाम सर्वरूप है, ''**सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो, नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते**'' (चित्त्युप.१२।७) सारे नाम-रूपोंको धारण करके वो परमात्मा प्रकट हुआ है. मगर हमने भजनके लिये अपना कोई एक नाम, कोई एक रूप चुना है और जिस नाम रूपको हमने भजनके लिये चुना है हम उस नाम-रूपके मजनू है. उस नाम-रूपके मुल्ला नहीं है. इसलिए

वेदशास्त्रने ''**नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि**'' समान रूपोंमें विषमता प्रकट की है. विषमता इसलिए प्रकट की है कि हम मजनू हो पायें. सबको भूलकर अपनी लैलाको पकड़ पायें, खोज पायें. इसलिए नहीं कि अपनी लैलाको छोड़कर मुल्लासे झगड़ें. जब हम मुल्लासे झगड़ रहे हैं तो हम भी मजनू नहीं है. इसलिए मैं एक बात अक्सर कहता हूँ कि भक्त होना जितनी अच्छी बात है, भक्तिवादी होना उतनी ही ख़तरनाक बात है. हिन्दु होना जितनी अच्छी बात है, हिन्दुवादी होना उतनी ही ख़तरनाक बात है. मुसलमान होना जितनी अच्छी बात है, इस्लामवादी होना उतनी ही ख़तरनाक बात है. क्योंकि उसमें हमारा ध्यान लैलाकी बजाय किसी मजनू पर टिकता है. हम जिसकी नमाज़ पढ़ रहे हैं उसे ये क्यों नहीं खोज रहा है! अरे तुमको जो पसन्द आता है तुम खोजो उसे अपनी नमाज़में. हमको जो पसन्द आता है हम उसे खोजेंगे. ''कवि ठाकुर प्रीत करी है गोपालसों टेरे कहों सुनि ऊँचे गले. हमें नीकी लगी सो करी हमने, तुम्हें नीकी लगी न लगो तो भले.''

उतना विश्वास हमारे भीतर होना चाहिये. उतनी निष्ठासे जब हम अपने इष्टदेवकी आराधना करते हैं तो फिर कुछ अधर्म नहीं रह जाता, इस बातको समझो. हम कोई संकीर्ण विचारके नहीं है. हमारे विचारोंकी उदात्तता ही इस बातमें निहित है कि हम ''**आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः**'' हम आत्मरुचिके अनुसार दूसरेकी रुचिको मान्य रखते हैं. हम अपनी आत्मश्रद्धाके अनुसार पर-श्रद्धाको मान्य

रखते हैं. हम अपने आत्मविश्वासके अनुसार पर-विश्वासको मान्य रखते हैं और हम हमारी आत्मनिष्ठाके साथ पर-निष्ठाको मान्य रखते हैं. **''स्वे स्वे अधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तता''** (भाग.पुरा.११।२१।२) अपने अपने अधिकारमें जो निष्ठा है वो गुण है **''विपर्ययस्तु दोषः स्यात्''** (वहीं) ये बात भागवत हमें धर्मके तहत समझाना चाहती है. जिस देश काल कर्ता द्रव्य मंत्र में हमारा अधिकार है उसमें निष्ठा होना हमारा गुण है. उसमें निष्ठा न होकर गाँवसे झगड़ना हमारा धर्म नहीं है.

(द्रव्यकी शुद्धि-अशुद्धिका प्रकार)

इसलिए भागवत हमें समझाती है कि **''द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येन वचनेन च''** कोई द्रव्य शुद्ध कैसे होता है, कोई द्रव्य अशुद्ध कैसे होता है, तो बहुत अच्छी बात भागवत हमें समझा रही है कि द्रव्यकी शुद्धि कभी द्रव्यसे होती है, कभी वचनसे होती है. कितने प्रकारसे द्रव्यकी शुद्धि की जा सकती है, कितने प्रकारसे द्रव्य अशुद्ध होता है, उसकी पूरी लिस्ट भागवत देती है कि **''द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च [१]द्रव्येण [२]वचनेन च [३]संस्कारेणाथ [४]कालेन [४]महत्त्वा[५]ल्पतयाथवा [७]शक्त्याऽशक्त्याथवा [८]बुद्ध्या [९]समृद्ध्या च यदात्मने अघं कुर्वन्ति हि यथा देशावस्थानुसारतः''** (भाग.पुरा. ११।२१।१०-११)

('द्रव्येण'=द्रव्यसे शुद्धि)

किसी भी द्रव्यकी शुद्धि और अशुद्धि किन-किन प्रकारोंसे होती है? भागवत कहती है कि जैसे अपने

खानेका बर्तन है, वो झूठा हो गया तो वो मांजनेसे शुद्ध होता है. अब वो मांजनेसे कैसे शुद्ध होता है? तो शास्त्रने ऐसा विधान किया है कि जो झूठा बर्तन है, जो उसमें लगी हुयी गंध और लेप है वो जिस द्रव्यसे दूर होती है उससे उसे दूर कर दें, तो वो बर्तन शुद्ध है. ऐसा माना जाता है कि हर द्रव्यकी एक प्रकृति है. उस प्रकृतिमें यदि कोई विकृति उत्पन्न हुयी तो वो अशुद्ध माना जाता है. अब देखो जब दूधको दही जमानेके लिए हम जब दही डालते हैं तो उस विकृतिको विकृति नहीं माना गया है. पर खानेके बर्तनमें यदि तेल चिपका रह गया तो उसे विकृति माना गया है क्योंकि उस बर्तनकी प्रकृति तेलवाली नहीं थी न! उससे वो चिकना हो गया तो वो अशुद्ध हो गया. उस चिकनाहटको आपने दूर कर दिया तो वो शुद्ध हो जाता है. इसलिए शास्त्र कहता है कि **''अमेध्यलिप्तं यद् येन गंधं लेपं व्यपोहति भजते प्रकृतिं तस्य तत् शौचं तावद् इष्यते''** (भाग.पुरा.११।२१।१३) किसी भी अशुद्ध चीज़से कोई चीज़ लिप्त है, वो गंध हो या लेप हो, उसे दूर कर दो और अपनी प्रकृतिरूपमें वो वस्तु यदि वापस आ जाती है तो वो वस्तु शुद्ध है.

('वचनेन'=वचनसे शुद्धि)

''वचनेन च'' भागवत कहती है कि कई द्रव्योंकी शुद्धि द्रव्यसे भी आवश्यक नहीं है, वो वचनसे भी शुद्ध हो सकती है. जैसे अपने यहाँका उदाहरण लें तो सेवामें किसका अधिकार है? जिसको शरणागतिकी दीक्षा है. या

जिसको ब्रह्मसंबंधकी दीक्षा है. वो वचन ही तो है न! कानमें ''**श्रीकृष्ण: शरणं मम**'' वचन कहनेसे वो शुद्ध हो गया. वचन नहीं कहा तो वो अशुद्ध है. अब वो शुद्ध है कि अशुद्ध है? इसको लेकर कोई गाममें चला जाय कि हर वस्तुकी शुद्धि हम ''**श्रीकृष्ण: शरणं मम**'' कहकर करेंगे. अरे भई हर चीज़की शुद्धि ''**श्रीकृष्ण: शरणं मम**''से नहीं होगी. कलको तो आप भैंसकी भी शुद्धि इस मंत्रसे करोगे! ''बीन बजावे भैंसकु, भैंस खड़ी बगुराय.'' भैंसके आगे ''**श्रीकृष्ण: शरणं मम**'' कहनेसे भैंस शुद्ध नहीं होगी. क्योंकि वो जिसके लिए विधान किया गया है, उस वचनसे वो शुद्ध है. जैसे गायत्री बोलनेसे हर व्यक्ति शुद्ध या ब्राह्मण नहीं होता. किसी वचनसे कोई शुद्ध होता है किसी वचनसे कोई अशुद्ध होता है. जब भी किसीको मुसलमान बनाना होता था तो उसके कानमें ये कलमा पढ़ दिया जाता था ''ला इलाह इल्लिाह, मोहम्मद रसूलिल्लाह'' बस हिन्दु मान लेते थे कि इसके कानमें कलमा पढ़ दिया. बस ये मुसलमान हो गया, वचनसे अशुद्ध हो गया. अरे ''ला इलाह इल्लिाह'' माने और कोई अल्लाह नहीं, अल्लाह एक है, क्या हमको ये मान्य नहीं है क्या? ''**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**'' (छांदो.उप.६।२।३) ये तो हम मोहम्मद साहबके पहलेसे कहते आये थे. अब ''मोहम्मद रसूलिल्लाह'' हमने कब इन्कार किया था कि मोहम्मद अल्लाहके रसूल नहीं हो सकते हैं. हम तो हर वक्त ये कहते आये थे कि ''**आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति**'' (भाग.पुरा.११।२९।६) आचार्यके चैत्यवपुसे अपनी गतिको

प्रकट करता है. देवता स्वयं ये कहते हैं कि ''हम अपना कुछ उपदेश तुमको समझा सकते हैं पर स्वरूप क्या है सच्चा, ये हम नहीं समझायेंगे, ये तुमको आचार्य समझायेगा. ''**आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं**'' (छांदो.उप. ४।९।३) अब वहाँ कौन आचार्य है? मध्वाचार्य शंकराचार्य पर आज तो वो कोई भी आचार्य मौजूद नहीं है. आपको जो भी आचार्य मिल गया, वो जो भी आपको ब्रह्मका उपदेश देता है, अल्लाहका उपदेश देता है वो आपका आचार्य है. यदि मोहम्मद साहब अल्लाहके उपदेशक आचार्य होते हों तो उसमें भारतीय चिंतनको आपत्ति नहीं हो सकती है तो इस कलमाके किसी भी हिस्सेसे हमारे धर्मको आपत्ति नहीं है, यह निश्चित है. क्यों आपत्ति नहीं है? क्योंकि अल्लाहने मोहम्मद साहबके द्वारा कुछ प्रकट किया है, वो ही तो बात मोहम्मद साहब कह रहे हैं तो वो आचार्य हैं. पाणिनि तो स्पष्ट ये कहता है कि ''**नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्का नवपंचवारम् उद्धर्तुकाम: सनकादि सिद्धान् एतद् विमर्शे शिवसूत्र जालम्**'' (पा.मा.सू– नंदिकेश्वरकृत व्याख्या)

पाणिनि आचार्य है कि नहीं? भाष्य उठाकर देख लो पतंजलिका. पातंजलि स्पष्ट ये कहते हैं कि पाणिनि आचार्य है. जिसको आधिदैविक जो ज्ञान प्राप्त हुआ, वो ज्ञान यदि बाँट रहा है तो वो 'आचार्य' है. जिनको अल्लाहका ज्ञान मिला है, वो अल्लाहका ज्ञान बाँट रहे हैं. हमको कोई आपत्ति नहीं है. उनको यदि आपत्ति हमारे आचार्योसे

होती हो तो हम क्या कर सकते हैं?

''या रब वो न समझे हैं न समझेंगे मेरी बात'' कैसे हम समझायें कि आप समझें, बस बात इतनी सी ही है. आपकी बात हमें तो समझ आ रही है पर हमारी बात आपको समझमें न आती हो तो क्या करें? हम तो यही समझते है कि आपके रूपमें भगवान् कुछ और लीला कर रहा है! पता नहीं क्या लीला कर रहा है जो कि हम समझ नहीं पा रहे हैं. पर हमारी ये श्रद्धा है कि वो भी भगवान्‌की एक लीला ही है. ये तो हम मानते ही है. देखो कि वचनसे भी शुद्धि होती है. वचनसे अशुद्धि भी होती है. जैसे इस्लाममें तीन 'तलाक' कह देनेसे स्त्री पत्नी सह संभोगार्थ अशुद्धि हो जाती है.

(**'संस्कारेण'= संस्कारसे शुद्धि**)

संस्कारसे भी शुद्धि होती है. जैसे अरीसाको पोंछ कर साफ कर दिया तो मूंह देखा जा सकता है. विवाहके संस्कार या यज्ञोपवीत के संस्कारद्वारा स्त्री-पुत्र वैदिक कर्मोके अनुष्ठानमें सहभागी होनेको शुद्ध हो जाते है. जैसे प्राणप्रतिष्ठासंस्कारसे देवमूर्ति पूजा-आराधनार्थ शुद्ध हो जाती है.

(**'कालेन'=कालसे शुद्धि**)

भागवतकी बात देखो कि बहोत सारे द्रव्य ऐसे हें कि जिनकी न द्रव्यसे शुद्धि होती है, न वचनसे शुद्धि होती है,

न संस्कारसे शुद्धि होती है पर थोड़ा समय बीत जाय तो अपने आप वो शुद्ध हो जाता है. आपको आश्चर्य होगा कि ऐसे कैसे हो सकता है? पर समझो कि शहरमें कहीं कोई श्मशान था जहां बरसोंसे वहाँ शव जलने बंद हो गये. किसीको याद भी नहीं रहा कि यहाँ कभी शव जलते थे. श्मशानभूमि अशुद्ध होती है पर लंबा काल बीत जाने पर वो भूमि अपने आप शुद्ध हो जाती है. अब कोई ऐतिहासिक अन्वेषण करके यह खोज निकाले कि चारसौ-पाँचसौ साल पहले यहाँ शव जलते थे. जब जलते थे तब वो भूमि अशुद्ध थी पर अब नहीं है, **''कालेन शुद्धि''** हो गयी. ये समझो कि अपने धर्मके कन्सेप्ट्में कितनी उदात्तता है कि कैसे-कैसे अशुद्धि होती है, कैसे-कैसे शुद्धि होती है. इस बातका पहले भागवत खुलासा करती है कि ये सब संज्ञान है. ये इस द्रव्यकी संज्ञा है **''अदेङ्गुण: वृद्धिरादैच्च, इकोयणचि''** ये सब संज्ञा है, इनका संज्ञान हमें होना चाहिये. अरे भई! जानवरको कुत्तेको अपन 'टोमी' 'टोमी' कहकर समझा देते हैं. उसको भी संज्ञान हो जाता है फिर हमें क्यों नहीं होता? क्यों हम ऐसा नहीं मानते कि ये संज्ञा न होकर सचमुचमें कोई द्रव्य अशुद्ध है. फिर हमको घबराहट होती है कि ये द्रव्य अशुद्ध है. अरे! उस द्रव्यका संज्ञान पहले अपेक्षित है. हम संज्ञान तो करते नहीं और द्रव्य पर सारा भार दे देते हैं. द्रव्य कोई न शुद्ध है और न अशुद्ध है. द्रव्यको तो इन सारी विधियोंसे शुद्ध या अशुद्ध किया जा सकता है.

(द्रव्यकी शास्त्रोक्त शुद्धि–अशुद्धिके संज्ञानसे विपरितसंज्ञान)

पुष्टिमार्गका एक केन्सर् रोग है कि कुँआका जल शुद्ध होता है और नलका जल अशुद्ध होता है. महाप्रभुजीसे आप पूछो तो आप कहते हैं कि ''अशुद्ध जल कैसा कि जैसे कुँएका.'' क्योंकि महाप्रभुजीके जमानेमें नदी तलाब में प्रदूषण नहीं हुआ था. महाप्रभुजी कहते हैं कि कुँएमें प्रदूषण हो सकता है. कोई कुल्ला कर सकता है, कोई कपड़े धो सकता है. किसीने उस जलकी गरिमा नहीं निभाई तो वो जल प्रदूषित हो सकता है और महाप्रभुजी कहते हैं कि कुँआ तभी शुद्ध होता है यदि उसको शुद्धिसे रखा जाय. यदि आपने उसे अशुद्ध कर दिया, उसके पाल पर थूककर या कोई और गड़बड़ करके तो कुँएका जल अशुद्ध है. हम पुष्टिमार्गीय कुँएको पकड़कर बैठे हैं कि कुँआ चाहिये, कृष्ण डूब जाय तो डूब जाय. ये किस तरहकी हमारी अक्कल हो गयी है कि हमें कुछ समझ ही नहीं आता!!!

''या इलाहि ये माजरा क्या है,
दिले नादान तुझे हुए क्या है?
आखिर इस दर्दकी दवा क्या है?''

आखिर इस दर्दकी दवा कहाँसे खोजनी? महाप्रभु तो यहाँ तक कहते हैं कि कुँआका जल तुम्हारे लिए अशुद्ध होगा पर कृष्णके लिए तो सब चीज़ चल सकती है तो कुँएका जल वापरो. कुँएके जलकी महाप्रभुने आज्ञा नहीं,

छूट दी है. हमने उस कुँएको ऐसा पकड़ लिया कि कृष्णको छोड़ देंगे, सेवा नहीं करेंगे यदि कुँएका जल नहीं है तो. अब कुँएमें चाहे गटरका जल मिल गया तो भी कुँएके जलसे ही सेवा करेंगे, नलके जलसे नहीं करेंगे. नलका जल अशुद्ध होता है, कहाँ है ये वचन शास्त्रोंमें ये बताओ. शास्त्र कह रहा है कि वचनसे शुद्धि अशुद्धि होती है, तो बताओ ये वचन कहाँ है शास्त्रमें कि नलका जल अशुद्ध है. क्योंकि उस जमानेमें जब नल ही नहीं थे तो वचन कहाँसे आयगा!

एक बात बताऊँ आपको कि धर्मके बारेमें हमारे धारणाएँ कैसी हो गयी है कि शास्त्रमें स्पष्ट लिखा है कि नावमें जब भी हमें नदी पार करनी है तो ब्राह्मण और शूद्र में छुआछूत नहीं मानी जाती है. हम रेलको छुआ मान लेते हैं कि हम रेलमें बैठ गये तो छू गये. कहते हैं कि रेलमें लोग नोन्–वेज् खाते हैं तो उनके छूनेके कारण हम छू जाते हैं. नोन्–वेज् खानेवाले लोग यदि प्लेन्में या बसमें अपने पास बैठ जाय तो छू जायेंगे कि नहीं? पर नहीं, बस बात दिलमें बैठा ली है कि बसमें बैठनेपर नहीं छुए पर रेलमें बैठनेपर छू गये. अब एक बात समझो कि यदि मांसाहार खानेवालेसे छू जाते होते तो आपके घरमें छिपकली इतनी कीड़े–मच्छर खा जाती है तो आपकी दीवार छू गयी कि नहीं छू गयी? आप उसको कैसे समझाओगे कि ''मत फिरो हमारे घरमें. हमने पक्की मरजाद

ले रखी है, नोन्-वेज् खानेवालोंको हम अछूत मानते हैं, हमारे घरमें मत घूमना.'' उसको ये कह कर तो देखो. आप बत्ती बुझाओगे तो रातमें अंदर आ जायगी. हमको तो ये बात समझमें ही नहीं आती कि क्या है ये सब? धर्मको अनुसरणमें ये क्या चक्कर हो गया है! धर्मपुरुषार्थको जीनेमें कहाँ हमारी अक्कल फिर गयी है, ये हमको समझमें नही आता. शास्त्र किस तरहसे उसको समायोजित कर रहा है और हम उसको किस तरहसे नियोजित कर रहे हैं!!!

एक गुसांईजीकी वार्ता आपको बताऊँ. बड़ी मजेदार वार्ता है. गुसांईजीने श्रीनाथजीकी पाग रंगनेके लिए रंगरेजके पास किसीको भेजा. वो व्यक्ति वहाँ जाकर लौटकर वापस आ गया. गुंसाईजीने कहा कि श्रीनाथजीकी पाग रंगाकर क्यों नहीं लाये? उसने कहा कि वो मुँहमें रंग भरकर कुल्ला कर रहा था रंगनेके लिए. गुंसाईजीने कहा कि ''मैनें तुमको रंगरेजके पास पाग रंगवानेके लिए भेजा था कि वो पागको केसे रंगता है, ये देखनेके लिए भेजा? वो रंगरेजका विषय है, वो तेरा विषय नहीं है.'' बात ध्यानसे समझो कि छूता कब है? यदि 'हम' श्रीनाथजीकी पाग पर कुल्ला करें, तब वो छू जाती है. रंगरेज यदि कुल्ला कर रहा है तो नहीं छूती है. किसान यदि अपने खेतमें गेहूँ पर रोटी खाता है तो क्या गेहूँ झूठा होता है? नहीं होता पर यदि हम खायें तो झूठा होता है. ये अलग-अलग संज्ञान है. गेहूँका उसमें कुछ भी भेद नहीं है पर हमारा

संज्ञान है कि ये छुआ है और ये नहीं छुआ है. ये शास्त्रके आधार पर ही निर्धारित करना पड़ेगा कि ये वस्तु छू गयी और ये वस्तु नहीं छुई. हमने द्रव्योंको पकड़कर मान लिया कि ये द्रव्य शुद्ध है और ये द्रव्य अशुद्ध. पुष्टिमार्गमें एक ब्रह्मसे ज्यादा व्यापक धारणा है कि कोरा कपड़ा शुद्ध है. मैं मिलमें देखकर आया कि कपड़ा वहाँ पचासोंबार मटन्टॅलोसे धोया जाता है. कोरा कपड़ेसे अशुद्ध और कोई कपड़ा नहीं होता दुनियामें. मगर हम कहते हैं कि कोरा कपड़ा पहन कर हम छुए नहीं जाते हैं. धुले कपड़ेसे छू गया छू गया छू गया. इन छछूँदरोसे ज्यादा छू छू हम करते रहते हैं. ये सब क्या हो गया है? थोड़ा शांतिसे विचारो कि धर्मपुरुषार्थका समायोजन हम किस तरहसे कर रहे हैं और किस तरहसे अनियोजितरूपमें हम धर्मका दुरुपयोग कर रहे हैं, ये हमको समझ नहीं आता. किन्हीं लोगोंका कुछ स्वार्थ होगा, किन्हीं लोगोकी कुछ अज्ञानता अथवा मूढ़ता होगी मगर इन सब बातोंसे धर्मको कोई दरकार नहीं है.

धर्मको दरकार है **''वेदप्रणिहितो धर्मो''** (भाग.पुरा. ६।१।४०) शास्त्र जो कहता है वो धर्म है. शास्त्र जो नहीं कहता वो धर्म नहीं है. शास्त्र जिसकी संज्ञा 'धर्म' करता है **''इको यणचि''**की (पा.सू.६।१।७७) तरह, जहाँ **'यण'** संज्ञा नहीं करता वहाँ 'यण' संज्ञा नहीं है. जहाँ शास्त्र 'गुण' संज्ञा करता है वहाँ 'गुण' संज्ञा है जहाँ नहीं करता वहाँ गुण संज्ञा नहीं है. इस तरह धर्मके बारेमें भी है.

वस्तुसे धर्म-अधर्मका कुछ भी लेना देना-नहीं है.

(महत्त्व अथवा अल्पतया)

भागवतकार कह रहे हैं ''**महत्त्वाल्पतया अथवा**'' (वहां) वो ही वस्तु यदि अधिक प्रमाणमें है तो नहीं छूती है, और यदि अल्प प्रमाणमें होती है तो छू जाती है. अपने पुष्टिमार्गीय उदाहरणसे मैं आपको समझाना चाहूँगा. किसीने पानी ढोल दिया, जो कि खुद छुआ हुआ है, आपका उसमें पैर पड़ गया तो छू गया, छू गया शोर मच जाता है. क्योंकि पानी वहाँ पड़ गया था और आपने क्यों पैर उसमें डाल दिया! अब बरसातमें तो सारी जमीनपर पानी पड़ा है. उसमें सभी पैर रखते हैं तो क्या छू जाता है? नहीं छूता. क्योंकि वो अल्प नहीं है. इसीलिये शास्त्रमें इस बात का एक बहुत मजेदार खुलासा आया है कि यदि नदीमें बाढ़ आ जाय और गटरका पानी और नदीका पानी एकमेक हो कर आपके घरमें घुस जाय तो घर छू जायगा कि नहीं? शास्त्र कहता है कि नहीं छुआ, क्योंकि अल्प प्रमाणमें नहीं हुआ है महत् प्रमाणमें हुआ है. शास्त्र कहता है कि जब शहरमें जनसम्मर्द=मेला हो गया, जिसमें हजारों लोग आ गये और उसमें आप कहो कि ''मैं अपरसमें हूँ, मुझे छूना मत'' अरे, जब चलनेकी जगह नहीं है तो कोई आपके लिए जगह कैसे खाली करेगा! जनसम्मर्दमें आदमी नहीं छूता है ये शास्त्रका स्पष्ट आदेश है. हमारे यहाँ बम्बईमें, ट्रेन्में भी ये ही हाल है. गुजरातमें एक शहाबुद्दीन राठोड़ है, वो सबको हँसाते हैं. उन्होनें ट्रेन्के बारेमें एक

बहुत अच्छा व्यंग्य कहा है. वो पूछते हैं कि इन बम्बईकी ट्रेनोमें हेन्डल् क्यों लटकाये जाते हैं. किसीने जवाब दिया कि ''कोई गिर नहीं पड़ें इसलिए.'' उन्होनें कहा कि ''पर ट्रेनमें गिरनेकी जगह कहाँ है ये तो बताओ!'' भगवान् गीतामें कहते हैं कि ''**प्रकृते क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: अहंकार-विमूढात्मा 'कर्ता अहम्' इति मन्यते**'' (भग.गीता.३।२७) इस गीताके वचनकी सच्चाई आप बम्बईकी ट्रेन्में बैठो तो समझमें आ जाती है. न तो आप अपनी इच्छासे चढ़ सकते हो, न अपनी इच्छासे उतर सकते हो, न अपनी इच्छासे खड़े रह सकते हो. आप शपथ लेकर जाओ कि हम कभी हमारी पत्नी या प्रेयसी के साथ बिछुड़ेंगे नहीं पर उस भीड़में आप साथ रह नहीं सकते, बिछुड़ोगे ही. जैसे बाँधमेंसे पानी छूटता है उस तरहसे वहाँ पब्लिक् छूटती है, फिर गिरनेकी जगह कहाँ है. इस तरहके जनसम्मर्दमें हम कहें कि ट्रेन्में बैठनेसे आदमी छू जाता है, बसमें बैठनेसे नहीं. बताओ शास्त्रका वचन कहाँ है. उस समयके पब्लिक ट्रांसपोर्ट नावमें नहीं छूता था, ऐसा शास्त्र कहता है तो ट्रेन भी तो एक पब्लिक ट्रांसपोर्ट है. उसमें हमने छुआ दिया क्योंकि कोई ट्रेन्में नोन्-वेज् खाते हैं. समझो किसी कौएने आपके घर पर कुछ डाल दिया तो क्या आपका घर नहीं छु जायगा. अब सारे घरको खासा करो. इन सारी बातोंको हमने कभी कोई विचार नहीं किया. बिना सोचे समझे कुछ अपनी इच्छासे धर्मका अनियोजित पालन कर रहे हैं.

(कर्ताकी शुद्धिका प्रकार: ''स्नानदानतपोऽवस्था वीर्यसंस्कारकर्मभि: मत्स्मृत्या चात्मन: शौचम्...आदि'')

अब द्रव्यके बाद कर्ताकी शुद्धिके बारेमें शास्त्र क्या कहता है? कर्ताकी स्नान दान तप द्वारा अवस्थाके अनुसार शुद्धि होती है है. अवस्थाके अनुसार कैसे शुद्धि होती है? शास्त्र कहता है कि बच्चा बाल्यावस्थाके कारण छूता नहीं है. रुग्ण व्यक्ति रुग्णावस्थाके कारण छूता नहीं है. हम यदि स्वस्थ हैं तो छू जाते हैं, हम यदि मॅच्योर्ड् है तो छू जाते हैं. बालक इम्मॅच्योर्ड् है इसलिए नहीं छूता है. अवस्थाके कारण कोई चीज़ शुद्ध है कोई चीज़ अशुद्ध है. कोई धर्म शुद्धि अशुद्धि का एकान्तिक नहीं है, अनेकान्तिक है. जो शुद्ध है वो ही अशुद्ध है और जो अशुद्ध है वो ही किसी अर्थमें शुद्ध हो सकता है. इस दृष्टिकी व्यापकताका कभी तो ख्याल करो! कभी तो ख्याल करो कि हमारी धर्मके बारेमें दृष्टि कितनी व्यापक और उदात्त थी!''**स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभि:**''(भाग.पुरा. ११।२१।१४) जो शुद्धिके कर्म बताये गये हैं उस शुद्धिके कर्मकी यदि आपके पास सामर्थ्य नहीं है तो वो शुद्ध है और यदि सामर्थ्य है तो अशुद्ध है. अपने यहाँ वार्तामें आता है कि दो यात्री ब्रज आ रहे थे और उनके चौकेमें कुत्ता घुस गया तो गुसांईजीने आज्ञाकी कि जो फिरसे रसोई बना सकता है उसका छू गया और जो फिरसे रसोई नहीं बना सकता उसका नहीं छूआ. ऐसा कैसे हो सकता है! हम इस बात पर ध्यान नहीं देते हैं कि गुसांईजीने किस बात पर छुआ माना और किस बात पर नहीं माना.

हम इस बात पर ध्यान अत्यधिक देते हैं कि कुत्ता छू गया. माने कुत्ता कोई भगवान्का रूप न होकर शैतानका रूप हो! कुत्ता भी भगवान्का रूप है. अपने यहाँ कोई शैतान है ही नहीं ''**एकमेवाद्वितीयं**'' (छांदो.उप.२।१) मगर जो फिरसे रसोई बना सकता है उसको ये संज्ञान कराया गया है कि कुत्ता अमेध्य है. यदि वो तुम्हारे चौकेमें घुसा तो छू गया. और जो शुद्ध नहीं कर सकता है उसे कहा कि तुम्हें शुद्धिकी जरूरत नहीं है, तुम आनन्दसे करो. ये जो जीवितपना है धर्मके पालन में, ये कोई मेकेनिकल् रिलीजन् नहीं है. ये लाइवली रीलीजन् है. एक जीनेकी कला है.

अपने यहाँ धर्म एक जीवन जीनेकी कला थी. यदि उसको कलाकी तरह जीयोगे तो धर्म कितना सुखद शुभद और सुंदर है वो हमें समझमें आयगा. पर जब हम उसे मेकेनिकली मशीनकी तरह जीते हैं तब वो धर्म दुःखद अशुभ और असुंदर बन जाता है. वो धर्मपुरुषार्थ है इसमें संदेह नहीं है पर हम जीवनमें धर्मपुरुषार्थका समायोजन नहीं कर पा रहे हैं मेनेजमेंट् नहीं कर पा रहे हैं कि जिसके कारण वो धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति सबमें सहायक हो जाय. हमारा धर्म कहीं न कहीं हमारी भक्तिमें बाधक होता है. किस सीमा तक छू गया, छू गया, छू गया. भक्ति मत करो तो चलेगा मगर धर्म करना बहोत जरूरी है. अब तो ये धर्मके बजाय अधर्म हो गया क्योंकि भागवत और महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के अनुसार धर्म अर्थ

काम मोक्ष के भक्तिके अंगतया अनुष्ठान करने चाहिये. भक्तिको धर्म अर्थ काम मोक्ष के अंगतया करनेका अपने यहाँ फ्रेम्वर्क् नहीं है. भक्ति नहीं होती है, ये हम नहीं कहते हैं. जो अर्थपुरुषार्थी है वो अर्थपुरुषार्थमें भक्तिकी प्रतिष्ठा कर सकता है. जैसे शिवभक्त, अपने शिवकी मूर्तिमें कृष्णकी प्रतिष्ठा कर सकता है. जैसे विष्णुभक्त, विष्णुमूर्तिमें शिवकी प्रतिष्ठा कर सकता है. ऐसे जो अर्थपुरुषार्थी है वो अपने अर्थपुरुषार्थमें भक्तिकी प्रतिष्ठा कर सकता है. परन्तु जो भक्तिपुरुषार्थी है उसे अर्थपुरुषार्थमें भक्तिकी प्रतिष्ठा करना अधर्म है और अर्थपुरुषार्थकी भक्तिमें प्रतिष्ठा करना धर्म है. ये हमारी चारों-पाँचों पुरुषार्थोंके समायोजनकी इनसाइट् थी. वो इनसाइट् आज हमारे भीतर कहीं खो गयी है और इससे बहोत तकलीफ़ बढ़ गयी है. वो जीवन एक जीनेकी कला न रहकर एक त्रास, एक यंत्रणाका रूप ले चुकी है.

(मन्त्र)

मंत्रके बारेमें कितनी अच्छी बात भागवत समझाती है कि **''मंत्रस्य च परिज्ञानं''** (भाग.पुरा.११।२१।१५) मंत्र बोलना मंत्र नहीं है, मंत्रका परिज्ञान होना चाहिये. इस मंत्रका देवता कौन है? इस मंत्रको कौन बोल सकता है? इस मंत्रको कहाँ बोलना चाहिये? राजीव गाँधीके अग्निसंस्कारमें पुरुषसूक्त नहीं बोला जा सकता है. अग्निसंस्कारके अलग मंत्र है. और सचमुचमें इतने अच्छे अच्छे मंत्र है. आज तो अपन हिन्दुओंका दुर्भाग्य है कि हम अग्निसंस्कार नहीं करते मुर्दोको केवल जलाते हैं.

भारतीय पद्धतिमें शवदाह संस्कार है. मुर्देको जलाना नहीं है. मैं इस बातको तहेदिलसे मानता हूँ कि मुर्दा जलाना है तो इलेक्ट्रीक् श्मशान बहुत अच्छा है. हजार गुना बेहतर है. पर अग्निसंस्कार करना है तो इलेक्ट्रीक् श्मशान उचित नहीं है. मगर हम उल्टा क्रम चलाते हैं कि संस्कार समझ कर जलाते हैं. संस्कार समझ कर जलाया नहीं जाता. आपको ख्याल होना चाहिये कि जब शवको हम श्मशानमें ले जाते हैं तो उसके आगे एक हंडिया जाती है. वो अग्नि कौनसी थी जो अपने घरमें देवके रूपमें बिराजमान आराधित अग्नि थी. और **''अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्''** (ऋक्सं. २।५।१०।१) हे अग्नि तू हमको आगे सुपथ पर ले जा. जीवन भर तेने हमारा मार्गदर्शन किया है. अब जीवनोत्तर मार्ग भी जो हमारे लिये सुपथ है उस पर ले जा. अग्रणी तू है अग्रे नयति इति, कस्माद् अग्नि, अग्रे नयति इति 'अग्नि' आगे ले जानेवाली जो अग्नि है वो जाती है. आजकल तो घासलेटसे जलाते हैं, कोई देवकी अग्नि तो है नहीं. हाँ यदि **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** की दृष्टिसे अग्नि मानना है तो फिर इलेक्ट्रीक् श्मशान क्या बुरा है? व्यर्थमें दुनियाका लकड़ा खत्म करके पर्यावरणको क्यों दूषित करते हो! अगर संस्कार करना है तो उसका कोई औचित्य है. जलाना है तो कोई औचित्य नहीं है. ये बात हमको समझनी चाहिये. संस्कारके मंत्र इतने अच्छे है कि उन मंत्रोको कोई जान ले तो मरनेकी इच्छा हो जाय. इतने अच्छे मंत्र है. जैसे ताजमहलके लिये एक अंग्रेज

कवियित्रीने कहा था कि यदि मेरा प्रियतम ऐसा ताजमहल मेरे लिए बनाये तो मुझे मरना पसंद आयगा. अग्निसंस्कारके मन्त्रमें ऐसे कहते हैं कि **''अक्रोधेन क्रोधं, सेतुन् तर दुस्तरान्''** (सेतुसाम-)ये मृत्यु क्या है? तो समझाते हैं कि जीवन और जीवनोत्तर की जो अवस्था है उसके बीचका एक सेतु है. और सेतुको हमको कैसे तैरना है, अक्रोधके सेतुसे क्रोधके इस हिस्सेको तैर जाना है. **''दानेन अदानं अकामेन कामं सेतुन् तर दुस्तरान्'' ''दानेन अदानं सेतुन्तर दुस्तरान्''** माने इस जन्ममें तो शायद दान देना भूल गया होगा. तेने अपना जीवन अदानमें व्यतीत किया होगा. अब तू उस अवस्थामें आगे जा कि जहाँ तू दान देकर अपना जीवन शुभ बनायेगा. इस जन्ममें तू अक्रोध करना भूल गया होगा, कई लोगो पर क्रोध किया होगा, जा अलविदा अब आगेसे तू क्रोध मत करना. इस तरहकी शुभकामनासे हम मरनेवालेको अलविदा कहते हैं. **''सेतुन् तर दुस्तरान्''** अपन गान करें तो मरनेमें मजा आये, ऐसे-ऐसे मंत्र है. अपन विवाहके मंत्र सुने तो विवाह करनेमें मजा आये. पर आजकल वर-राजा तो कहीं और देखते रहते हैं और मंत्र तो पुरोहित बोल जाता है. फिर हम कहते हैं कि संस्कार हुआ, कहाँ हुआ संस्कार! ये तो कुछ और ही गड़बड़ाध्याय हो गया. वो ही बात बता रहे हैं कि **''मंत्रस्य च परिज्ञानं''** मंत्रका परिज्ञान होना मंत्र है. एक बात ध्यानसे समझो कि **''अपरिज्ञाननष्टेषु मंत्रेषु''** महाप्रभुजी कह रहे हैं, देखो मूल यहाँ है. **''मंत्रस्य च परिज्ञानं''**

महाप्रभुजी कह रहे हैं **''अपरिज्ञाननष्टेषु मंत्रेषु अव्रतयोगिषु, तिरोहितार्थदेवेषु कृष्णएव गतिर्मम''** (कृष्णाश्रय-५) मंत्रका परिज्ञान ही मंत्र है. अपरिज्ञान मंत्र, मंत्र नहीं है ध्वनि है जो कि विलियमके सामने बात कही थी.

(कर्मशुद्धिका प्रकार)

कर्म कैसे शुद्ध होगा? भागवत कहता है कि कर्म जब भी हम अपने संकल्पसे विकल्पसे या कामसे ऐसी-ऐसी वृत्तियों से कर्म करेंगे, क्योंकि हमारे पास और कोई उपाय नहीं है. जब हम कोई कर्म करेंगे तो हमारी ये वृत्तियाँ सात्त्विक राजस तामस होनेके कारण कहीं न कहीं कुछ न कुछ तकलीफ तो पैदा करेंगी. जो भी कुछ तकलीफ हमारे कर्ममें पैदा हुई हो, उन सारी तकलीफोंके कारण जो अशुद्धि कर्ममें आयी है, उसको बुद्धिसे भगवदर्पण कर दो तो कर्म शुद्ध हो जाता है. **''यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु न्यूनं संपूर्ण तां याति सद्यो वन्दे तम् अच्युतम्''** समर्पण कर दिया तो शुद्धि हो गयी. तो **''कर्मशुद्धिः मदर्पणम्''** भगवद् अर्पण ही कर्मकी शुद्धि है. अपन पुष्टिमार्गीय समझते हैं कि समर्पण हमारे यहाँ कोई अलग दीक्षा है. एक बात ध्यानसे समझो कि समर्पण हमारे यहाँ अलग दीक्षा नहीं है **''कर्मशुद्धि मदर्पणम्''** जो कुछ भी हमारा है, दारागार पुत्र आदि, उस सबको भगवद् अर्पण करना कर्मकी शुद्धि है. कौनसे कर्मकी शुद्धि? जीवनके कर्मकी ये शुद्धि है. क्योंकि जीवनके ये सारे अहंताममतास्पद संभार है. जिन संभारोंको हम लेकरके जी रहे हैं. और इनको जीनेके लिए जितने भी कर्म हम कर

रहे हैं, पुत्र पत्नी घर इष्टजन आप्तजन के, उनके कारण कुछ न कुछ अशुद्धि हो रही है. पर जब इन सबको हम भगवान्‌को अर्पण कर रहे हैं जैसे **''गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषदिवर्णना, गंगात्वेन निरूप्या स्यात् तद्वदत्रापि चैव हि''** (सि.र.८) कर्मको जब भगवद् अर्पण कर दिया तो वो सब शुद्ध हो गये. इनसे जनित जो भी कर्म है वो भगवद् अर्पित होनेपर शुद्ध होते हैं. इस प्रकार कर्मकी शुद्धिका प्रकार बताया.

''गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते'' (भाग.पुरा. ११।२१।१६) भागवत समझाती है कि गुण-दोषके जो नियमन हमने किये हैं वो इसलिए नहीं किये हैं कि किसी कर्ममें, किसी कालमें, किसी कर्तामें या किसी द्रव्यमें, किसी देशमें, किसी मंत्रमें कोई गुण या दोष है. पर इनमें जो तुम्हारी भेददृष्टि है, उसे तोड़नेके लिए हम इनमें गुण-दोष बता रहे हैं. सचमें धर्मका जो परम प्रयोजन है वो ये नहीं है कि कोई शुद्ध है कि अशुद्ध है. धर्मका प्रयोजन है कि वो तुमको इस तरहसे जीवन जीनेकी प्रणाली सिखाये कि जिससे ये तुम्हारी जो भेददृष्टि है उससे तुम उपर उठ सको. वो ऊपर उठनेका तरीका क्या है? जैसे मनोविज्ञानमें ऐसे बताया जाता है कि कई बार अपने हृदयमें कोई बात घुटती रहती है तो कभी वो मुँहमें निकल भी जाती है और जब वो मुँहसे निकलने लगती है तो उस पर अपना नियंत्रण नहीं रहता. जब कोई नियंत्रण नहीं रहता तो उसका मनोविज्ञानमें एक उपाय बताया गया

है कि उस गलतीको बातको कोन्शियसली बार-बार करो. तुम्हारा उस पर अपने आप नियंत्रण आ जायगा. जब बार-बार उसको करेंगे तो वो मस्तिष्कके इनवोलेंटरी भागसे उठकर वोलेंटरी भागमें आ जायगी और उस पर हमारा नियंत्रण आ जायगा. बिल्कुल वो ही मॉडल् भागवत हमको समझाती है कि हमने भगवान्‌की एकतामें, अद्वितीयतामें बहोत सारे इनवोलेंटरीली भेद अविद्याके कारण खड़े किये है. अब विद्यासे वोलेंटरीली जी लो तो इन पर तुम्हारा नियंत्रण आ जायगा. जैसे एक बात समझो कि अपने आप शिशुका हाथ उठ जाता है, अपने आप शिशु पैर चलने लग जाते हैं. जब हम वोलेंटरीली चलने लगते हैं तो उस पर हमारा नियंत्रण आ जाता है. जब इन्हींको हम वोलेंटरीली नहीं उठाते हैं तो इनवोलेंटरी ये सारे फंक्शन् होते हैं. जैसे कि एक बहुत प्रसिद्ध चुटकुला है भरतपुरके राजाके बारेमें कि एक अँग्रेज् अफसरने भरतपुरके राजासे कहा कि ''राजा साहब आपके यहाँ हर शब्दको दो बार बोलते हैं जैसे साजन-वाजन पानी-वानी.'' भरतपुरके राजाने कहा कि ''ऐसा तो कोई गँवार-सँवार ही बोलते हैं, सब नहीं बोलते.'' अब बताओ कि कैसे इसको नियंत्रणमें लायें. ''सब नहीं बोलते, कोई गँवार-सँवार ही बोलते हैं.'' बात तो फिर वो ही आ गयी न! जो दोष है वो इस तरहसे इनवॉलेंटरी प्रकट होते हैं. पर आप यदि सौ बार गँवार-सँवार बोलोगे तो वो इनवॉलेंटरी होनेके बजाय अपने वॉलेंटरी मेकेनिज़्म्में आ जायगा और उसके बाद

आप यदि गँवार बोलोगे तो सँवार नहीं निकलेगा. ये साइकोलोजीके ट्रीटमेंट्का एक तरीका बताया जाता है कि इनवॉलेन्टरी गलतीको यदि वॉलेंटरी जी लोगे तो गलती होनी बंद हो जायगी. ध्यान रखो कि वोलेंटरी जीनेवाली गलतीको बार बार करोगे तो वो और अधिक तीव्रताके साथ होने लगेगी. गलत मत समझ लेना मुझको नहीं तो यदि आप शराब पीते हो और कलसे आप कहोगे कि ‘‘अच्छा श्याम मनोहरजीने कह दिया कि वॉलेंटरी शराब पीनेसे इनवोलेंटरी शराब पीनेकी आदत छूट जायगी.’’ मेरा मतलब वो नहीं है. मेरा मतलब है कि जो इनवॉलेंटरी गलती हो रही है उसे यदि दस-पन्द्रह बार वॉलेंटरी कर लोगे तो उस पर आपका वॉलेंटरी नियंत्रण हो जाता है. ये मनोविज्ञानकी एक प्रक्रिया है और वो ही प्रक्रिया यहाँ बताई गयी है.

भागवत इसका इस प्रकार यहाँ निष्कर्ष निकालता है कि **‘‘फलश्रुतिः इयं नृणां न श्रेयो रोचनं परं, श्रेयोविविक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्’’** (भाग.पुरा.११।२१।२३) कर्मविधिकी धर्मविधिकी जितनी भी फलश्रुति बताई गयी है कि इस कर्म या धर्म को करनेसे ये फल तुम्हें मिलेगा, वो तो बिल्कुल ऐसा है कि जैसे कड़वी दवाके ऊपर शक्करका लेप चढ़ाया जाता है जिससे कि वो हमारे गले उतर जाय, वैसे ही ये है. हमको सबसे बड़ी कड़वाहट ये लगती है कि हम भगवान्की एकता, भगवान्की एकमेवाद्वितीयता, भगवान्की सर्वव्यापकताको हम कड़वाहट

मान रहे हैं, स्वीकार नहीं पाते हैं तो उसमें ये मिठास लगा दी है कि अच्छा तुम भगवान्को सर्वव्यापक नहीं मान रहे हो तो कहाँ तुम भगवान्को देख सकते हो, तुम वहाँ ही देखो. अब कलसे उसे कहीं और नहीं देखना. ये समझो कि वोलेंटरी देखनेकी मनाई करी है कि मत देखना. ये हमें अब आधार मिलेगा कि ये यदि भगवान् है तो ये ही भगवान् सब जगह है सब जगह व्यापक है. कृष्णमें यदि सर्वव्यापकता है, सारे देव उसमें बिराजमान है तो हम किसी और देवताको नहीं भजेंगे. **‘‘अन्याश्रयो न कर्तव्यः, सर्वथा बाधकस्तु सः.’’** वोलेंटरी आप अन्याश्रय मत करो तो अपने आप आपको अन्यथाका भाव निवृत्त हो जायगा. पूरी इनसाइट् इस प्रकारकी है. उस इनसाइट्को नहीं समझनेके कारण हम बहुत कबाड़ा करते हैं और इसलिए भागवत कहती है कि **‘‘फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्, श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्’’** (भाग.पुरा११।२१।२३) जैसे कड़वी दवाको मीठे लेप चढ़ा कर हम खिलाते हें उसी प्रकारकी पोलिसी हमारे शास्त्रने धर्मके समायोजनमें अपनायी है.

महाप्रभु अपनपे ऐसी कृपा करें कि धर्मपुरुषार्थको इस प्रकारसे समायोजित करनेका अथवा मेनेज् करनेका हममें सामर्थ्य उजागर हो इसलिए आचार्यके आश्रय पदका गान करके आजके विषयका उपसंहार यहाँ रखेंगे. अभी अर्थ काम मोक्ष अपने बाकी है. अपन पूरा प्रयास करेंगे कि शेष दिनोंमें अपन उसे पूरा करें. पर क्योंकि धर्मका कबाड़ा

बहुत ज्यादा है इसलिए धर्मका मैनें विस्तारसे विवेचन किया क्योंकि पता नहीं है कि भक्ति धर्म है कि धर्म भक्ति है. अर्थ भक्ति है कि भक्ति अर्थ है. काम भक्ति है कि भक्ति काम है. इसलिए धर्मके पहले ये यदि हम समझ लें तो सारी बात हमको एक नींवके पत्थरकी तरह स्थिर हो जायगी. इसीलिए मैनें इसमें इतना समय लिया. आचार्यचरणका आश्रयपदगान कर कर अपन आजके वक्तव्यका समापन.

प्रकरण : ४

(प्रश्नोत्तर)

प. जब सब प्रभुकृपासे होता है तो पुष्टिभक्ति प्रभुकृपासे मिलेगी या नहीं ?

उ. देखो ऐसा है कि अपने शरीरके प्रत्येक अंगमें जब रक्तपरिभ्रमण बराबर होता हो तभी अंग भी बराबर संचालित होते हैं और रक्तपरिभ्रमणके लिए हमारे पास कोई व्यवस्था नहीं है. जैसे हम अपनी इच्छासे रक्तपरिभ्रमणको शुरू अथवा बंद नहीं कर सकते हैं.

आत्महत्या करना यदि चाहें तो बात अलग है पर रक्त अपने आप चलता रहता है. मगर जो अपने आप चलता हुआ रक्तपरिभ्रमण है, उस पर हम नियंत्रण तो कर ही सकते हैं. कैसे ? वो कर सकते हैं अंगपरिभ्रमणसे. अब देखो ये अन्योन्याश्रित बात हो गयी. अंगसंचालन होते हैं रक्तपरिभ्रमणसे और रक्तपरिभ्रमणसे होता है अंगपरिभ्रमण. ये ऐसी अन्योन्याश्रित बात पुष्टि-भक्तिमें हैं और ‘पुष्टि’ माने कृपा. पुष्टि संचालित होती है आपकी भक्तिके संचालनसे और भक्ति संचालित होती है पुष्टिके संचालनसे. अब इन दोनोंका अन्योन्याश्रित भाव है उसको तोड़कर यदि मुझसे पूछें कि सब कुछ पुष्टिसे ही होता है तो हमें भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता है? तो यदि सब कुछ रक्तपरिभ्रमणसे ही होता है तो हमको अंगसंचालनकी क्या आवश्यकता है? मत करो अंगसंचालन. थोड़े दिन बाद वो

अंग कमजोर हो जायगा. जो लोग निरंतर पैर लटकाकर कुर्सी पर बैठे रहते हैं उनका पैरोमें रक्तसंचालन मंद हो जाता है और कई तरहकी प्रोब्लम् आ जाती हैं. ये आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं. जो लोग जोगिंग् या वोकिंग् नहीं करते हैं उनका हृदय अच्छी तरहसे पंपिग नहीं करता. अब वो पंपिग होती कैसे है? यदि शरीरशास्त्रसे आप पूछेंगे तो उसका स्पष्ट अभिप्राय है कि जब आपको जोगिंग् करनी होती है तो आपके हृदयको अधिक रक्त वहाँ पंप करना पड़ता है. अब ये तो फिर अन्योन्याश्रित बात हो गयी. घर कहाँ बगीचेके सामने. बगीचा कहाँ, घरके सामने. दोनों कहाँ, आमने-सामने. अब आप इन दोनोंको तोड़कर बतानेके लिए पूछें तो वो व्यवस्था टूट जाती है. यदि आप चालू रखेंगे तो ही वो चालू रहेगी. तो कृपा संचालित होती रहेगी यदि आप भक्तिसंचालित करते रहे तो और भक्ति संचालित होती रहेगी यदि आपमें कृपाका संचालन होता रहा तो. भक्तिसे कृपा मिलेगी और कृपासे भक्ति. ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं.

प्र. सब कुछ प्रभु कृपासे होता है तो इस सिद्धांतका कोई ऐसा अर्थ निकाले कि फिर भक्ति करनेकी क्या जरूरत है?

उ. सिद्धान्त अवश्य निकाला जा सकता है पर, फिर वो बात वहीं सीमित नहीं रहेगी. वो अंगसंचालन पर और रक्तुरक्तपरिभ्रमण इन दोनों पर भी आयगी. अब देखो जैसे वाणीका संचालन होता है, बुद्धि और मन के संचालनसे.

और बुद्धि-मनका संचालन होता है वाणीके संचालनसे. जब कोई बच्चेको आप बोलने ही न दें. जब भी वो कुछ बोलने जाय, आप उससे कहें कि ''चुप रह'' तो धीरे-धीरे उसकी बुद्धि भी काम करना बंद कर देगी. हम पुष्टिमार्गीयोंको ये समझाया गया है कि महाराजश्री पधारें तो कुछ बोलो मत. महाराजश्रीके सामने बोलोगे तो महाराजश्रीको परिश्रम हो जायगा. उस परिश्रम हो जानेके डरके कारण हम लोगोंमें बुद्धिका संचालन कम हो गया और आप लोगोंमें भी बुद्धिका संचालन बंद हो गया. आपमें और हममें बुद्धिका संचालन होता रहे इसके लिए वाणीके संचालनकी आवश्यकता है. वाणीका संचालन होगा तो बुद्धिका संचालन होगा. फिर वो बुद्धि वाणीका संचालन करेगी. ये अन्योन्याश्रित बात है. उसको तोड़कर जब आप सवाल पूछोगे तो दोनों ही बंद हो जायेंगे. अकेला एक नहीं टूटेगा. आपके यहाँ जबलपुरमें ये रिवाज़ है कि नहीं पर जन्माष्टमीके दिन अपन ठाकुरजीके सामने फुदड़ी फिरते हैं. वो दोनों हाथ आपसमें पकड़कर घूमते हैं. उसमें जब एक छोड़ देता है तो दोनों ही गिरते हैं. पर यदि दोनों व्यक्ति पकड़कर घूमें तो कितने भी झुक जायें पर दोनों एक दूसरेके बल पर टिकें रहते हैं. तो ये कृपा और भक्ति की फुदड़ी है. ये नियति और पुरुषार्थ की फुदड़ी है. ये बुद्धि और वाणी की फुदड़ी है. ये चलती रही तो नन्दमहोत्सव होता रहेगा और किसी एकने भी छोड़ दिया तो निश्चित समझो कि दोनों गिरेंगे.

प्र. कल आपने धर्म और काल के बारेमें समझाया था. तो क्या हमारे धार्मिक विधानों, नियमोंमें कालको ध्यानमें रखते हुए संशोधनका प्रावधान है?

उ. थोड़ी गंभीरतासे इस प्रश्नको विचारनेकी आवश्यकता है. कल मैनें जिस बातको समझानेका प्रयास किया था, वो ये थी कि भारतीय आर्ष प्रज्ञाकी ये एक विशेषता रही कि हमने धर्मको कभी एकांतिक नहीं माना. बहुत संभव है कि एकांतिक शब्द क्योंकि आप जैन नहीं है इसलिए आपको बहुत कठिन लगता होगा. जैनोंका तो अनेकांतिकतावाद ही है. वो लोग एकांतिक शब्दसे अधिक परिचित हैं पर ये कोई जैन शब्द नहीं है. एकांतिकका अर्थ होता है कि जैसे कोई एक धर्म है और उस धर्मका कोई विकल्प नहीं है. सबके लिए वो ही धर्म है. तो वो धर्म एकान्तिक हो गया. जो उस धर्मका आचरण नहीं करता है वो अधर्मी हो गया तो वो एकान्तिक धर्म हो गया.

मैं जब ये कह रहा हूँ कि हमारी आर्ष प्रज्ञाका उत्कर्ष केवल इसीमें है कि धर्मको कभी हमने एकान्तिक नहीं बनाया, उससे मेरा अभिप्राय ये था कि हमारे यहाँ धर्मके नाम पर जो भी कुछ शास्त्रके आदेश है, वो कोई भी आदेश ऐसे नहीं है कि वो सबके लिए हो. वो तत-तत् अधिकारीके लिए हैं. जो जिस धर्मको पालनेका अधिकारी है उस अधिकारीके लिए हैं और उस अधिकारीको उस धर्मका कर्तव्यतया उपदेश इस अर्थमें दिया गया है कि किस देशमें उसके लिए क्या धर्म है, किस देशमें उसके

लिए क्या अधर्म है. किस कालमें उसके लिए क्या धर्म है? किस कालमें उसके लिए क्या अधर्म है. इसका उदाहरण मैनें आपको समझाया था कि ब्राह्मण यदि संन्यासी या ब्रह्मचारी है तो भिक्षा माँगना उसके लिए धर्म है और यदि वो गृहस्थ है तो भिक्षा माँगना उसके लिए घोर अधर्म है. एक ब्राह्मणके लिए कालभेदसे भिक्षा माँगना धर्म भी है और अधर्म भी है. क्षत्रियके लिए युद्धमें हिंसा करना धर्म है. सारी गीता यदि हम देखें तो सभी जगह भगवान् ये कह रहे हैं कि **''मया हता: त्वं जहि मा व्यथिष्ठा''** (भग.गीता.११।३४) मैनें तो इनको मार ही रखे हैं. तू अब इनको मार. तो क्या भगवान् अहिंसा छोडकर अधर्मका उपदेश दे रहे हैं! नहीं ऐसा नहीं है. हमारी आर्ष प्रज्ञाका उत्कर्ष इसीमें है कि क्षत्रियके लिए जो धर्म है वो अन्योंके लिए अधर्म भी हो सकता है. ये कोई ऐसी नवीन बात नहीं है कि जिसको समझनेमें हमको तकलीफ होनी चाहिये. कोई आर्मीका सैनिक किसी दुश्मनको मारता है तो उसे परमवीरचक्र मिलता है और यदि आप किसीको मारते हो तो आपको फांसी मिलती है. तो किसीको मारना धर्म है कि अधर्म है? भई! किसके लिए कहाँ धर्म है और कहाँ अधर्म है? वो काल देश अधिकारिभेदसे अलग ही व्यवस्था हो सकती है. ये सारे जो नियम है उनको हम उस स्पिरिट्में नहीं लेते हैं, इसके कारण हमको गलतफहमी हो जाती है. आपको एक सरल उदाहरण दूँ. जैसे फुटबॉल्में बॉल्को पैरसे मारना गोल् करनेका सबसे बड़ा साधन है. क्रिकेटमें पैरसे मारना एल.बी.डब्ल्यू. आऊट्

होना है. रन क्यों नहीं बना? क्योंकि आप एल.बी.डब्ल्यू. आऊट् हो गये तो पैरसे बॉल्को मारना जीतना है कि हारना है, ये तो उस स्पोर्ट्के नियम आपको बतायेंगे. वो जैसे खेलके नियम हैं उसी तरह जब सारी सृष्टिको आप लीलाभावसे देखेंगे तो जितने भी धर्मोंके विधि-निषेध है उनमें इस तरहका भेदभाव दीखेगा. आपको भगवान्के खेलका नियम लगेगा कि भगवान्ने कितना मजेदार खेलका नियम कर दिया है कि किसीके लिए मूर्तिपूजा करना धर्म है, किसीके लिए मूर्तिपूजा करना अधर्म है. किसीके लिए चाचाकी लड़कीसे विवाह धर्म है किसीके लिए अधर्म है. ये सारे उसके खेलके नियम है. इन खेलके नियमोंको यदि हम उसके मैदानमें खेल रहे हैं. जैसे क्रिकेटके मैदानमें आप खेल रहे हो तो आपको क्रिकेटके नियम पालने पड़ेंगे. फुटबॉल्के मैदानमें खेल रहे हो तो फुटबॉल्के नियम पालने पड़ेंगे. अब सद्भाग्य मानो कि दुर्भाग्य मानो पर उसके मैदानसे हम बाहर निकल नहीं सकते. इस बातकी एक तकलीफ है. खेलके जो नियम बना रखे हैं उसमें हम संशोधन नहीं कर सकते पर खेल तो सकते हैं. ये मेरे समझानेका हेतु था. ये मेरे समझानेका हेतु नहीं था कि ''धर्म कालसापेक्ष है तो हम उसमें संशोधन कर सकते हैं कि नहीं.''

संशोधन प्लेयर् नहीं करता है. संशोधन क्रिकेटबोर्ड करता हैं. जैसे आप लोगोंको ख्याल होगा कि पुराने जमानेमें पाँच दिनकी क्रिकेट होती थी. अब उन्होनें संशोधन

किया है तो पचास ओवर्की क्रिकेट खेली जाती है. खिलाड़ीको तो उस संशोधित नियमके अनुसार अपना पुरुषार्थ दिखाना पड़ता है. अब कोई प्लेयर् मेदानमें आकर कहे कि मुझे बहुत जगह खेलने जाना है तो ये अब पाँच ओवर्की ही खेल कर दो. फिर और कोई कहेगा कि मुझे और भी जल्दी जाना है तो एक ओवर्की ही क्रिकेट कर दो. तो वो क्रिकेटके बजाय कोई अलग ही कथा हो जायगी.

संशोधनका नियम प्लेयर्के हाथमें नहीं है. क्रिकेटबोर्डके हाथमें है. परमात्माने काल कर्म प्रकृति पुरुष स्वभाव का बोर्ड गढ़ा है वो इन संशोधनोंको करता हैं. हम उसमें कुछ नहीं कर सकते हैं. हम खेल सकते हैं, जीत सकते हैं, हार सकते हैं पर उसके खेलके नियममें बदलाव नहीं ला सकते है. एक इतनी अच्छी और मजेदार बात है कि कोई आपको कम्पेल् नहीं करता है कि आपको क्रिकेट ही खेलना है. आपको क्रिकेट खेलनी है तो क्रिकेट खेलो, फुटबॉल् खेलनी है तो फुटबॉल् खेलो, हॉकी खेलनी है तो हॉकी खेलो. क्रिकेट खेलते-खेलते अचानक आपके भीतर हॉकी प्लेयर्का स्वभाव जग जाय और मेदानमें बॉल् फेंकनेके बजाय आप दौड़ने लग जायें तो सोचो कि दृश्य कैसा उपस्थित होगा! अगर हॉकी याद आ गयी तो थोड़ा उस पर नियंत्रण रखो और जिस खेलको खेल रहे हो पहले उसके नियमोंके अनुसार अच्छी तरह खेलो. ये मेरा मतलब था.

प्र. पुष्टिमार्गमें प्रभुको जगाने पौढ़ाने तकका क्रम निर्धारित है तो आजकी दिनचर्यामें ऑफिस् टाईम्के अनुसार सेवाक्रम भी मोडिफाई हो जाता है. क्या ये मान्य है या इससे प्रभुको श्रम होता है, इसे समझाएँ.

उ. सबसे पहली बात तो मैं एक ये कहना चाहूँगा कि मेरे पिताजी दीक्षितजी महाराज हार्टके पेशेंट् थे, ब्लड्प्रेशर्के पेशेंट थे और उनके पगोंमें कॅन्सर् था. उसके बावजूद मुम्बईमें भूलेश्वरसे पार्ला माने करीब बारह मील प्रवचन करने पधारते थे. सामान्य बात है कि हाई ब्लड्प्रेशर्के मरीज थे तो तकलीफ भी होती थी. श्रोताओंमेंसे कुछ लोगोंको बड़ी सहानुभूति प्रकट हुयी और उन्होनें आकरके विनतीकी कि इस तरहके प्रवचन करनेमें आपको बड़ा परिश्रम होता है तो आपसे हमारी ये विनती है कि आप प्रवचन बंद करो. हमारे पिताजीने बड़ी अच्छी एक बात कही कि ‘‘मैं जन्मा वो भी एक परिश्रम था और जिया ये भी एक परिश्रम है. इतने परिश्रम तो मैं ले रहा हूँ तो आप केवल सुननेका परिश्रम क्यों नहीं ले सकते, ये मुझे पहले बताओ. आपको सुननेमें क्या तकलीफ है?’’

जब प्रभु हमारे घरमें पधारते हैं, वो सर्वव्यापी है फिरभी अपने घरके छोटेसे रूममें पधारते है. तो उसे क्या परिश्रम नहीं होता होगा? आप इतना सिकुड़के तो देखो. प्रकृतिने चूहेको ये सामर्थ्य दी है कि अपने शरीरसे छोटे बिलमें वो घुस सकता है. आप अपने शरीरसे छोटे घरमें

रहकर तो देखो! प्रभु इतने व्यापक हैं तो उन्हें अपने छोटेसे घरमें पधारनेमें भी कुछ परिश्रम है. जो सारी दुनियाको जगाने-सुलानेवाला है उसे हम यदि जगा या पौढ़ा रहे हैं तो उसमें भी तो उसे कुछ परिश्रम तो होता ही होगा. जो विश्वंभर है उसे आप कह रहे हो कि हम आपको भोग धरेंगे. ये तो भगवान्की कृपा है कि भगवान्को अहंकार नहीं है. कोई भी जो गाँवको खिलाता है उसे खिलाओ तो कितना आहत हो जायगा. भगवान्को अहंकार नहीं है इसलिए जब हम कहते हैं कि ‘‘प्रभु आप आरोगो’’ तो भगवान् कहता है कि ‘‘चल तू मुझे आरोगा रहा है तो मैं आरोगूँगा.’’ भगवान् जो कि सबको सुलाते-जगाते हैं उनको जरा भी अहंकार होता तो दो लप्पड़ मारते और कहते कि ‘‘मैं तुझे सुलाता हूँ कि तू मुझे सुलायेगा? पर भगवान्में अहंकार नहीं है इसलिए भगवान्को परिश्रम होता होगा तो भी परिश्रम नहीं मानते हैं.

मेरे एक मित्र है जयपुरमें राधेश्यामजी. उनकी एक बात मुझे बड़ी अच्छी लगी. उनके जीजाजीने आकर उनसे एक रोज़ कहा कि ‘‘हमको पुष्करस्नान करने जाना है. आपको तकलीफ तो होगी अपनी गाड़ी देनेमें.’’ उन्होनें कहा कि ‘‘आपने ये कैसे सोचा कि उस तकलीफको लेनेमें मुझे आनंद नहीं आयगा. तकलीफ तो निश्चित होगी आपको कार देनेमें.’’

किसी भी बच्चेको दूध पिलानेमें माँको कितनी तकलीफ

होती होगी ये तो अपन दूध पिलाते नहीं है इसलिए अपनको पता नहीं चलता है. किसी बच्चेके लालन-पालनमें माँको कितनी तकलीफ होती है. उस तकलीफको लेनेमें माँको कितना आनंद आता है ये सोचो. कुछ तकलीफ ऐसी होती है जिनको लेनेमें आनंद आता है और कुछ तकलीफ ऐसी होती है जिनको देनेमें आनंद आता है. होलीमें आप किसीका चेहरा लाल-पीला-हरा कर दें तो आपको वो तकलीफ देनेमें आनंद आता है कि नहीं? बिना होलीके कोई करे तो मार-पीट हो जायगी. कुछ तकलीफ ऐसी होती है कि जिनको लेनेमें और देने, दोनोंमें आनंद आता है. कुछ तकलीफें ऐसी होती है, जिनको लेने-देने दोनोंमें कलह हो जाता है. विवेक तो आदमीको अपनी बुद्धिसे वापरना पड़ेगा. अब भक्तिके कारण होती हुयी तकलीफको यदि लेनेमें भगवान्को आनंद आता है तो हम उससे कैसे भगवान्को वंचित रखें? सवाल हमारा ये है. उस आनंदसे वंचित भगवान्को रखनेका अधिकार हमें किसने दिया, ये खुलासा करो पहले. अब कोई बच्चा यदि अपनी माँसे कहे कि ''माँ, मेरे लालन-पालनमें तुम्हें बहुत श्रम होगा तो कलसे मैं किसी औरसे लालन-पालन करवाऊँगा.'' अरे तो क्या अनाथाश्रममें भरती होगा! उस तकलीफको देनेमें और लेनेमें संतति और माँ, दोनोंको आनंद आता है.

कुछ सेवा करनेमें ठाकुरजीको श्रम होता है. लोग व्यर्थमें अपनको डरा देते हैं कि ''परिश्रम हो गया, परिश्रम

हो गया.'' अरे, उस परिश्रमको लेनेमें उस प्रभुको आनंद आता है तो ''मियां बीबी राजी तो क्या करेगा काजी?'' इस बातको क्यों नहीं समझते कि जब देनेवाला राजी है, लेनेवाला राजी है तो उसमें व्यर्थ अपन अपनी बुद्धिकी बघार क्यों लगाते हैं. अरे परिश्रम हो रहा है तो उसे लेनेमें आनंद आ रहा है कि नहीं, ये सोचो न! हिमालय पर एवरेस्ट चढ़नेमें कितनी तकलीफ है कभी चढ़के तो देखो! पर्वतारोहीको ऑक्सीजन् नहीं मिलती है, बेहोश हो जाते हैं, पैरोमें बर्फके छाले पड़ जाते हैं पर वो तकलीफ लेनेमें उनको कितना आनंद आता है! वो तो कोई पर्वतारोही हो, वोही उस आनंदको अनुभव कर सकता है. हम अनुभव नहीं कर सकते. यदि कोई शिष्य गुरुसे सवाल करे तो ऐसा थोड़े है कि गुरुको परिश्रम नहीं होता! पर उस परिश्रममें आनंद लेनेकी तैयारी गुरुकी नहीं है तो उसे गुरुपदसे इस्तीफा देना चाहिये. क्योंकि शिष्यकी जिज्ञासाके समाधानकी तकलीफ लेनेको वो तैयार नहीं है.

जब भक्तिसे आप प्रभुको कोई तकलीफ दे रहे हो तो ठाकुरजीको भी तकलीफ होती होगी. क्यों नहीं होती होगी पर उस तकलीफको लेनेमें और देनेमें हमको मजा आता है. भक्तिके वश हमको तकलीफ देनेमें मजा आता है और कृपाके वश उस तकलीफको लेनेमें उसे मजा आता है. चित्तमें ऐसी आश्वस्तता होगी तो कोई तकलीफ नहीं है. और है भी तो वो आनंदकी तकलीफ है, दु:खकी तकलीफ नहीं है.

प्र. दर्शनभक्ति व सकामभक्ति करते-करते कभी हम निष्कामभक्ति तक पहुँचेगे या नहीं?

उ. जहाँ तक भगवान्का सवाल है वहाँ भगवान्के संदर्भमें एक बात स्पष्ट समझो कि थियोरिटिकली भगवान् तक पहुँचना ये हमारे भीतर भरी भयी, भगवान्के द्वारा की गयी एक प्रोग्रामिंग् है. जिसके कारण हमको लगता है कि हम भगवान् तक पहुँच रहे हैं. दरअसल कोई व्यक्ति भगवान् तक पहुँचता नहीं है, पहुँच सकता नहीं है. भगवान् सबके पास पहुँच सकते हैं. **''गोप्य: कामाद्, भयात् कंस: द्वेषात् चैद्यादयो नृपा: सम्बन्धाद् वृष्णय:, स्नेहाद् यूयं, भक्त्या वयं विभो:''** (भाग.पुरा.७।१।३०) भगवान् जिसके पास पहुँचना चाहते हैं उसके पास पहुँचते हैं.

एक-दूसरेके पास पहुँचनेके कई सारे मॉडेल् है. जिसके पास अपनेको पहुँचना है वो एयरपोर्टके कन्वेयरबेल्टके पेटर्नमें सोचे तो हमें ऐसा लगता है कि हम सामान तक पहुँच गये. कई बार ऐसा भी महसूस होता है कि सामान हम तक पहुँच गया. कभी ऐसा लगता है कि दोनों एक-दूसरेके पास पहुँचतेसे लगते हैं. एक-दूसरेके पास पहुँचनेके जितने मॉडेल् है वो भगवान्के हाथमें तो सहज उपलब्ध है पर हमारे हाथमें एक भी मॉडेल् उपलब्ध नहीं है, सिवाय इसके कि हमारी प्रोग्रामिंग् ऐसी है कि जो भी कुछ हो रहा है उसमें हमें ऐसा लगता है कि हम भी कुछ कर रहे हैं, कहीं पहुँचे हैं.

जैसे स्वीमिंगपुल्में डाइव् लगाते हैं तो वो हम स्वीमिंगपुल्में नीचेकी ओर कूद रहे हैं. या गुरुत्वाकर्षण वहाँ काम कर रहा है, क्या निर्णय करेंगे? यदि गुरुत्वाकर्षणके हिसाबसे आप सोचें, तो आप डाइव् लगानेके कारण नहीं पहुँच रहे हैं, केवल गुरुत्वाकर्षणके कारण वहाँ पहुँच रहे हैं. यदि आप उस दृष्टिसे देख रहे हैं कि हमने थोड़ी देर जंपिग्बोर्ड् पर जंप् किया और पोज़िशन् ली और हमने डाइव् लगाई तो वो अपना प्रयास लगेगा. मगर एक बात ध्यानसे समझो कि यदि पृथ्वीका गुरुत्वाकर्षण न हो और आप अंतरिक्षमें इस प्रकार डाइव् लगाएं तो आप नीचे जानेके बजाय सीधे जाने लगेंगे. तो हम पहुँच रहे हैं कि कोई हम तक पहुँच रहा है, ये निर्णय करना अपने स्वयंके होनेके अहसास पर निर्भर करता है. जहाँ कोई भी व्यापक तत्त्व हमारे संदर्भमें आ गया और जब हम उसके अंदर ही हैं तो किस प्रकार हम उस तक पहुँचेगें? किसी भी मॉडेल्से हम उस तक पहुँच नहीं सकते हैं, क्योंकि हम पहुँचे ही हुये हैं, हम उसके अंदर ही हैं. मगर भीतर उस तरहकी प्रोग्रामिंग है कि आप तीन मंजिल ऊँचे जंपिग् बोर्ड् पर चढ़ सकते हो, थोड़ी देर उछल-कूदकर सकते हो और फिर हेड्-लोन्ग् डाइव् लगाकर स्वीमिंग् पूल्में कूद सकते हो. जब आप ऐसा करते हो तो उस प्रोग्रामिंग्के कारण आपको ऐसा लगता है कि आपने अपने प्रयास और टेकनीक्के कारण एक अच्छी डाइव् लगायी. पर गुरुत्वाकर्षणका बल ही आपको नीचे पहुँचा रहा है. यदि

वो नहीं होता तो डाइव् लगानेके बाद आप किस दिशामें जाते वो समझना मुश्किल है.

जहाँ भगवान्‌का प्रश्न आ गया कि हम भगवान् तक पहुँच सकते हैं कि नहीं? ये हम तभी समझ सकते हैं जब भगवान्‌का स्वरूप हमें समझमें आ जाय. भगवान्‌के पास तो इस मॉडेल्‌के सारे विकल्प हैं परन्तु हमारे पास एक भी विकल्प मौजूद नहीं है सिवाय इसके कि हमारी प्रोग्रामिंगके तहत जो खेलके नियम गढ़े हैं उन नियमोंको पालते हुये हम अपना पुरुषार्थ करें.

मैं अपनी ही बात आपको बताऊँ कि एक भाईने मुझसे पूछा कि कभी आप उर्दू शेयर बोलते हो, कभी फारसी बोलते हो, कभी ब्रजभाषाकी कविता बोलते हो, कभी अंग्रेजी बोलते हो. आपने इतना सब कब पढ़ा? अरे भई! मैनें कभी ये सब पढ़ा ही नहीं है. हमारे दादाजी बोलते थे तो मुझे भी आ गये और मैं भी बोलने लगा. अब आपने वो बात तो कभी देखी नहीं. मैनें वो बात बचपनसे सुनी है तो मुझे याद आ जाती है तो मैं बोल देता हूँ. सुननेवाला झांसेमें आ जाता है कि पता नहीं कितना पढ़ा होगा? और सुनकर आप नर्वस् हो जाते हो कि इतना ज्ञान है तो इनके सामने सवाल कैसे करना? अरे भई, वो ज्ञान अपना नहीं है! वहाँ सुना था, अब निकल रहा है. पर थोड़े दिन मेरी ऐसी प्रशंसा करें तो मनके भीतर मुझे भी ऐसा लगेगा कि ''हाँ! सबके पास ऐसा ज्ञान नहीं है मेरे पास है.'' पर जब मैं अपना

अतीत देखता हूँ तो मुझे पता चलता है कि मुझे सब वो ही बात याद हैं जो दादाजीने मेरे सामने बोली हैं. पढ़ा थोड़ा ही है, जो सुना है वो मुँहसे निकल रहा है. सुना है वो बुद्धिमें स्टोर हो गया है और वो बाहर भी आ रहा है. बहुत लोगोंको भ्रमणा है कि जमीनमें पानी पैदा होता है. जमीनमें पानी पैदा नहीं होता, जमीन तो पानीको स्टोर करती है. जब शुरुआतमें बोरिंगके पम्प लगे तो पानी दस-बीस फुट पर ही था. सबने सोचा कि जमीन पानी पैदा करती है तो खींचो पानी. दूसरोंने चालीस फुट पर लगाया क्योंकि किसीने बीस पर लगाया था तो बीस फुट पर पानी आना बंद हो गया. अब ये शोर मचा कि बीस फुट पर जमीनने पानी पैदा करना बंद कर दिया. अरे किसीने पासमें चालीस फुट पर लगाया है! अब लोगोने स्पर्धामें अस्सी फुट पर पंप लगा दिये तो चालीस फुटवाले बंद हो गये. जमीन पानी पैदा नहीं करती वो तो केवल स्टोर् करती है. यदि पानी स्टोर् नहीं है तो जमीन क्या करेगी? ऐसे ही कृपाकी बारिश हमारे भीतर स्टोर हो रही है जिसे हम भक्तिके पंपसे खींच सकते हैं यदि हमारे भीतर महसूस कर रहे हैं. पर यदि उसे पंप लगा कर अधिक खींचोगे, तो अंदर कमी आ जायगी. ये भी हमको समझना चाहिये. जो बात सहजतासे उपलब्ध है ''सहज प्रीत गोपाल हि भावे!'' कुँआसे ये दिक्कत क्यों नहीं आती थी? क्योंकि कुँआसे हम इतना अधिक पानी खींचते नहीं थे. पंपसे पानी खींचनेमें हमें तो कोई जोर पड़ता नहीं है और इसीलिए बेतरतीब हम पानी वापरते रहते हैं, फिर

पानीकी कमी आ जाती है. ये बात ध्यानसे समझो कि जमीन पानी पैदा नहीं करती है वो केवल स्टोर करती है और उस स्टोर करनेके जमीनके कुछ अपने उपाय है. जैसे आपने वृक्ष संरक्षित किये तो जमीन पानी सोखेगी और यदि नहीं किये तो जमीन पानी नहीं सोखेगी. सारी व्यवस्था अन्योन्याश्रित है. इसमें कोई ऐसा अहंकार करे कि ये सब मेरे कारण हो रहा है तो वो सत्यानाशका हेतु होता है. जब हम अन्योन्याश्रित रहते हैं, भगवान् भक्त पर भक्त भगवान् पर, व्यक्ति समाज पर समाज व्यक्ति पर तो उस स्थितिमें अहंकारका प्रश्न ही नहीं उठता. सब काम बराबर चलता रहता है. जैसे प्राणी वृक्ष पर, वृक्ष प्राणी पर श्वासोच्छवाससे एक-दूसरे पर निर्भर है. ये सब अन्योन्याश्रित है. जब तक इस अन्योन्याश्रितका भाव हमारा स्थित रहेगा, तब तक ये हमारी सारी व्यवस्था ठीकसे चलती रहेगी. उस फुदड़ीमें एकने भी हाथ छोड़ दिया तो दोनों गिर पड़ेंगे. ये समझना चाहिये.

इस बातको समझना चाहिये कि सकामभक्ति जमीनमेंसे पंपके द्वारा पानी निकालने जैसी है. और निष्कामभक्ति कृपाको पंपद्वारा खेंचनेकी भक्ति नहीं है. बल्कि इकोलोजी सिस्टम्को सुस्थित रखनेकी भक्ति है. आप उसे सुव्यवस्थित रखो कि उस जमीनमें पानीका संचय कैसे हो! तो जमीन आपको पानी देती रहेगी. ये सबकुछ अन्योश्रित है.

आपको यदि प्रवचन अभी भी कठिन लगता हो तो मुझसे ये फरमाईश मत करो कि सरल करो, मुझसे ये

फरमाइश करो कि इस बातका खुलासा और करो. क्योंकि आप किसी व्यायामशालामें जाते हो और सरल करनेकी कहते हो तो उसमें व्यायामशालाका नुकसान नहीं होता, आपका होता है.

एक मजेदार बात बताऊँ आपको. हम जयपुर किसीके यहाँ गये तो वहाँ एक भाईकी तोंद इतनी बड़ी कि पैर यदि आगे करके बैठें तो पैरके अँगूठे ढक जांय. वो सीढ़ी चढ़कर मुझसे मिलने आये तो हांफ रहे थे. मैनें गलतीसे पूछ लिया कि ''आपको सीढ़ी चढ़नेमें बहुत तकलीफ हुयी.'' वो बोले कि ''महाराज! क्या आप समझते हो कि आप ही स्वस्थ हो हम अस्वस्थ हैं?'' मैनें कहा कि ''नहीं! ऐसा मेरा तात्पर्य नहीं है. आपकी सांस फूल रही है, इसलिए पूछ रहा हूँ.'' वो बोले ''क्यों आप समझते हो कि आप ही व्यायाम करते हो, हम नहीं करते?'' अब जब किसी आदमीका पेट इतना बड़ा हो कि बैठने पर पैर ढक जातो हों तो मुझे भी जिज्ञासा हुयी कि ये व्यक्ति कैसा व्यायाम करता होगा? मैनें पूछा ''आप क्या व्यायाम करते हो वो मुझे भी बता दो जिससे कि कभी मेरी स्थिति भी ऐसी हो जाय तो मैं भी वो कर पाऊँ.'' उन्होनें हाथकी उंगलियोंको हिलाकर कहा कि ''मैं ये व्यायाम करता हूँ.'' मैनें सोचा ''धन्य हो प्रभु.'' वो बोले ''तो क्या पैर चलाना ही व्यायाम है, उंगली चलाना व्यायाम नहीं है?'' मैनें कहा ''गलती हो गयी माफ करो. अब मैं भूलकर भी कभी नहीं पूछूँगा कि आपका दम

क्यों फूला.'' व्यायाम तो सभी है, सकामभक्ति भी और निष्कामभक्ति भी. पर सकामभक्तिसे तोँद बढ़ जाती है और फिर वो कृपाकी भक्ति निष्कामभक्तिसे घटती नहीं है, ये बात तो तय है. तो ये बात समझनी चाहिये. क्योंकि कल ही मैनें ऐसा समझाया था कि **''आर्तो जिज्ञासु: अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ**!'' (भग.गीता.७।१६) इसलिए मैं ऐसा तो नहीं कहता कि सकामभक्ति भक्ति नहीं है वो भी भक्ति तो है पर वो निष्कामभक्ति तक पहुँचेगी इसके चांसेस् बहुत कम है. क्योंकि एक बार तोंद फूलनी शुरू हो जाती है तो उससे व्यायाम कम होना शुरू होता है. जब व्यायाम कम होना शुरू होता है तो तोंद और बढ़नी शुरू होती है. फिर उससे और व्यायाम कम होता है. अंतमें व्यायामके नाम पर हमारे पास इतना ही रह जाता है कि केवल उंगली हिला सकते हैं. आप किसीको धमका सकते हो कि ''क्या तुम ही व्यायाम करते हो हम नहीं करते!'' बात तो ठीक है व्यायाम तो सभी करते हैं पर इस तरहके व्यायामका तोंद पर क्या असर होगा ये बात निश्चित नहीं है. इस तरहके व्यायामसे तोंद पर तो कोई प्रभाव नहीं होगा. इतनी बात हमको समझनी चाहिये कि सकामभक्ति निष्कामभक्ति तक पहुँचेगी? वो पैर चलानेका व्यायाम नहीं है केवल हाथकी उंगलियाँ हिलाने भरका व्यायाम है. जो भी कुछ सकाम भक्तिसे अपन कर रहे हैं, फूल भी चढ़ा रहे हैं, कीर्तन भी कर रहे हैं पर याद रखो कि इससे कामनाकी तोंद घटनेवाली नहीं है. कामनाकी तोंद

बढ़ती ही जायगी क्योंकि भागवत कहता हैं कि **''न जातु काम कामानाम् उपभोगेन शाम्यति हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते**'' (भाग.पुरा.९।१९।१४) कामोंको संतुष्ट करनेसे काम कभी संतुष्ट होता नहीं. एक बार संतुष्ट करो तो फिर दुबारा पैदा हो जाता है. काम पैदा होना कोई बुरी बात नहीं है पर भक्तिको उससे जोड़ना थोड़ी तोंद फुलाने जैसी बात है. व्यर्थमें हार्टअटेक्को निमंत्रण देनेवाली बात है. हार्टअटेक्से मेरा अर्थ है कि भक्तके लिए हृदयमें भक्ति न होना. जीवात्माके भीतर परमात्माके लिए भक्ति न होना, भक्तिमार्गमें सबसे बड़ा हार्टअटेक् है. वो जब निष्कामभक्ति करेंगे तो हार्टअटेक् नहीं आयगा पर वो ही जब सकामभक्ति करेंगे तो अटेक्के चांसेस् अच्छे हैं.

हमारे पिताजीके एक अच्छे स्नेही थे. उन्हें हार्टअटेक् आ गया! मुझे लगा कि पिताजीके इतने अच्छे स्नेही हैं तो मुझे मिलने जाना चाहिये. मैं खास उनसे मिलने होस्पिटल्में गया. उन्होनें मुझसे कहा कि ''पता नहीं महाराज ये डॉक्टर् तो मुझे बचायेंगे कि नहीं पर आप आ गये हो तो रासपंचाध्यायीका पाठ मेरे सामने करो.'' मैनें कहा कि ''उस पाठका इस तकलीफसे क्या संबंध?'' उन्होनें कहा कि रासपंचाध्यायीके अंतिम श्लोकमें लिखा है कि **''हृदरोगम् आशु अपहिनोति अचिरेण धीर:**'' (भाग.पुरा.१०।३३।४०) ये सारे हृदयके रोगको मिटा देता है. मैनें कहा ''मुझे तो पाठ आता नहीं है. क्योंकि वो हृद्रोग कोई दूसरा हृद्रोग हैं वो सकामभक्तिका हृद्रोग है

और आपको जो अटेक् आया है वो घी खानेका है.'' वो बोले ''आप आये हो तो एक पाठ तो करके ही जाओ '' मैनें कहा ''मुझको आता ही नहीं है.'' वहाँ होस्पिटलमें बैठकर रासपंचाध्यायीका पाठ कहाँ करूँ! और समझो कि उनका रोग दूर न हो तो अलाय बलाय मेरे माथे आ जाय. ये महाराजियतका धंधा बड़ा रिस्की धंधा है. पता नहीं कब कोई क्या डिमांड कर दे, कुछ पता नहीं चलता. इस हार्टअटेक्से उस हृद्रोगका कोई संबंध नहीं है. पर लोग कहते हैं कि आ गये हो तो पाठ कर जाओ.

सरल भाषामें मैं आपको समझा रहा हूँ कि कभी सकामभक्तिसे सरलतासे भगवान्की निष्कामभक्ति तक नहीं पहुँचा भी जा सकता हो पर एक बात ये भी सच है कि यदि भगवान्को किसी कामनावाले तक पहुँचना है तो! तो उनके लिए कोई भी द्वार अवरुद्ध नहीं है. जो भी द्वारसे वो पहुँचना चाहें वो भक्त तक पहुँच सकते हैं. कामसे क्रोधसे भयसे लोभसे, भगवान् किसी भी द्वारसे हम तक पहुँच सकते हैं. भगवान् उस द्वारसे हम तक पहुँच सकते हैं इसलिए हम उस द्वारसे भगवान्को खोजने जायें तो इतना समझ लो कि वो थोड़ा मुश्किल है. भगवान् उस द्वारसे हम तक आ सकते हैं पर हम उस द्वारसे भगवान् तक मिलने नहीं जा सकते हैं. भगवान् तक पहुँचानेका कमसे कम पुष्टिमार्गमें तो एक ही मार्ग है और वो है निष्कामभक्तिका.

प्रकरण : ५

(स्वभावसे भक्तितकका समानान्तरीकरण ब्राह्मिकलीला /भागवतीलीलासे)

(ब्राह्मिकस्वरूप और ब्राह्मिकलीला)

अभी तक ये सारा विषयका विस्तार धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चतुर्विध पुरुषार्थ और पंचम भक्तिका पुरुषार्थ इन पाँचों पुरुषार्थके संदर्भमें बहुत कुछ विवेचन मैनें आपके समक्ष किया. अब आप प्रश्न पूछेंगे तो मुझे भी पता चलेगा कि आप कितना समझे हो और मैं भी समझ पाऊँ कि मैं कितना समझा पाया. पर आप जब प्रश्न नहीं पूछते हो तो वनवे ट्रेफिक् मुझे चलाना है तो एक बात मुझे कहनी पड़ेगी कि आजकी तारीखमें ये धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन शब्दोंका एक बहोत सीमित अर्थमें हमने स्वारस्य ग्रहण किया है.

जिस सीमित अर्थमें हम इन शब्दोका स्वारस्य ग्रहण कर रहे हैं, हमारे शास्त्रोंमें ये सारे ही शब्द उस सीमित परिधिमें घिरे हुये नहीं है. इनके अर्थोका विस्तार कितना है उसका अंदाज़ यदि हमको लेना हो तो उससे पहले एक बात हमको समझनी होगी. वो पूरी एक व्यवस्थाकी बात है और वो इस तरहसे है कि जैसे उपनिषद्में ये पूछा जाता है कि ''ब्रह्म क्या है?'' तो उसको दो तरहसे उपनिषद् बताते हैं कि ब्रह्म **'सच्चिदानन्द'** है **'सत्यंज्ञानमनन्तम्'** (तैत्ति.उप.२।१।१) है. ये उसका स्वरूप समझाया गया है. उपनिषद् ऐसे भी समझाते हैं कि **''यतो**

वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म'' (तैत्ति.उप.३।१) ''**सत्यंज्ञानमनन्तम्**''को स्वरूपलक्षण या एशेन्श्यल् डेफिनेशन् कहा है और ''**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**..''को कार्यलक्षण या फन्कशनल् डेफिनेशन् कहा है. माने वो क्या है और वो क्या करता है. ब्रह्म क्या करता है, जब ये प्रश्न आता है तो उपनिषद् कहता है कि जहाँसे सृष्टि उत्पन्न होती है, जहाँ स्थित होती है, जहाँ लय होती है उसे ब्रह्म समझो. ब्रह्म क्या है? उसके खुलासामें उपनिषद् कहता है कि ''जो सत्य है, जो चित् है और जो अनन्त है वो ब्रह्म है.'' ये ब्रह्मको देखनेका एक दृष्टिकोण है.

(त्रिविध ब्राह्मिकलीलाका दशविधलीलामें भागवतके द्वारा विस्तार)

भागवतने उस उत्पत्ति-स्थिति-लयमें इन तीनमें परिसीमित न करके दसमें विस्तार किया. सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय. ऐसे दशविध लीलाके रूपमें उसका विस्तार किया. जो ब्रह्मकी उत्पत्ति स्थिति लय और सत्यंज्ञानमनन्तता, इन चारको जब हम देखते हैं तो भागवत उसका इस तरहसे विभाजन करती है कि जिसे उपनिषद् 'उत्पत्ति' कहता है, ब्रह्मकी परिभाषाके रूपमें, उसे भागवत कहती है कि ये सर्ग और विसर्ग है. जिसको उपनिषद् कहता है कि 'स्थिति' माने जगत् जिसमें स्थित है, उसे भागवत स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा और निरोध के रूपमें समझाती है. माने

ब्रह्मसे जगत् उत्पन्न होता है, इसकी दो बारीकियाँ भागवत समझाती है कि वो उत्पत्ति सर्ग है इतना ही नहीं विसर्ग भी है. ब्रह्ममें जगत् स्थित है, उस स्थितिकी छ बारीकियाँ भागवत समझाना चाहती है कि जगत् उसमें स्थित है, वो स्थान है, वो जगत्का पोषणकर्ता है, जगत्में अलग-अलग प्रकारके झुकाव पैदा करता है, अलग-अलग प्रकारके धर्म पैदा करता है, धर्म पैदा करता है इतना ही नहीं भक्ति भी पैदा करता है. इन सबमें एक क्रम है. जैसे उत्पत्ति स्थिति लय में एक क्रम है कि जो उत्पन्न हुआ है वो ही तो स्थित होगा. उसी तरह जिसका सर्ग और विसर्ग हुआ है उसीका स्थान, उसीका पोषण उसीमें कोई इन्क्लीनेशन्, उसीमें कोई धर्म और धर्मके बाद उसमें कोई भक्तिका फंक्शन् पैदा होगा. और उसके बाद भगवान्में निरुद्ध होनेका जिसको हम दशमस्कन्धकी लीला कहते हैं. वो लीला भागवतमें स्थान माने स्थितिके तहत समझायी है. उसके बाद लौटनेका जो क्रम है उसके उपनिषद्ने भी दो भेद बताये हैं कि या तो मुक्त होकरके जीव लौट सकता है अथवा प्रलयके बाद फिर जीव लौटकर आ जाता है. जैसे मिट्टीसे हमने एक घड़ा बनाया और उसे फोड़कर चकनाचूर कर दिया तो फिर वो मिट्टीमें समा गया. इसी प्रकार ब्रह्मके नाम रूप कर्म का विस्तार है वो सारा ब्रह्ममेंसे प्रकट हुआ है और किसी एक बिन्दु पर जाकर ये फिर ब्रह्ममें विलीन हो जानेवाला है. उसको भागवत कहती है कि ये मुक्ति और आश्रय लीला है. उस आश्रयके भी दो रूप भागवत

बताती है. एक स्वरूप रूपी आश्रय और एक लीलाको ऐब्सोर्ब् करने रूप आश्रय.

(ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है और अविकृततया सृष्टिरूपकार्य भी हुआ है)

''देवा: मनुष्या: पशव: पक्षिवृक्षसरीसृपा:, रूपम् एतद् अनन्तस्य विष्णो: भिन्न इव स्थितम् द्रष्टव्यम् आत्मवद् विष्णु: यतोऽयं विश्वरूपधृक् एवं ज्ञाते स भगवान् अनादि परमेश्वर: प्रसीदति अच्युत: तस्मिन् प्रसन्ने क्लेशऽसंक्षय:'' (वि.पुरा.१।१९)

मगर भागवत इन सारी बातोंको जो उपनिषद्ने तीन तरहसे समझायी, उन्हें नौ तरहसे समझाती है और आश्रय समझाती है. उसके बावजूद एक बात और कहनी है जो कि सबके पल्ले नहीं पड़ती है. कई बार भागवतने एक तरहसे नहीं अनेक तरहसे इसको समझाया है और निरंतर समझाया है. पता नहीं क्या बात है कि जो आदमी सुनना चाहता है वो ही सुनता है और जो नहीं सुनना चाहता वो नहीं सुनता. भागवत उसमें एक खास बात ये समझाना चाहती है कि ब्रह्ममेंसे जगत् उत्पन्न हो रहा है. प्रश्न वहाँ ये है कि जो 'नहीं' है वो उत्पन्न हो रहा है कि जो 'है' वो उत्पन्न हो रहा है? यदि हम उत्पत्तिका मॉडेल् बच्चे और माँके गर्भका सोचें तो बच्चा माँके गर्भमें होता है और उत्पन्न होता है. ये एक मॉडेल् है और मिट्टी और घड़ेका मॉडेल् सोचें तो ऐसा दिखलाई नहीं देता कि ये घड़ा सचमुच मिट्टीमें था और उसके कारण पैदा हुआ.

घड़ा तो पैदा होता है कुम्हारके किसी प्रयाससे. मिट्टीको किसी रूपमें ढालनेके कुम्हारके प्रयाससे घड़ा बनता है. मिट्टीमें घड़ा छुपा नहीं होता है. मगर ध्यानसे समझो कि जैसे खानमेंसे हीरा निकलता है, सोना निकलता है, वो पैदा होता है पर वो खानमें होता है और वहाँसे वो बाहर निकलता है. ये बहुत सोचनेवाला विषय रहा है. प्रारंभसे ही ये सृष्टि ब्रह्ममें थी जैसे बच्चा माँके पेटमें था अथवा कि ये गढ़ी गयी है, जैसे कुम्हार मिट्टीसे घड़ा गढ़ता है. जब ये दोनों मॉडेल् सृष्टिकी रचनाके सामने आये तो कई तार्किकोंने ये तर्क देना शुरू किया कि जब मौजूद ही था तो उत्पन्न करनेकी आवश्यकता क्या थी और नहीं था तो ब्रह्ममें अपूर्णता थी. क्योंकि कोई भी कुम्हार मिट्टीमेंसे घड़ा पैदा क्यों करता है? क्योंकि वो घड़ेको गढ़ेगा, कोई उसे खरीदेगा, तो उसकी रोजी-रोटी चलेगी. उस रोजी-रोटीको चलानेके लिए वो मिट्टीमेंसे घड़ा पैदा करता है. प्रश्न ये उठता है कि ब्रह्मको अपनी कौनसी रोजी-रोटी चलानी है! इन दोनोंमें अंतर है. इस बात पर ध्यान दो कि यदि ये सारी सृष्टि ब्रह्ममें पहले ही थी तो पैदा होनेके बाद भी ब्रह्मसे बाहर तो हो नहीं सकती है. पैदा होनेसे पहले ब्रह्ममें थी और पैदा होनेके बाद भी ब्रह्ममें ही है तो पैदा करनेकी आवश्यकता क्या है? जब ये प्रश्न सामने आता है तो लोगोंकी अक्कल चकरा जाती है कि इसका जवाब क्या? जब उत्तर नहीं मिलता तो कुछ लोग कहते हैं कि जगत् पैदा होता ही नहीं है और हमारी सब भ्रमणा है. कुछ लोग ऐसे सोचते हैं कि ये सृष्टि पैदा होती ही नहीं

है पर हमको लगता है कि पैदा हो रही है. कुछ लोग ऐसे भी सोचते हैं कि पैदा तो हुआ पर उसके बाद गड़बड़ हो गया है. पर यदि इस पैदा होनेमें गड़बड़ मानेंगे तो ब्रह्ममें भी गड़बड़ माननी पड़ेगी क्योंकि जो जगत् है उसमें तो बहुत लफड़े दिखलाई पड़ते हैं. एक सीढ़ी चढ़ने उतरनेमें भी लफड़े हैं, पैर फिसल सकता है. लफड़े तो सब जगह हैं. ऐसे फिजूलके लफड़ें ब्रह्ममें भी है क्या? अगर नहीं है तो बात साफ हो गयी कि ये सृष्टि ब्रह्ममें नहीं थी. तब तो कुछ गड़बड़ हो गयी न!

महाप्रभुजीने भागवतके कई पेसेजोंको देखकर ये निर्धारित किया कि इस सबका जवाब इस प्रकार सोचनेसे नहीं आयगा. इस सबका जवाब इस बातसे आ सकता है कि ब्रह्म कुम्हार भी है और ब्रह्म मिट्टी भी है. मिट्टी भी ब्रह्म है और कुम्हार भी ब्रह्म है और जो घड़ा पैदा हुआ है उसमें मिट्टीके भी गुण है और कुम्हारके सारे नहीं पर कुछ गुण है. कौनसे गुण कुम्हारके घड़ेमें आते हैं? घड़ेमें कुम्हारके घड़ाको पैदा करनेवाले गुण नहीं आते हैं पर जो कुम्हारके मनमें घड़ेका आकार था, वो सारे गुण घड़ेमें आते हैं. जो कुम्हारने सोचा था कि मुझे ऐसा घड़ा बनाना है, वो शेप् कुम्हारके भीतर दिमागमें था और एक्सीक्यूट् होकर बाहर घड़ेमें आ जाता है. कुछ कुम्हारके गुण घड़ेमें आ रहे हैं और कुछ मिट्टीके गुण भी घड़ेमें आ रहे हैं. कौनसे गुण मिट्टीके घड़ेमें आ रहे हैं? कुम्हारके मनमें जो आकार फंक्शन् की परिकल्पना थी उस

परिकल्पनाके घड़ेमें पानी नहीं भरा जा सकता था. पानी तो मिट्टीके घड़ेमें ही भरा जा सकता है. यदि कल्पनाके घड़ेमें ही पानी भरना है तो पानी भी फिर कल्पनाका ही होना चाहिये. सच्चा पानी कल्पनाके घड़ेमें नहीं भरा जा सकता. सच्चा पानी यदि भरना है तो मिट्टीका घड़ा ही अपनको चाहिये. इसलिए महाप्रभु ये कहते हैं कि <u>इस सृष्टिरूप घड़ेकी मिट्टी भी ब्रह्म है और उसका कुम्हार भी ब्रह्म है.</u>

(औपनिषदक ब्रह्म या भागवतोक्त भगवान् कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् और भवितुम् अभवितुम् और अन्यथाभवितुं समर्थ है)

यदि इतनी बात हम समझ जायें कि इस सृष्टिका कुम्हार और मिट्टी दोनों ही ब्रह्म है तो महाप्रभु वल्लभाचार्य एक बात इसके निष्कर्षके तौर पर निकालते हैं कि ये स्थिति, चाहे आप ब्रह्म मानो, अल्लाह मानो, यहोबा मानो, बुद्ध मानो अथवा कर्मके नियम मानो तो जहाँसे भी ये सृष्टि पैदा हुयी है, वो कोई भी तत्त्व हो, पर इस सृष्टिमें जो कुछ दिखलाई दे रहा है उस दिखलाई देते हुये रूपमें इसके कर्ताका और इसके मटीरियल् कॉज़का (उपादान कारण) कोन्ट्रीब्यूशन् है, ये तो मानना पड़ेगा. जब इन दोनोंका कोन्ट्रीब्यूशन् अपनने मान लिया तो उसका भी एक निष्कर्ष निकलता है. उस कर्ताको हमें कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुं समर्थ मानना पड़ेगा. जैसे कुम्हार घड़ा बनाना चाहे तो घड़ा बनेगा. नहीं बनाना चाहे तो नहीं

बनेगा. ये उसकी कर्तुं या अकर्तुं सामर्थ्य हुयी. कुम्हार यदि गोलके बजाय लंबा या चौरस मटका बनाना चाहे तो लंबा या चौरस भी मटका बन सकता है. ये 'कर्तुं समर्थ' है. मतलब बनाना चाहे तो बना सकता है. 'अकर्तुं समर्थ'का मतलब नहीं बनाना चाहे तो नहीं बनायेगा. और 'अन्यथाकर्तुं समर्थ' मतलब गोलके बजाय लंबा या कोई और आकारका भी बना सकता है. ये तीनों सामर्थ्य हमको कुम्हारमें माननी पड़ेगी. और ये ही तीनों सामर्थ्य हमको मिट्टीमें भी माननी पड़ेगी कि जैसे मिट्टीका मटका बन सकता है तो उसका शकोरा कुल्लड़ हाथी घोड़ा बन सकता है. तो बनने (भवितुं सामर्थ्य), नहीं बनने (अभवितुं सामर्थ्य) और कुछ और भी बननेकी सामर्थ्य (अन्यथाभवितुं सामर्थ्य) मिट्टीमें भी है और करने, नहीं करने और अन्यथा करनेकी सामर्थ्य कुम्हारमें भी है. ये सामर्थ्य हमको दोनोमें माननी पड़ेगी. अब आप उसको 'ब्रह्म' नाम नहीं देकर भ्रम माया अल्लाह गॉड् कुछ भी दे दो पर जिसने ये बनाया है उसमें आपको ये सामर्थ्य तो माननी ही पड़ेगी. यदि आप एटम् नाम दे दो तो एटम्में भी ये सामर्थ्य माननी पड़ेगी. जरूरी नहीं है कि हम उसे एटम् नाम नहीं दे सकते. वो एटम् ऐसे भी बन सकता था, वैसा भी बन सकता था, और कुछ नहीं बनना हो तो वो भी हो सकता था. जिसको मेक्सप्लांक्ने पहली बार कहा कि लाईट्का बिल्कुल ही अन्प्रेडिक्टेबल् कोर्स है कि वो कभी सीधी चलती है, कभी अपने रास्तेसे हटकर भी चलती है.

मोशन्के जो सिद्धांत है उनको लाइट् पूरे तौर पर फोलो नहीं करती. बहुत सारे प्रयोगोंके बाद ये सिद्ध हुआ कि लाइट्का एक बीम यदि हम सीधा डालें तो सारी लाईट् सीधी जानी चाहिये. पर कुछ लाईट्के ऐसे बदमाश पार्टीकल् होते हैं कि वो टेढ़े जाने लग जाते हैं. लाईट्में भी गन्तुम् अगन्तुम् अन्यथागन्तुं सामर्थ्य है. सायन्स् भी तो ये बात मानता है. लाइट्के पार्टीकल्का जो व्यवहार है वो भी तो अनप्रडिक्टेबल् है! वो ही कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यकी बात है.

(कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं की परिसीमित सामर्थ्य जीवमात्रमें है)

वो सामर्थ्य जो सृष्टिके कर्तामें है, माने जो सामर्थ्य सृष्टिके कारण और उपादान में हैं वो सामर्थ्य एक छोटे स्केल् पर हम सबमें हैं. ये सामर्थ्य उस सूर्यकी लाईट्में हैं ऐसा ही नहीं है, वो सामर्थ्य इस ट्यूब्की लाईट्में भी है. एक छोटीसी कॅन्डल् लाईटमें भी वो ही सामर्थ्य है. सायन्स्ने अनेक प्रयोगोंके बाद ये सिद्ध करके बताया कि एक लाईट्का पार्टीकल् दूसरी लाईट्के पार्टीकल्से मिलकर कभी दुगनी लाईट् प्रोड्यूस् करता है और कभी दोनों पार्टीकल् मिलकर अंधेरा कर देते हैं. अब दो लाईट मिलीं तो उजाला अधिक होना चाहिये था, अंधेरा कैसे हो गया? उसके जवाबमें कहते हैं कि ये अनप्रेडिक्टेबल् है. ये अनप्रेडिक्टेबल्को हमारे यहाँ 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य' कहते है. नाम तो अपनी समझके अनुसार कुछ

भी दे दो पर ये सामर्थ्य तो आपको मानना ही पड़ेगा. वो सामर्थ्य जैसे मेगा स्केल् पर है, वो ही सामर्थ्य मिनी स्केल् पर भी है. वो सामर्थ्य हम जीवोंमें भी है. हम भक्ति कर सकते हैं करनी हो तो. नहीं भक्ति करनी हो तो नहीं कर सकते हैं और निष्कामभक्तिके बजाय सकामभक्ति करनी हो तो वो भी कर सकते हैं. सकाम नहीं करनी हो भक्तिका धंधा ही करना हो तो वो भी कर सकते हैं. कौन रोक सकता है हमको? भगवान् कभी भी इस बातका ओब्जेक्शन् नहीं लेता कि आप मेरा धंधा क्यों करते हो! कितना सरल स्वभाव है भगवान्का! आपका कोई धंधा करे तो आप तुरंत फरीयाद करोगे पर भगवान् कुछ नहीं करता. क्योंकि भगवान्ने हमको कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य दी है कि आप मेरा उपयोग करो, अनुपयोग करो या दुरुपयोग करो. जो करना हो करो. मैं तुम्हारे लिए हर बातके लिए उपलब्ध हूँ. I am available to you in all respect everywhere, the way you want to use me. Use me, misuse me or do not use me. You are free आप फ्री हो पर उस स्केल् पर नहीं एक मिनी स्केल् पर. आप कितनी हद तक दुरुपयोग करोगे? क्योंकि पिंजरेमें रखा हुआ एक तोता चल सकता है कि नहीं? चल सकता है, घूम सकता है, उपर नीचे जा सकता है. उसके पास भी कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं सब सामर्थ्य है. पर वो सामर्थ्य पिंजरेके भीतर ही वापर सकता है. पिंजरेके बाहर तो नहीं वापर सकता.

(जीवकी पिंजरेरूप परिसीमा काल कर्म स्वभाव प्रकृति पुरुष हैं)

उसी तरह इस जीवके पास भी सारी सामर्थ्य मौजूद हैं और इस जीवात्माको जिस काल कर्म स्वभाव प्रकृति पुरुष के पिंजरेमें रखा गया है उस पिंजरेके भीतर अपनी सामर्थ्य वापर सकता है. उसके बाहर तो कुछ भी नहीं कर सकता. उस पिंजरेके भीतर ही अपनी कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा कर्तुं सामर्थ्य वापरके वो सोचता है कि ‘‘मैं ये भक्ति करूँगा, ये भक्ति नहीं करूँगा. मैं हिंदु नहीं मुसलमान या ईसाई बनूँगा. अरे ये सब भगवान्की कथा बेकार है, मैं तो जैन बौद्ध बनूँगा.’’ ये सारी सामर्थ्य हमारे पास मौजूद है. ये सारी सामर्थ्य हमें मिनी स्केल् पर दी हुयी है. पर एक छोटीसी मुश्किल है कि आपको दो पैर दिये हैं, उसमें पहले दाँया पैर पहले उठाना कि बाँया उठाना, ये आपकी इच्छाकी बात है. एक पैर उठा दिया तो दूसरा पैर उठानेकी सामर्थ्य आपमें नहीं है. बस वहाँ आपका स्केल् पता चल जाता है. अब आप दूसरा पैर नहीं उठा सकते हो. आप जंप् ले सकते हो पर पैर उठा नहीं सकते पर जंप् लेकरके गिरना आपका लाजमी है. उसी भयके कारण आप दूसरा पैर उठाते नहीं हो.

प्रकृतिके तीनों गुणोकी साम्यावस्था भगवान् है, इन गुणोके कारण गुणवाली प्रत्येक वस्तुके स्वाभाविक गुण भी भगवान् है तथा सभी सूक्ष्मवस्तुओमें सूक्ष्मतम जीव भी भगवान् है. ‘‘गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिनि औत्पत्तिको गुणः,

गुणानामपि अहं सूत्रं महतां च महान् अहं, सूक्ष्माणामपि अहं जीवः'' (भाग.पुरा.११।१६।१०)

मिनी स्केल्में हमारे भीतर मेगा स्केल्वाली सारी सामर्थ्य उपलब्ध है. जिस प्रकारका फंक्शन् हो रहा है, वो ही माइक्रोस्केल् पर सब कुछ हममें भी मौजूद है. ब्रह्मके सारे गुण, ऐसा कोई गुण नहीं है जो हमारे भीतर माइक्रोस्केल् पर न हो. अब जब धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति के पुरुषार्थके समायोजनका हम विचार कर रहे हैं तो माइक्रो-स्केल् पर हमारे भीतर कितनी सामर्थ्य मौजूद है, उन सामर्थ्यों पर थोड़ी निगाह करनेकी आवश्यकता है ताकि हम इन चारोंका समायोजन अच्छी तरहसे कर पायें. फिरसे मैं आपको याद दिला दूँ कि जो भी कुछ हम समायोजन करेंगे वो पिंजरेके भीतर ही होगा, बाहर नहीं होगा. पर उस पिंजरेके भीतर हम समायोजन कर सकते हैं, कर सकते हैं और कर सकते हैं. जैसे पिंजरेमें बंधा हुआ तोता बहुत कुछ काम कर सकता है. किस हद तक कर सकता है कि यदि आपने पिंजरेमें उंगली डाली तो वो आपको काट भी सकता है. आप अपना गाल पिंजरेकी दीवार पर लगा दो तो वो आपको प्यार भी कर सकता है. इसी प्रकार हम भगवान्को काट भी सकते हैं और प्यार भी कर सकते हैं. इतनी कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य भगवान्ने हमारे भीतर भरी है. ये बात हमको ठीकसे समझनी पड़ेगी, धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति के समायोजनके परिप्रेक्ष्यमें.

(स्वभावजा क्रिया वस्तुओमें गुणधर्मरूपा होती है. उत्पत्ति यहां धर्मरूप होता है, स्थिति अर्थरूपः, लयः कामरूप, और इनका सनातन चक्र द्रव्यस्वरूप मुक्ति है)

जो बात मैं आपको समझाना चाह रहा हूँ वो ये है कि जैसे आग जलती है, हवा चलती है, पानी बहता है. तो हम क्यों कहेंगे कि आगका जलना, पानीका बहना, हवाका चलना इनका स्वभाव है. समझो कि आगने किसीको जला दिया तो आगके विरुद्ध कोई पुलिसमें शिकायत दर्ज कराता है? हवाने किसीको उड़ा दिया तो कोई अपहरणकी शिकायत दर्ज करता है? पानीने किसीको बहा दिया तो क्या कोई पानीके विरुद्ध थानेमें शिकायत दर्ज करता हैं? कोई ऐसा क्यों नहीं करता क्योंकि वो उसका स्वभाव है. आप उसके स्वभावके शिकार हो गये तो वो कर देगा और और यदि शिकार नहीं हुये तो नहीं करेगा. उसके स्वभावका उपयोग कैसे करना? करना, नहीं करना अथवा अन्यथा करना ये आपके हाथमें हैं. उसका अपने स्वभाव पर बस नहीं है. पानी बह रहा है तो बहेगा ही ओर बहायेगा ही. हवा चल रही है तो चल रही है, उड़ा भी सकती है. आग जल रही है तो जला भी सकती है. क्योंकि बहना-बहाना, चलना-चलाना, जलना-जलाना उन चीज़ोंका स्वभाव है. हम ऐसे नहीं कहते हैं कि हम उसके समर्थन या विरोध में कुछ कर सकते हैं. उस स्वभावका सदुपयोग अनुपयोग और दुरुपयोग तीनों करनेकी सामर्थ्य प्रभुने हमको दी है, चाहे वो मिनी स्केल पर ही क्यों न हों.

(इतरोपाधिकी क्रिया प्रभावरूपा होती है. इसके कारण आगन्तुक गुणधर्मोका उत्पादनं धर्मरूप होता है, स्थापनम् अर्थरूप, विलापनं कामरूप, नूतनोत्पादन मुक्तिरूप होता है)

अब इस स्वभावके बाद हर वस्तु पर किसी दूसरी वस्तुके प्रभावसे भी कुछ क्रिया उत्पन्न होती है. जैसे हवा इस रूममें भरी हुयी है पर हमें उसका अहसास नहीं होता है पर यदि कोई पंखा या ब्लोअर् इस कमरेमें लगा दें तो उसका प्रभाव होता है. वो इतनी ताकतसे हमारी ओर आती है कि जो अनुभूत नहीं होती थी, वो हमें अनुभूत होनी शुरू हो जाती है. वो जो हवामें अपने अनुभूति करानेका जो अहसास है. या जैसे हवाका बाहरका तापमान जो होगा सो होगा, मगर हमने एअरकंडीशनर् या एअरकूलर् लगा दिया तो वो हवाको ठंडी कर देता है. उस हद तक ठंडी कर देता है कि बाहरकी हवा ठंडी नहीं है फिर भी उसके द्वारा आती हवा हमें ठंडी लगती है. हवाका ठंडा हो जाना और हम तक उस ठंडकको पहुँचाना ये हवाका स्वभाव नहीं है पर हवा पर पड़ा हुआ प्रभाव है. कुछ क्रियाएं प्रभावसे भी पैदा होती है. प्रभावसे जो क्रिया पैदा होती है, उसकी अकेली वो वस्तु जिम्मेदार नहीं है बल्कि जिसका प्रभाव उस पर पड़ा है वो वस्तु भी उस क्रियाकी जिम्मेदार है. स्वभावसे जो क्रिया पैदा होती है उसमें कोई जिम्मेदारी नहीं है क्योंकि वो तो उस वस्तुका स्वभाव है उसमें कोई कुछ नहीं कर सकता.

(प्राणीके ज्ञान इच्छा और प्रयत्नसे पैदा होनेवाली क्रिया 'कर्म' कहलाती है. कर्ममें प्रयत्न धर्मरूप होता है ज्ञान अर्थरूप, इच्छा कामरूप और सन्तुष्टि या असन्तुष्टि मुक्ति या बन्धन रूप हो जाते है)

उसके बाद एक स्टेज् आती है. इस स्वभाव और प्रभाव के आपसके इन्टरेक्शन्से अचानक हमारे भीतर एक चेतना प्रकट होती है और उससे ज्ञान इच्छा और प्रयत्न हम करने लग जाते हैं. जब हम ज्ञानके द्वारा जान रहे हैं, फिर कुछ इच्छा कर रहे हैं और उस इच्छाकी पूर्तिके लिए कोई प्रयत्न कर रहे हैं, उससे जो क्रिया पैदा होती है उसे हम क्रिया न कहकर 'कर्म' कहते हैं. कर्म जो ज्ञान इच्छा प्रयत्न के बिना पैदा हुआ उसे 'क्रिया' कहते हैं. वो या तो स्वभावसे पैदा होती है या प्रभावसे. जैसे अपने शरीरके उदहारणसे आप देखो तो जो रक्तपरिभ्रमण अपने भीतर हो रहा है, वो ज्ञान इच्छा प्रयत्न से हो रहा है या अपने स्वभावसे हो रहा है? वो तो स्वभावसे हो रहा है. शरीरका ये स्वभाव है पर दूसरी तरहसे देखो कि ये शरीरका स्वभाव भी पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणसे प्रभावित है, या हवाके दबावसे? यदि आप अंतरिक्षमें चले जाये तो ये ही रक्तपरिभ्रमण मृत्युका कारण हो सकता है. जो रक्तपरिभ्रमण पृथ्वी पर अपनको जिंदा रखनेका कारण है वो ही रक्तपरिभ्रमण बाहरी अंतरिक्षमें हमारी मृत्युका कारण बन जायगा. जीवनका कारण किसी प्रभावके कारण है और मरणका कारण भी किसी और प्रभावके कारण होगा. हम समझते हैं कि हम अपने प्रयत्नसे ये काम नहीं करते हैं

केवल स्वभाव और प्रभाव से ये सारा काम हमारे भीतर चल रहा है. कर्म कौनसा? जैसे रक्तपरिभ्रमण हो रहा है मगर आपने हलचल शुरू कर दी तो रक्तपरिभ्रमण बढ़ जाता है. जब आप गुस्सा होते हो तो आपका रक्त आँखोंमें आ जाता है. जब आप और गुस्सा होते हो तो सिर भारी क्यों हो जाता है? हम समझते हैं कि गुस्सा होनेके कारण सिर भारी हुआ. सचमें तो गुस्सा होनेके कारण सिर भारी नहीं होता है. यदि गुस्सा होनेके कारण सिर भारी होता तो हर शिकारी पशुका सिर भारी रहना चाहिये था. पर क्यों हमारा सिर भारी हो जाता है, गुस्सा होनेके कारण. क्योंकि जिस गतिका रक्तपरिभ्रमण सहन करनेके लिए हमारा दीमाग तैयार नहीं है, उससे अधिक गतिसे हमारा रक्तपरिभ्रमण वहाँ होता है उसे हम हाई ब्लड्प्रेशर् कह दें, लो ब्लड्प्रेशर् कह दें. वो प्रेशर्का फेर-बदल ही हमारे सिरको भारी करता है. क्योंकि दीमागकी नसोंका एक स्वभाव है कि किस प्रेशर्को वो सहन कर सकती है. क्रोधसे हमारा सिर इसी कारणसे भारी होता है.

कुछ लोग समझते हैं कि हमको नींद आती है. पर ख्याल होना चाहिये कि नींद हमें इसलिए आती है कि जब हम खाना खाते हैं तो रक्तका संचार पेटकी तरफ जाता है. माथेमें रक्तका संचार थोड़ा न्यून होता है. उससे वहाँ ऑक्सीजन् कम होता है, लिहाजा हमको नींद आती है. हमारे भीतर एक प्रोग्राम्के तहत कितनी अच्छी बात भरी हुयी है. हम कहते हैं कि हम सोना चाहते हैं. अब

ये कर्म है कि स्वभाव है कि प्रभाव है. अपने अहंकारकी दृष्टिसे तो हम ये ही सोचते हैं कि हम सोना चाहते हैं. रक्तपरिभ्रमणकी दृष्टिसे देखो तो वो प्रभाव है, खानेके कारण दीमागमें होते रक्तपरिभ्रमणकी कमीके कारण. रक्तकी कमीके कारण दिमाग कहता है कि काम करना बंद करना चाहिये. शरीरमें ऐसी व्यवस्था है कि उसका स्विच् ऑफ् हो जाता है.

प्राणीशास्त्रमें एक बड़ी मजेदार बात है. जैसे मछलियोंको नींद नहीं आती है, सारी रात वो इधर-उधर घूमती रहती हैं. पृथ्वी पर क्यों नींद आती है इसका अन्वेषण वैज्ञानिकोंने किया चिड़ियों पर. उन्होनें देखा कि मादा पक्षी अपने बच्चोंकी रक्षा किस प्रकार करती है. पैदा तो वो कर देती है पर उनकी सेफ्टी क्या? चिड़ियाके बच्चे ऐसे बेवकूफ़ होते हैं कि वो बोले बिना रहते नहीं हैं तो रातके अँधेरेमें यदि वो बोलें तो शिकारी पक्षी उनको खा सकता है तो प्रकृतिने ऐसी व्यवस्था कर दी कि नींद आनेके कारण उनका रातमें बोलना बंद हो जाता है. ये नींद आनेका कारण है. प्रकृतिने उनकी सुरक्षाके लिए ऐसी व्यवस्था कर दी है. यदि वो बोलेंगे ही नहीं तो शिकारी पक्षीको पता कैसे चलेगा? दिन होते ही वो फिरसे चांय चांय शुरू कर देते हैं. क्योंकि उनको पता है कि माँ खाना लायगी. इस प्रकारसे व्यवस्था की है. अब हम अपने अहंकारसे समझते हैं कि हम कर रहे हैं. पर समझ नहीं आता है कि हम कर रहे हैं कि हमसे प्रकृति काम करवा रही है. निरंतर हमारे भीतरसे प्रश्न उठता रहता है

कि हम भक्ति कर रहे हैं कि कृपा हमसे भक्ति करवा रही है. अरे भई! नींद हमको आ रही है कि नींद हमारे भीतर लायी जा रही है! जब लाई जा रही है तब भी हम सोचते हैं कि हम सोना चाहते हैं. पर जब हम सोना चाहते हैं तो सचमें हम नहीं सोना चाहते. हमारे शरीरके भीतर सरवाइवल्‌की सिस्टम् नींद ला रही है. क्योंकि रात भर भी बड़बड़ करोगे तो कोई न कोई तो खा ही जायगा. ये एक प्रकृतिके द्वारा दी गयी हमको एक सरवाइवल् किट् है. इसलिए जब हम चुप होकर सो जाते हैं तो हमारा कोई शिकार नहीं करता.

किन्हीं श्रीमतिजीको बोलने की बहुत आदत थी. इस हद तक वो आदत बढ़ गयी कि वो पतिको बोलने ही नहीं देती थी. अब बेचारे पतिका स्वभाव हो गया कि चुप रहो. जब बोलने ही नहीं देती हैं तो बोलकर फायदा क्या? अंतमें वो बढ़ते-बढ़ते एकान्तिक स्वभाव हो गया और बोलना बिल्कुल ही बंद हो गया. पत्नी पूछे तब भी जवाब नहीं दे. तब पत्नीको घबराहट हो गयी कि क्या ईलाज किया जाय. तब उन्होंने डॉक्टर्‌को बुलाया कि बोलना बंद होनेका क्या कारण है? कुछ भी पूछें तो जवाब ही नहीं देंते. डॉक्टर्‌ने आकरके चॅक् किया तो सारे फंक्शन् तो बराबर चल रहे हैं. अब क्यों बोल नहीं रहे हैं? डॉक्टरने कहा कि होस्पिटल् ले जाकर चॅक् करना पड़ेगा. तब पतिको घबराहट हुयी कि कहीं व्यर्थमें होस्पिटल्‌में एडमिट् न कर दें. उसने कहा कि ‘‘ठहरो, ठहरो मुझे होस्पिटल् नहीं जाना’’ पत्नीने कहा ‘‘चुप रहो,

तुमसे अधिक डॉक्टर् जानता है.’’ अब बताओ बोलने ही नहीं दे तो क्या करे बेचारा पति, कहाँ जाय! एक तो जबरदस्ती होस्पिटल्‌में एडमिट् करवा रहे हो. और जब वो बोलना शुरू कर रहा है तो चुप करा देते हैं कि तुमसे अधिक डॉक्टर् जानता है.

कभी ऐसा भी होता है कि किसीके कहनेके कारण भी हम चुप हो जाते हैं. हम समझते हैं कि हमारी क्रियासे हम चुप हैं पर किसी औरका प्रभाव हम पर पड़ा है चुप रहनेके लिए. मैं आप लोगोंकी बात कर रहा हूँ. ‘‘चुप रहो, महाराजश्रीसे सवाल मत करो.’’ मैं डॉक्टर् नहीं बुलाऊँगा, इतना आश्वस्त रहो. खैर! कुछ क्रियाएँ स्वभावसे या प्रभावसे पैदा होती है. उनको हम कर्म नहीं कहते. कुछ क्रियाएँ ज्ञान इच्छा प्रयत्न से पैदा होती है, वो अपना ‘कर्म’ कहलाती है. जैसे वो पति चुप था वो उस पर होनेवाला प्रभाव था, स्वभाव नहीं था. क्योंकि बोलने ही नहीं दे तो बोलकर फायदा क्या? स्वभाव होगा थोड़ा बहुत उसके बोलनेका. पर होस्पिटल जानेके विरोधमें जब वो बोला, वो उसका कर्म था क्योंकि वो ज्ञान इच्छा प्रयत्न के कारण वो बोला था.

(‘व्यवहार’=किसी दूसरेको उद्देश्य बनाकर या दूसरेको साधन बनाकर या दूसरेके प्रयोजनकी पूर्तिके लिये किया जाता कर्म व्यवहार बन जाता है)

जब कर्मके रूपमें कोई क्रिया प्रकट हो रही है तो एक अगला कदम आता है कि यदि कर्मका संबंध यदि सीधे

मुझसे हैं तो वो व्यवहार नहीं है. पर मैं कोई ऐसा कर्म करूँ कि जिसके प्रभावक्षेत्रमें आप भी सम्मिलित हो तब उसको हम कर्म नहीं कहकर 'व्यवहार' कहते हैं. जैसे मैं बोल रहा हूँ, अब ये मेरा कर्म है कि व्यवहार है? कर्म कब होता जब मैं अपने ज्ञान इच्छा प्रयत्न से बोलता पर आपको सुनाना नहीं चाहता होता, तब ये कर्म होता. पर जब मैं ये सोच रहा हूँ कि मुझे ये बात आपको सुनानी है, तो अब मेरा ये बोलना कर्म न होकर व्यवहार हो गया. जैसे स्वभावमें कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य मौजूद होती है. प्रभावसे पैदा होनेवाली क्रियामें भी कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य हमारे भीतर एक मिनी स्केल्में मौजूद है. इसी तरह कर्ममें भी कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य किसी नेनो स्केल्में हममें मौजूद है. इसी तरह व्यवहारमें भी हमारे भीतर एक मिनी स्केल्में कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य मौजूद है. यदि मैं व्यवहार करना चाहूँ तो करूँ,नहीं चाहूँ तो नहीं करूँ और किसी और प्रकारका करना चाहूँ तो भी कर सकूँ. इस व्यवहारमें किसी दूसरेको अपने अनुकूल बनाना धर्मरूप होता है. इसलिये एकदूजेका अवलंबन अर्थरूप हो जाता है. स्वार्थ या परार्थ सिद्ध करना कामरूप हो जाता है. स्वयंकी या परकी तुष्टि मुक्तिरूपा तो असन्तुष्टि बन्धनरूपा हो जाती है.

('नीति'=जो व्यवहार अपने किसी व्यक्तिके स्वयंके या समुदायके प्रतिकूल हो उसे दूसरे किसी व्यक्ति या समुदायके सामने आचरण नहीं करना नीति है)

जब हमारे भीतर ये सहानुभूति पैदा हो जाय कि जिस

तरहका व्यवहार मुझे अच्छा नहीं लगता उस तरहका व्यवहार मैं किसी दूसरेके साथ न करूँ, तो वो व्यवहार न कहलाकर 'नीति' कहलाता है. अब देखो नीतिमें स्वभाव कर्म प्रकट नहीं हो रहा है ऐसी बात नहीं है, सब बातें है पर वो स्वभाव धीरे-धीरे अब नीति हो गया है. नीतिमें भी कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य है. उस नीतिको आप चाहो तो बरतो, न चाहो तो न बरतो और उस नीतिको आप किसी गलत अर्थमें भी बरत सकते हो. जैसे डेमोक्रेसीके बारेमें नेता लोग कह रहे हैं कि डेमोक्रेसीका स्ट्रक्चर् संभालो पर उसकी फाउंडेशन्के बारेमें हमसे सवाल मत करो क्योंकि करप्शन् तो चलेगा ही. ये तो हमको आजादीके साथ मिली हुयी करप्शन्की आजादी है. फाउंडेशन्की बात मत करो, ये जो हमारा डेमोक्रेसीका स्ट्रक्चर् है वो सबसे पहेले इसको संभालो. डेमोक्रेसीके श्रेष्ठ राज्यप्रणाली होनेके ठोस प्रमाण ये है कि जनतासे ज्यादा भ्रष्ट नेता नहीं हो सकता. क्योंकि जितने भ्रष्टाचारी नेताको जनता चुनती है उससे अधिक वह भ्रष्ट न हो तो चुनेगी क्यो? अब देखो बात तो ये नीतिकी ही है न! पर ये नीतिका अन्यथाकर्तुं प्रयोग है. नीतिको भी हम शंभुदादाकी तरह इधर-उधर डगमगा सकते हैं. शंभुदादा जानते हो? वो एक खिलौना आता था पहले. उसे जिधर लुढ़काओ वो लुढ़क जाता था पर फिर अपने आप सीधा हो जाता था. तो नीतिमें भी अपनको वो सामर्थ्य उपलब्ध है.

(‘धर्म’=श्रुति स्मृति सदाचार और जो स्वयंको प्रिय हो उन चारोंको जोड़कर अपने कर्मको निर्धारित करनेपर ‘धर्म’ कहे जाने योग्य बनता है)

नीतिके बाद जब हम ये कहते हैं कि नीति तो हमारे आपसी व्यवहारकी बात है पर भगवान्‌की हमसे क्या अपेक्षा है? उनसे जानकर हम भगवान्‌से बर्ताव करेंगे तो कोई न कोई शास्त्र बीचमें आता हैं कि इस तरहका काम अच्छा है, इस तरहका काम बुरा है. इस कार्यको भी करना, नहीं करना या उसे दूसरी तरहसे करना वो सामर्थ्य आपमें है पर शास्त्र वहाँ आकर नीतिसे अगला कदम ‘धर्म’का बता देता है. उस धर्ममें भी ये ही तीनों सामर्थ्य मौजूद है कि चाहो तो आप धर्म करो, चाहो तो धर्म मत करो और चाहो तो अधर्मकी तरहसे उस धर्मको करो या अधर्मको आप धर्मकी तरह करो. वो सामर्थ्य वहाँ भी आपकी मौजूद हैं.

ये बात मैं आपको कहीं और ले जानेके लिए नहीं कर रहा हूँ, पर समायोजन कैसे होता है और समायोजन करनेके लिए हमारे पास कितनी सहूलियत है और कितने-कितने उसके पर्सपेक्टिव् है, ये मैं आपको समझा रहा हूँ. मैं अपने मूल मुद्दे पर ही कायम हूँ. वो सामर्थ्य वहाँ भी हमको उपलब्ध है. जैसे धर्मशास्त्रसे हमने समझ लिया कि ये हमारा कर्तव्य है, ये हमारा कर्तव्य नहीं है. उस समझ लेनेके बाद भी हमारा स्वातंत्र्य है, कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं, वो उस लेवल् पर भी हमारे अन्दर मौजूद रहता है.

एक बात ध्यानसे समझो कि धर्म केवल शरीरको लक्ष्य करके नहीं कहा गया है. धर्म शरीर और आत्मा दोनोंको लक्ष्य करके कहा गया है. नीति आत्माको लक्ष्य करके नहीं कही गयी है. क्योंकि नीतिका मौलिक सूत्र क्या है? **‘‘आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्’’** आत्माको जो प्रतिकूल है ऐसा कोई भी काम तुम दूसरेके प्रति मत करो. अब ये अनुकूलता और प्रतिकूलता का सारा संबंध अपने केवल शरीरसे है. आत्मासे उसका कोई संबंध नहीं है. क्योंकि आत्माको न तो कुछ प्रतिकूल है न कुछ अनुकूल है. आत्मा तो तटस्थ है, **‘‘साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च’’** (श्वेता.उप.६।११) क्योंकि आत्माको कुछ प्रतिकूल होता तो फिर आत्मा वृक्षयोनि क्यों लेती? और किसी भी वृक्षसे पूछ लो कि क्या उसका काटना उसे पसंद आता है? जैसे हमको कटना पसंद नहीं आता है ऐसे वृक्षको भी कटना पसन्द नहीं आता है. तो आत्मा क्यों वृक्षयोनिमें जाती! आत्माका इस अनुकूलता और प्रतिकूलता से कुछ लेना-देना नहीं है. वो तो जहाँ चाहे चली जा सकती है.

मैं एक अपनी आत्माकी बात अक्सर कहता रहता हूँ कि एक बार मेरी पधरावनी हुयी. पधरावनीमें कोई मुझे केसरस्नान कराये इससे अधिक बुरी बात मुझे कोई नहीं लगती. वैसे तो पधरावनीमें ही मुझे बोरीयत होती है, बहुत त्रास होता है. पर उसमें भी यदि केसरस्नान करे तो त्रासकी पराकाष्ठा हो जाती है. वो पधरावनीमें केसरस्नानकी सब तैयारी शुरू हो गयी. वैसे तो गोस्वामीका धंधा ही

खराब है, क्योंकि मैं ना करूँ तो उनका दिल दुःखी हो और हाँ करूँ तो मेरा दिल दुःखी हो. बहुत मनमें अंतरद्वन्द हो गया कि क्या करूँ? बहुत प्यारसे मैनें उनको कहा कि मुझे ये केसरस्नान पसन्द नहीं आता है. उन्होनें इतनी बड़ी ब्रह्मज्ञानकी बात कर दी कि ''आपने ऐसा अहंकार किया ही क्यों कि ये पैर आपका है? ये पैर तो हमारा है.'' मैनें सोचा कि ''अब तो फंस गये बुरी तरह.'' ब्रह्मज्ञानकी बात तो उनकी सच्ची है. क्योंकि **''अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते''** (भग.गीता.३।२७) अपने पैरको अपना मानना अहंकार है. ये ही तो भगवान् गीतामें कह रहे हैं कि ये मिथ्या अहंकार है. उन्होनें कहा कि ''आप ऐसी बात करते ही क्यों हो. चारों ओर ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते हो और ऐसा कहते हो कि ये पैर आपका है? कैसे मान लिया कि ये पैर आपका ही है? ये पैर हमारा भी है.'' तो क्या करते फिर. मैनें कहा कि ''कराओ केसरस्नान, जो करना हो करो.'' हमारी भी कोई साढ़े-सातीकी दशा है जो हमको पधरावनीमें लग जाती है. पर क्या करें ये गोस्वामीका धंधा ही खराब है. अब दुकान पर बैठ गये हैं तो माल बेचना ही पड़ेगा. ये लाचारी है.

मेरे कहनेका अर्थ है कि इस तरहसे नीति और धर्म दोनोंका ही दुरुपयोग हो सकता है. मगर जो बात इसमें समझने लायक ये है कि इस पूरे सिस्टम्में नीति जहाँ तक भी है वो हमारी देहसे संबंधित बात है. धर्ममें आकर पहली बार देह और देहसे ऊपर उठकर आत्माको भी

सम्मिलित किया गया. इसमें बताया गया कि आत्माकी दृष्टिसे कौनसी क्रिया हमें करनी चाहिये और कौनसी क्रिया नहीं करनी चाहिये.

(भक्तिका उद्गमस्थान न देह, न आत्मा है परन्तु परमात्मा है)

पर जब पंचम पुरुषार्थ भक्तिकी बात आयी, तो साफ-सुथरे तौरपर किसी शिलालेख पर लिख लो कि उसमें देह और आत्मा का रोल है पर उसका देह और आत्मा से उद्गम नहीं है. भक्तिक्रियाका उद्गम परमात्मासे होता है. जीवात्मा और परमात्मा के बीचमें जो क्रिया होनी चाहिये, उस क्रियाको भक्ति कहा गया है. आज हम ऐसा समझते हैं कि भीड़ इकट्ठी करनेका नाम भक्तिक्रिया है अरे ये भक्तिक्रिया नहीं भगतिक्रिया है. ''भगत जगत्कों ठगत है, भगत हु जग ठग जाय, भगत जगत् जो न ठगे तहाँ भगत काहे फंस जाय!''

ये बड़े ब्रह्मज्ञानकी बात है. साधारण बात नहीं है. इस जगत्में भगत फँसता क्यों है? क्योंकि वो भक्त नहीं है भगत है, भाग रहा है. भागनेवाला आदमी अधिक गिरता है, चलनेवाला कम गिरता है. हम संसारसे भगते हैं इसीलिए गिरते हैं. कदम संभाल संभालकर अपन यदि संसारमें चलें तो गिरनेका कोई कारण नहीं है. पर अपनको अचानक भगतिका कोई आवेश आता है. ''भाव भगत भादों नदी आवत ही गहराय, गहराई तब जानिये जब जेठ मास ठहराय''

जब हम भागना शुरू करते हैं तो गिर जाते हैं. अपन भागें नहीं और भक्तिमें एक-एक कदम संभाल-संभाल कर चलें तो भगत जगत्को ठग ही नहीं सकता है. और न जगत् भगतको ठग सकता है. पर जब हम भक्तिमें भागना शुरू करते हैं तो वो भक्ति न रहकर 'भगति' हो जाती है. फिर वो भगति भी हो जायगी और दुर्गति भी हो जायगी. उस भक्तिमेंसे ही ये शाखाएं फूटती रहती हैं. ये रहस्य ध्यानसे समझो कि भक्ति, जीवात्मा और परमात्मा के बीचमें पैदा होनेवाला किसी प्रकारका एक संवाद है. वो हमारी देहसे देहका और आत्मासे आत्माका पैदा होनेवाला संवाद नहीं है. स्वभाव प्रभाव कर्म व्यवहार नीति तककी रेंजमें आती बात देहकी बात है. जहाँ धर्म आता है वहाँ आत्मा आती है. पर जहाँ भक्ति आती है वहाँ आत्माके ऊपरकी एक स्टेज् आती है जहाँ जीवात्मा परमात्माके साथ उसके प्रति किसी प्रकारका एक व्यवहार करना चाहती है. परमात्मा जीवात्मासे जिस प्रकारसे संवाद करना चाहता है उसे हम 'कृपा' और 'भक्ति' कहते हैं. ये बात ठीकसे समझ लो. इसका ओर्डर् इस तरहसे है और इस ओर्डरमें हर कदम पर कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य तोतेके पिंजरे जितनी उपलब्ध है. हम आनंदसे उसको वापर सकते हैं. नहीं वापर सकें ऐसी बात नहीं है.

(स्वभावसे धर्मतककी समानान्तर जाती बात भागवतकी लीलासे)

इसके साथ एक बात और समझो कि ये जितने भी

स्टेप् मैनें आपको गिनाये वो भगवान्की सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध मुक्ति और आश्रय के समानान्तर जाती बात है. जैसे स्वभाव सर्गलीला है. प्रभाव विसर्गलीला है. विसर्गलीलाका कोई भी प्रसंग आप उठाकर देख लो कि हर एक पदार्थ दूसरे पदार्थको कैसे प्रभावित करता है, वो लीला है. अब स्थानकी बात समझो. कोई भी आदमी स्थित कैसे होता है? अपने ज्ञान इच्छा और प्रयत्न से. तो स्वभाव या प्रभाव में जब कर्म उपस्थित होता है, वो हमारा जीवात्माका स्थान है. इसीलिए तुलसीदासजी भी कहते हैं कि ''कर्म प्रधान विश्व कर राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा.'' स्थान हमारे कर्मसे निर्धारित हो रहा है. वो भगवान्की स्थानलीलाके समानान्तर आती हुयी बात है. पोषण क्या है? वो व्यवहार है क्योंकि जब व्यवहार होगा तो एक-दूसरेका पोषण होगा. क्यों होगा? मुझे एक अच्छा उदाहरण याद आ गया. जब मैं बनारस पढ़ता था तो बनारसकी गलियोंमें ये माहात्म्य देखा कि वरराजा घोड़े पर बैठ कर आते हैं. बैंडबाजेवाले जोर-जोरसे बैंड बजा रहे हैं. इतनेमें गलीके दूसरी तरफसे एक भैंस आयी और वो बैंड बाजेकी आवाज सुनकर भड़क जाती है. सब बाराती इधर-उधर तितर-बितर हो जाते है. पर वरराजाकी तकलीफ ये कि अपना वरराजा होनेका अहंकार रखनेके कारण वो घोड़ेसे उतरे तो वरराजा नहीं और भैंसको ये समझ नहीं आता कि ये वरराजा है. वो आकर सीधी घोड़ेसे टकरायी. अब

वरराजा नीचे-ऊपर होय कि कहाँ जाऊँ कैसे बचूँ? सब बाराती मुझे अकेला छोड़ गये. क्योंकि गलियाँ इतनी छोटी है कि भैंस तो टकराये बिना जाय कहाँ? होगा वरराजा किसी वधुके लिए, पर भैंसके लिए तो वो वरराजा नहीं है. जब भी कोई भैंस आती थी तो बारात देखनेमें मुझे बड़ा आनंद आता था. बनारसमें भैंसका अद्‌भुत माहात्म्य है. **''स्थितप्रज्ञस्य का भाषा ?''** (भग.गीता.२।५४) निर्द्वंद वो वरराजाके घोड़ेसे टकरा जाती थी. एक बात समझो कि ये जो व्यवहार है हमारा, इस व्यवहारमें साधन उपलब्ध है पर जब व्यवहार हम कर रहे हैं तो एक-दूसरेका पोषण हम कर रहे हैं.

और नीति व्यवहारके ऊपर आती है, वो नीति क्या है? **''उतय: कर्म सद्‌वासना असद्‌वासना या मिश्रितवासना''** हमारे भीतर एक व्यवहार करते हुये एक सद्‌वासना पैदा होती है कि हमारे भीतर कोई वस्तु हमें तकलीफ दे रही है, वो किसी औरको भी तकलीफ देगी. जिससे मुझे तकलीफ होती है ऐसा काम यदि मैं करूँगा तो वैसा काम मेरे विरुद्ध भी कोई कर सकता है. जब सद्‌भावना हमारे भीतर जगती है तो हमें नीतिका बोध होता है कि ऐसा काम मुझे नहीं करना चाहिये.

उसके बाद अगला जो आता है वो है धर्म. **''मन्वन्तर: सद्‌धर्म:''** वहाँ धर्म आता है कि शास्त्रके हिसाबसे हमको क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना

चाहिये. उसके बाद नवमस्कन्धका विषय भक्ति है. वो भक्ति निरोध तक भी पहुँच रही है. उसके बाद मुक्ति और आश्रय आता है.

आप उसको यों भी समझ सकते हैं कि जहाँसे निरोध मुक्ति और आश्रय की बात आती है वहाँसे फिर भगवत्स्वरूपकी बात आती है, जिसको 'सच्चिदानंद' कहा जा रहा है. वो सत् भी है, वो चित् भी है और आनंद भी है. सृष्टिका कोन्स्टीट्‌यूशन् है वो मेगा स्केल् पर है. वो ही माइक्रोस्केल् पर हमारे भीतर रिप्रोड्‌यूस् किया गया है, क्लोन् किया गया है. हम सब उसके रिक्लोन्ड् स्वरूप हैं.

हमारे अंदर सारे लीलाके स्टेजीज़ हैं. और हम भी इन विविध रूप क्रिया-कलापोंमें स्वभावसे प्रभावसे ज्ञानेच्छाप्रयत्नसे व्यवहारसे नीतिसे धर्मसे या भक्तिसे हमारे भीतर क्रिया भी उत्पन्न हो रही है, इन विविध रूपमें होती क्रियाओंमें हम ये बात अच्छी तरह समझ सकते हैं कि वो भगवान्‌की लीलाका ही कोई हमारे भीतर रिफ्लेक्शन् या रिप्रोडक्शन् हो रहा है. इसीलिए जहाँसे भगवान्‌के सच्चिदानंदका स्वरूप है वहाँसे अपने यहाँ लीलाकी बात शुरू हो जाती है. जब आपको इन सारे ऊपर कहे रूपोंमें सच्चिदानन्दका अनुभव हो, बोध हो तो आपको ब्रह्मका बोध हो रहा है, स्वरूपका बोध हो रहा है. जब इनका बोध नहीं हो रहा है तो क्या होता है कि हर बार आपको यह ही अनुभव होता है कि ये तो मेरे स्वभावसे

हो रहा है. ये तो मेरे ऊपर पड़े हुये प्रभावसे हो रहा है. जैसे किसीने मेरे गाल पर थप्पड़ मारा और मेरे मुँहसे गाली निकल गयी. गालीका मेरा स्वभाव नहीं है पर थप्पड़ पडेगा तो गाली तो निकल जायगी. तो जो गाली निकली है वो प्रभावसे निकली है. कभी हम गाली देते हैं इस नीतिके कारण कि उसने क्यों मुझे गाली दी. ये क्या व्यवहार है! एक छोटेसे उदाहरणसे भी ये पूरी बात समझायी जा सकती है.

हमारे एक परिचित थे. उनका स्वभाव ही गाली देनेका था. हर बातमें मुखसे गाली निकल जाती थी. वो अपने मालिकको भी गाली दे दिया करते थे कि ''क्या तुम कुत्तेकी तरह भौंक रहे हो. अरे अरे गलती हो गयी. आप तो मेरे मालिक हो.'' ये क्या है? उसका कोई ज्ञान इच्छा या प्रयत्न नहीं है मालिकको गाली देनेका. पर गाली देनेका स्वभाव ही हो गया है. वो मालिकके सामने भी प्रकट हो जाता है.

कुछ स्वभावसे, कुछ प्रभावसे, कुछ ज्ञानेच्छाप्रयत्नसे, कुछ नीतिसे गाली निकलती है. इसको किसी और तरहसे चुप नहीं किया जा सकता था. गाली देकर ही चुप किया जा सकता है. कभी हम नीतिसे गाली देते हैं. कुछ गालीयें हम धर्मसे देते हैं. जैसे किसीको हम 'काफ़िर' कहते हैं, किसीको 'प्रवाही जीव' कहते हैं. किसीको 'आसुरी जीव' कहते हैं किसीको 'नरकगामी पापी' कहते हैं. ये सब क्या है? धर्मके भावसे निकली हुयी गालियाँ

है. किसी भी एक उदाहरणमें आप इन सारी बातोंको देख सकते हो. चाहे वो गाली देनेकी बात हो या कर्म या पूजाकी बात हो. सब जगह वोही सिस्टम है सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर भक्ति निरोध मुक्ति और आश्रय की. हम भक्तिसे भी गाली दे सकते हैं ''हरि कारो री हरि कारो, ये द्वै बापन विच बारो.'' ''यह द्वै बापन बिच बारो'' गाली नहीं है तो क्या है? ये कैसी गाली है? ये न स्वभावकी गाली है, न प्रभावकी गाली है, न ज्ञान इच्छा प्रयत्न की गाली है न ये नीतिकी गाली है, न ये धर्मकी गाली है. किसी शास्त्रमें नहीं लिखा है कि भगवान्‌को इस तरह गाली दी जा सकती है. भई प्रेम आ रहा है, स्नेह आ रहा है, भक्ति आ रही है तो गाली गा रहे हैं. ''ढीठ भये तुम लंगर फिरत हो.'' तो ''ढीठ'' जो गाली है वो भक्तिकी गाली है. हर बातमें सृष्टिमें जो मेगा स्केल् पर चल रहा है वो ही यहाँ माइक्रो स्केल् पर भी चल रहा है. हम उसी लीलाको माइक्रो स्केल् पर जी रहे हैं, जिस लीलाको मेगा स्केल् पर ब्रह्म जी रहा है. क्योंकि हम ब्रह्मके अंश है, इसीलिए माइक्रो स्केल् पर हम भी उसी लीलाको जी रहे हैं. पर वो लीलाभाव जगना मुश्किल है. लीलाभाव जगे तो सारी बात समझमें आ जायगी. सारी बातोंका समाधान हमको मिल जाता है. और लीलाभाव नहीं जगा तो ये सारी बातें हमको अपने अहंकारसे उत्पन्न लगती है. और फिर उस बातका समाधान हमको नहीं मिलता. कि उसने हमको काफ़िर कह दिया तो हम भी उसको पापी कहेंगे, म्लेच्छ कहेंगे, यवन कहेंगे. ये

सब धर्मके भावसे दी गयी गालियाँ है. बात आयी न समझमें! न आपने उसके बापका कुछ बिगाड़ा है, न उसने आपके बापका कुछ बिगाड़ा है. पर धर्मभावसे हमको गाली सूझती है.

कई तरहसे ये सारी लीला हमारे भीतर काम कर रही है. और शास्त्रमें जो बात मैं आपको समझाना चाहता हूँ वो ये है कि धर्म अर्थ काम मोक्ष और भक्ति ये जो पाँच पुरुषार्थ है वो सारे स्टेप्स्में मौजूद है. कुछ स्वाभाविक धर्म है, कुछ स्वाभाविक अर्थ है. कुछ स्वाभाविक काम है, कुछ स्वाभाविक मोक्ष है. कुछ प्रभावसे पैदा होनेवाला धर्म है, कुछ प्रभावसे होता अर्थ है, कुछ प्रभावसे पैदा होनेवाला काम है कुछ प्रभावसे पैदा होनेवाला मोक्ष है. कुछ ज्ञान इच्छा प्रयत्न से पैदा होनेवाले धर्म अर्थ काम मोक्ष है. इसी तरह धर्मसे पैदा होनेवाला धर्म अर्थ काम मोक्ष है. इसी तरह भक्तिसे पैदा होनेवाला धर्म अर्थ काम मोक्ष है. तो धर्मार्थकाममोक्षके समायोजनकी जब हम बात कर रहे हैं तो विशाल फलक पर हमारे यहाँ ये सारी बातें सोची गयी है. हम यदि शास्त्र देखें तो ये सारी बातें हमको यहाँ मिलती है. और शास्त्र नहीं देखें तो कुछ भी नहीं मिलता है. वो हमको देखना चाहिये.

प्रकरण : ६

(प्रश्नोत्तर)

प्र. यदि सब वस्तुका उद्‌गम ब्रह्मसे है तो मनुष्यकी दोषवृत्ति काम क्रोधादिका उद्‌गम कहाँसे मानना? ब्रह्मसे नहीं होय ऐसा तो हो नहीं सके और यदि है तो उसको दोषरूप क्यों मानना?

उ. शुद्धि और अशुद्धि के बारेमें मैनें अपने प्रवचनके आरंभमें जलके उदाहरणसे एक बात बताई थी के थोड़ा जल अशुद्ध हो जाता है और वोही जल अधिक परिमाणमें होय तो अशुद्ध नहीं रहे है. इसमें मैनें बरसातका और हाथसे जल ढुलनेका उदाहरण दिया था. शक्ति अशक्तिसे कोई वस्तु शुद्ध अशुद्ध होती है. संस्कार द्रव्य से वस्तु शुद्ध अशुद्ध होती है. अपने सोचनेके तरीका इतने संकीर्ण हैं कि अपन एक ही ढंगसे सोचते हैं. एक प्रसिद्ध उदाहरण भागवतमें एकादश स्कन्धमें ये बताया गया है कि किसी भी पार्थिव द्रव्यमें किसी प्रकारकी अशुद्धि, जैसे गंध या लेप हो जाय तो उसे मिट्टीसे शुद्ध करते हैं. मिट्टीसे किसी चीज़की अशुद्धि हो जाय तो उसे जलसे शुद्ध करते हैं. जलमें कोई अशुद्धि हो जाय तो शुद्धि हवा और प्रकाश से होती है. हवाका स्वभाव है कि वो जलको उड़ा देती है तब वो कचरा नहीं उठाती. प्रकाश भी केवल भाप ही उठाता है कचरा नहीं उठाता है. इसीलिए हम जानते हैं अच्छी तरहसे कि समुद्रका खारा जल भी भाप बनकर उड़नेसे मीठा हो जाता है, खारा नहीं रहता.

पदार्थकी शुद्धि और अशुद्धि परस्पर निर्भर है. उसमें कौनसा शुद्ध करनेवाला पदार्थ है और कौनसा अशुद्ध पदार्थ है, ये प्रभेद नहीं है. जो भी अशुद्ध हो गया उसको किसी दूसरे पदार्थसे शुद्ध करनेका विधान है. जैसे कपड़े पर मिट्टीका दाग लग गया तो उसे पानीसे धोकर हम शुद्ध कर लेते हैं. यदि सादा पानीसे न हो तो थोड़ा गरम पानीसे भी कर लेते हैं. तो उसमें पानीके साथ आगका भी रोल आ गया. पर अग्निसे कपड़ेको शुद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि जल जायगा. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने एक बड़ा अच्छा विधान किया है कि अक्सर ऐसा होता है कि जिनको शुद्ध करनेकी तरकीब नहीं आती है वो द्रव्यका ही नाश करते हैं. और जिनको तरकीब आती है वो किसी एक द्रव्यको किसी दूसरे द्रव्यसे अथवा और प्रकारोंसे उसको शुद्ध कर लेते हैं. जैसे अपने यहाँ बर्तन अशुद्ध हो गया तो उसे आग पर तपा लो तो शुद्ध हो जाता है. अब किसी झंडेधारीको कह दें कि आगसे तपाने पर शुद्ध हो जाता है और वो कपड़ेको भी आगसे शुद्ध करे, तब तो कपड़ा जल ही जायगा और मानो कि शरीर ही अशुद्ध हो गया तो आगसे तपाने पर शुद्ध थोड़े ही होगा, नाश होगा. वहाँ महाप्रभुजीने एक बहुत मजेदार विधान किया है **''आर्ताः स्म प्रसिद्ध्या इति स्मार्ता''** हर चीज़को नाश कर देते हैं पर शुद्ध नहीं करते हैं. अब स्मार्तमें अपन यदि 'त'के स्थान पर 'ट'' लगायें तो स्मार्ट भी हो सकता है. ऐसे बहुत लोग स्मार्ट भी होते हैं कि जो शुद्ध करनेके बजाय नाश ही कर देते हैं.

मुख्य मुद्दा समझनेका यहाँ ये है कि वो ही काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर किसी एक संदर्भमें गुण भी हो सकते हैं और वो ही किसी दूसरे संदर्भमें दोष भी हो सकते हैं. पुराण उठाकर देख लो कि जितने ऋषि-मुनि जितने नाराज़ होते थे उतना औसतन आदमी नाराज़ नहीं होता था. चलते फिरते ऋषि-मुनि गुस्सा हो जाते थे. मगर उनके गुस्सा होनेकी कथामें हर समय ये बात आप पायेंगे कि जब भी वो गुस्सा हुये तो किसीका भला हुआ. जब वो गुस्सा हुये तो किसीका बुरा नहीं हुआ. तो कौन गुस्सा हो रहा है, किस कारणसे गुस्सा हो रहा है, क्यों गुस्सा हो रहा है, प्रयोजन क्या है? इन सारी बातोंसे गुण और दोष की विवेचना होती है. कुछ लोग हमारे भगवान्के लिए ऐसे कहते हैं कि तुम्हारे पुराणोंमें भगवान्की वार्ताओंमें काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर दिखलाई देते हैं इसलिए वो भगवान् नहीं है. हमारे भगवान्में ये दोष दिखलायी नहीं देते हैं. इसीलिए हमारे भगवान् तुम्हारे भगवान्की तुलनामें अधिक शुद्ध है. ये विधान तो स्वयं ईर्ष्याके वश किया गया विधान है. क्योंकि ईर्ष्या या असूयाका अर्थ क्या? इसका मतलब ये हैं कि किसी दूसरेमें दोष देखना और अपनेमें गुण देखना तो आप अपने भगवान्में गुण देख रहे हो और दूसरेके भगवान्में दोष देख रहे हो ये असूया अथवा ईर्ष्या नहीं है क्या? जब विधान करनेवालेमें ऐसी ईर्ष्या बोल रही है तो वो इस बातको कैसे कह सकता है. इसलिए भागवतने एक बहोत सुंदर विधान किया है कि **''कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या**

रोषं दहन्तमुत ते न दहन्ति असह्यम्'' (भाग.पुरा.२।७।७) आप कहते हैं कि काम बहुत खराब है, और आपने रोषसे कामको जला दिया पर रोष भी तो उतना ही खतरनाक है न! **''रोषदृष्ट्या रोषं दहन्तमुत ते न दहन्ति असह्यं सोऽयं यदन्तरमलं प्रविशन् बिभेति कामः कथं नु पुनः अस्य मनः श्रयेत?''** (वहीं) ये अन्तरमल है जो भीतर आकर हमको जला रहा है उसको कैसे शान्त करना चाहिये, प्रश्न ये हैं. प्रश्न ये नहीं है कि काम क्रोध लोभ मोह मद् मात्सर्य ये दोष हैं या नहीं हैं. कहाँ वो दोष है, कहाँ वो दोष नहीं है? किस संदर्भमें वो दोष हैं और किस संदर्भमें वो दोष नहीं हैं. किस प्रयोजनसे वो दोष है और किस प्रयोजनसे वो दोष नहीं है. जैसे माँ अपने बच्चेको सुधारनेके लिए थोड़ा गुस्सा करती हो, थोड़ा डपट लगाती हो तो वो क्रोध है कि नहीं! पर माँके क्रोध पर कोई शान्त मुनि वहाँ पहुँच जाय और कहे कि बच्चे पर क्रोधित मत होओ. अब बच्चा तूफान कर रहा है और क्रोधसे उसका संस्कार नहीं करेंगे तो बच्चा और गिलिंडर् हो जायगा. उसका जिम्मेदार कौन होगा जब वो उपद्रव शुरू करेगा तब. उस समय माँका क्रोधित होना दोष नहीं अदोष है. बच्चेके विकासके लिए वो आवश्यक है.

काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य ये सब दोष हैं मगर किसी संदर्भमें ये दोष हैं. किसी संदर्भमें ये दोष नहीं हैं. किसी पात्रमें ये दोष हैं, किसी पात्रमें ये दोष नहीं हैं. इसलिए उपनिषद् यदि आप देखेंगे तो भगवान्में सबसे पहले

काम ही पैदा हुआ है. **''कामः तदग्रे समवर्तताधि''** (ऋ.अ.८।७।१७, तैत्ति.आ.१।२।३।१) सबसे पहला काम भगवान्में पैदा हुआ. बादमें हममें पैदा हुआ. मगर भगवान्के काममें और हमारे काममें अंतर क्या है? भगवान् **'सत्यकाम'** है. सत्यकामका मतलब क्या कि जब जिस वस्तुकी वो कामना करते हैं वो वस्तु सामने प्रकट हो जाती है. हम कामना करते रहते हैं और सामने रखी हुयी वस्तु भी गायब हो जाती है और हमको पता भी नहीं चलता, और वो हमको परेशान करती है. वो ही काम हमारे लिए दोषरूप हो जाता है. क्योंकि हम कामना करते रहते हैं और वस्तु गायब हो जाती है और अंतमें गायब होनेवाली वस्तुका कुछ नहीं बिगड़ता पर हम बिगड़ जाते हैं. तब वहाँ काम दोषरूप बन जाता है. क्योंकि उस कामको हम झेल नहीं पाते हैं, उस कामको हम संभाल नहीं पाते हैं. जिससे संभल पा रहा है उसके लिए काम, दोष नहीं है. जिससे क्रोध संभल पा रहा है उसके लिए क्रोध दोषरूप नहीं है. एक क्रोधका बीज कितनी तरहसे पनप सकता है उसका इतिहास बता रहा हूँ. हमारे दादाजीने एक बार खूब सारी पुस्तकें प्रसन्न होकर हमें दे दी कि ''जाओ बेटा तुम रखो.'' अब वो वहाँसे कह रहे थे कि ''इस किताबको इस तरहसे रखना, उसको उस तरहसे रखना.'' उस हिसाबसे मैं उनको जमाके रख रहा था. उस बखत एक मेरे अध्यापक शास्त्रीजी भी मेरे साथ

थे. उन्होनें कहा कि–''इनको ऐसे मत रखो, वैसे मत रखो, ऐसे रखो.'' अब मेरे वो विद्यागुरु और दूसरी तरफ मेरे पिताजी भी और विद्यागुरुभी, तो बात किसकी मानूँ. मैं कन्फ्यूज़् हो गया. मेरे मुँहसे निकल गया कि ''गुरुजी वो दादाजी ऐसा कह रहे हैं कि इन किताबोंको इस तरहसे रखो.'' अब तो गुरुजी एकदम क्रोधित हो गये. चलो क्रोधित हो गये तब तक तो कोई बात नहीं थी क्योंकि गुरुका अधिकार है क्रोधित होना. पर गुस्सेसे काँपने लग गये. मैनें कहा ''इतना आप क्रोध करोगे तो आपके स्वास्थ्य पर बुरा असर होगा.'' आप मानेंगे नहीं कि मैं जब तक उनके पास गया तब तक गुरुजीका देह छूट गया. अब देखो क्रोध करना बुरी बात नहीं थी. पर इतनी छोटीसी बात पर इतना क्रोध हो जाता है. चलो एक गलत काम तो हो गया पर उसके बाद हमारे बड़े मंदिरमें सब लोगोंको एक और भ्रांति हो गयी कि गुरुजी भूत हो गये, क्योंकि उनकी देह इस तरहसे छूट गयी इसलिए. अब वो भ्रांतिके कारण रातको कोई खाट परसे गिर जाता था तो ये होता था कि गुरुजीने पटक दिया. मैं कहता कि ''ऐसा थोड़े ही होता है. ठीक है थोड़े क्रोधित हो गये थे पर खाट परसे पटकनेमें उनको क्या लाभ होगा? किसीको पटकनेमें उनको क्या लाभ होगा?'' किसी किसीके वस्त्र रातको खुलने लग गये रातको. सुबह वो नंग धड़ंग मिलें तो कहते कि ''गुरुजीका भूत रातको कपड़े खोल गया.''

अरे भई, गुरुजी अच्छे थे, विद्वान थे वो ऐसा क्यों करते! पर क्या है कि सबको भ्रमणा हो गयी. बादमें पता चला कि भूत आ गया ऐसी भ्रमणामें खुद गुड़क जाते थे और सोचते थे कि गुरुजीने ऐसा किया है. एक क्रोधकी परंपरासे ये कहानी कितनी दु:खात्मक आगे बढ़ गयी! एक तो छत पर सो रहा था तो मुंडेरके इस तरफ घुड़क गया और कहने लगा कि ''गुरुजीका भूत आया था और गुड़का गया.'' मैनें कहा कि ''अच्छा हुआ न! गुरुजी हमारे समझदार थे. जो उस तरफ नहीं गुड़काया, नहीं तो छतसे नीचे ही आते. इसमें तो गुरुजीका धन्यवाद मानना चाहिये!'' जैसे एटम्का विस्फोट होता है उससे शहरके शहर बर्बाद हो जाते हैं ऐसे ही एक क्रोधसे तीन–चार महीने तक बर्बादी हुयी और वो दास्तान चलती रही. रोज सुबह एक दास्तान सुननेको मिलती थी कि गुरुजीके भूतने ऐसा कर दिया. सचमें वो काम गुरुजी नहीं कर रहे थे पर गुरुजी भूत हो गये है इस बातसे सब लोग सेल्फ् हिप्नोटाइज़् हो गये थे.

किसीका क्रोध ऐसा निगेटीव् होता है और किसीका क्रोध पोज़िटिव् रिज़ल्ट् देता है. काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य इन सबके साथ यह ही कथा है कि यदि आप उसको नियंत्रणमें रखते हो और उसके कारण यदि आप किसीको सुधार सकते हो तो वो दोष होते हुए भी गुणरूप हो जाता है. **''क्वचिद् दोषोपि गुण: स्यात् क्वचिद् गुणोपि**

दोष: स्यात् स्वभावो यादृशो यस्य सवै स्याद् दुरतिक्रम: 'दुष्' धातोर्गुणादेशे दोष: स्याद् नात्र संशय:'' स्वभाव दुरतिक्रम होता है. दुष् धातुको गुणका आदेश करो तो दोष बनता है. गुणका आदेश किया फिर भी दोष बना न! गुण तो नहीं बना. दुष्को गुणादेश करनेपर 'दोष' होता है. 'उ' का गुण 'ओ' होता है. जैसे 'सूर्य+उदय' सूर्योदय. इसको संस्कृतमें 'गुण' कहा जाता है. 'उ'का 'ओ' हो जाना 'गुण' कहलाता है. तो 'दुष्' धातुको गुणादेश माने 'ओ' लगाने पर भी वो 'दोष' हो जाता है. मूल बात ये है कि जहाँ वो प्रकट होना चाहिये यदि वो वहाँ प्रकट होता है, जिसलिए वो प्रकट होना चाहिये उसलिए वो प्रकट होता है, जिस तरहसे प्रकट होना चाहिये, उस तरहसे प्रकट होता है तो तो दोष भी गुण हो सकता है.

मैं अक्सर एक बात कहता हूँ कि जितनी बाढ़ आती है वो हमको बहुत बड़ा दोष लगता है. अब आजकल तो इकोसिस्टम्की व्यवस्था बदल रही है. पर प्राचीनकालकी मैं बात कर रहा हूँ और अभी भी कई अर्थमें तो वो चालू ही है. जब भी नदीमें बाढ़ आती है तो नदीके किनारेकी भूमि उपजाऊ हो जाती है. घर तो बह जाते हैं पर जमीन उपजाऊ हो जाती है. अब वो गुण है कि दोष है? ऐसा लगता है कि नदी बहुत क्रोधित हो गयी है हम पर, हमारा घर बहा दिया. अरे भई! घरमें रहते रहोगे और जमीन अन्उपजाऊ हो गयी तो खाओगे क्या? नदी उसको कैसे व्यवस्थित करती है कि दो-चारके घर भले ही बह जाय पर जो बचे हैं उनको खानेके लिए अनाज तो

मिलता रहे. तो कहीं गुण भी दोष हो जाता है और कहीं दोष भी गुण हो जाता है. ये वोल्केनिक् इरप्शन्से लावरस निकलता है उससे भी जमीन बहुत उपजाऊ हो जाती है. शुरुआतमें सब जल जाता है पर अंतमें उससे भी जमीन उपजाऊ होती है. जमीन एकदम नयी, उर्वरक हो जाती है. तो क्या दोष है, और क्या गुण है, उसका निर्धारण अपनी फुटपट्टीसे नापकर हम नहीं कर सकते. ये बात हमको समझनी चाहिये कि बड़े स्केल् पर वो ही चीज़ गुण बन जाती है और छोटे स्केल् पर वो ही चीज़ दोष बन जाती है. छोटा बच्चा जब तुतलाकर बोले तो गुण लगता है और कोई बड़ा आदमी यदि तुतलाकर बोले तो हंसी आयगी. तो कहाँ वो दोष है, कहाँ वो गुण है? ये हमको समझना पड़ेगा. भगवान् यद्यपि सारे दोषोंके मूल हैं तो भी वहाँ वो दोष नहीं है गुण है. वो ही दोष यहाँ दोषरूप हो जाते हैं ये हमको समझना पड़ेगा क्योंकि उनको पचानेकी सामर्थ्य अपनेमें नहीं है. जैसे भीमकी जितनी खुराक थी वो भीमके लिए गुण थी. पर यदि उतनी खुराक हम खा लें तो 'चलन चहत अब कृपानिधाना' हो जाय. उतनी खुराकको पचानेकी अपनमें सामर्थ्य नहीं है तो वो बात हमारे लिए दोषरूप हो जाती है.

भागवत इस बातका खुलासा करती है कि **''वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि धातुषु, उद्धव! कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये''** (भाग.पुरा.११।२१।६) सब कुछ समान होते हुये भी किसीको दोष बताया गया है और किसीको गुण बताया गया है. इसीलिए जैसे कल मैनें आपको बात

बतायी थी कि बॉल्को पैरसे मारना फुटबॉल्में गुण है और वही बात क्रिकेटमें दोष है. बॉल्को पैरसे मारना गुण है कि दोष है ये हम अपने आप निर्धारण नहीं कर सकते. ये आपको देखना पड़ेगा कि किस स्पोर्टकी आप बात कर रहे हो. किसी स्पोर्टमें वो गुण भी हो सकता है और किसी स्पोर्टमें वो दोष भी हो सकता है. जैसे हौकीमें बॉलको हॉकीसे लेकर दौड़ना गुण है और क्रिकेटमें वो ही दोष है तो अपने आपमें कोई भी चीज़ गुण या दोष नहीं है. किसी अपेक्षासे वो गुण है और किसी अपेक्षासे वो दोष है. जैसे हाथीका मोटा होना हाथीके लिए गुण है और अपन हाथीके जैसे मोटे हो जाय तो वो ही दोष है.

आपको शायद पता है कि नहीं पर केरलमें एक विचित्र रोग है जिसको 'हाथी पगा' रोग कहते हैं. उसमें हाथीके जैसा पाँव हो जाता है. हाथीके जैसा पाँव होना हाथीके लिए गुण है और मनुष्यमें हाथीके जैसा पाँव होना एक रोग है, दोष है. अपने यहाँ 'सूर्पणखा' कहते हैं न! उसके सूपके जैसे नख थे. वो दोष था पर किसीमें वो गुण भी हो सकता है. ये बात अपनको समझनी चाहिये कि गुणदोषके बारेमें इस प्रकारका निरपेक्ष दृष्टिकोण रखना एक संकीर्ण मनोवृत्ति है. हर समय अपनको उस वस्तुका संदर्भ, उसका पात्र, उसका प्रयोग उसका प्रयोजन इस बातसे गुण-दोषका निर्धारण करना चाहिये. बैठे बिठाये हम ये आक्षेप कर देते हैं कि विष्णु भगवान्के हाथमें चार आयुध हैं इसलिए वो हिंसक देव है. अरे यों सोचो कि

यदि हम शांत मुद्रामें आयुध उठावे बिना, बैठकर यदि मनमें सोच रहे हैं कि मारो विष्णुको, तो ये दोष है कि नहीं? और चार आयुध रखकर भी किसीको मारते न हो और पालन करते हों तो गुण है. गुण क्यों है? क्योंकि वो भक्तविरोधीको डरानेके लिए है.

एक अन्धा बेट्री लेकर जा रहा था तो किसीने पूछा कि "भई अन्धे होकर बेट्री रखनेसे फायदा क्या? उसने कहा "भई! लोग मुझसे न टकरा जांय इसलिए बेट्री लेकर चलता हूँ." अब बताओ बेट्री लेकर चलना गुण हुआ कि दोष! हम समझते हैं कि दोष है. जब अंधेको दीखता नहीं है तो बेट्री लेकर चलना बेट्रीकी वेस्टेज् है इसलिए दोष है. वो दोष नहीं है गुण हैं क्योंकि प्रयोजन शुद्ध है कि जिससे कोई मुझसे न टकरा जांय. अँधेरेमें उसे पता चले कि सामने कोई है. वो भी तो एक सावधानी रखनी पड़ेगी न!

प्र. जीवमें स्वभाव, प्रभाव, व्यवहार, कर्म, नीति, धर्म आदि ब्रह्मके अंशरूपसे हैं तो ब्रह्मका स्वभाव, ब्रह्म पर होता प्रभाव, उसका व्यवहार आदिको कैसे समझना?

उ. ब्रह्मका स्वभाव मैनें जैसे बताया कि सच्चिदानंद होता है. ब्रह्मपर होता प्रभाव कैसे होता है. तो ध्यानसे समझो कि ब्रह्म यदि "एकमेवाद्वितीय" है तो उसमें भक्त और भगवान् का भेद तो हो नहीं सकता. जो खुद अकेला है तो उसमें भक्त और भगवान् का भेद होगा कैसे? भक्त और भगवान् का भेद होनेके लिए एक भक्त होना चाहिये

एक भगवान् होना चाहिये. अब जब भक्तिकी बात आ रही है और ब्रह्ममें भेद हो नहीं सकता है, भक्त और भगवान् का, तो भक्ति संभव ही नहीं है. अब नहीं संभव है तो नहीं संभव है पर ब्रह्म यदि दो रूप धारण कर सकता है कि एक रूपमें वो भगवान् बन जाय और दूसरे रूपमें वो भक्त बन जाय तो उस समय जो उसने भक्तका रूप धारण किया वो रूप यदि भगवान्को भजनेके बजाय वो शैतानको भजने लग जाय तो वो दोषरूप है और भगवान्को भजने लग जाय तो ब्रह्मपर पड़ा हुआ वो भक्तका प्रभाव है कि नहीं? संस्कृत भाषाके हिसाबसे भगवान् अपने आपमें ऐसी ईकाई नहीं है. क्योंकि जिसको भजा जाय, जिसके गुण भजने लायक हों उन गुणोंको 'भग' कहा जाता है. और जिसमें ऐसे गुण हों उसे 'भगवान्' कहा जाता है. उसको जो भजता हो उसे 'भक्त' कहा जाता है तो भजनकी प्रक्रियाके प्रभाववश ब्रह्म भगवान् बनता है. यदि हम भजन न करते हों तो वो भगवान् नहीं है और यदि वो भगवान् नहीं है तो हम भक्त कहाँसे होंगे! ये अन्योन्याश्रित बात है.

एक बार हम मथुरासे बम्बई आ रहे थे तो एक आर्मीके सरदारजी ऑफीसर् भी हमारे डिब्बेमें थे. उन्होनें अचानक हमसे सवाल किया कि ''आपका कौनसा धर्म है?'' मैनें कहा कि ''हमारा भक्तिमार्ग धर्म है.'' वो बोले ''मूर्तिपूजा करनेका!'' मैनें कहा ''हाँ'' तब वो बोले कि ''मोहम्मद गज़नबीने सोमनाथका लिंग तोड़ा तब आपके

भगवान् कहाँ चले गये थे!'' मैनें कहा ''वो तलवारमें चले गये थे. भगवान् तो सब जगह बिराजते हैं न! कभी वो शिवलिंगमें बिराजित है तो वो पूजा करवाते हैं. कभी वो तलवारमें बिराजते हैं तो इस शिवलिंगको तुड़वा देते हैं. इसमें घबरानेकी बात क्या है? क्या अपन भगवान्को ऐसे कह सकते हैं कि No admission without permission आप तलवारमें नहीं घुस सकते हो. खाली शिवलिंगमें ही कैद रहना.'' शिवका स्वरूप संहारका है. जब लिंगमें बिराजते हैं तो हमारे अज्ञानका, हमारे पापका संहार करते हैं. और जब तलवारमें बिराजते हैं तो शिवलिंगका भी संहार कर देते हैं. करते तो संहार शिव ही है. जहाँ भी संहार हो रहा है वो शिवलीला है. अब वो संहारलीला कहाँ बिराजके करें, ये तो उनके मनकी बात है न! तो एक बात ध्यानसे समझो कि 'भगवान्' शब्द भजने पर भगवान् होता है. नहीं भजा तो भगवान् नहीं है.

मेरा एक बहुत प्रिय सूफी शायर है. मैं हर समय उसका उदाहरण देता रहता हूँ. उसका नाम सर्मद है, जिसे औरंगजेबने जामा मस्जिदकी सीढ़ियों पर कत्ल किया था. वो सर्मद ये कहता है कि

''हक़ त्आला चे कर्द पैदा मारा,
मा पैदा करदेम हक़ त्आलारा
इंसाफ बकून कीस्त रूतबे बुलंद
उ अदना आफ़्रीन व मा आलारा''

तुम लोग सब कह रहे हो कि ''हक़ त्आला''

(परमात्मा) ने मुझे पैदा किया. तुम्हारा गलत ख्याल है क्योंकि मैनें हक़ तआलाको पैदा किया है. उसके बाद वो बहुत बड़ी बात कहता है कि ''इंसाफ बकून कीस्त रूतबे बुलंद'' पैदा करनेवालोमें रुतबा किसका बड़ा है, उसका कि मेरा? क्योंकि उसने तो मेरे जैसी नाचीज़ पैदा की और मैनें तो उसके जैसा अल्लाह पैदा किया है. उसने तो मेरे जैसा अदना आफ़रीन पैदा किया है और मैनें तो उसे भज कर उसके जैसा भगवान् बना दिया है. एक बात ध्यानसे समझनेकी है कि भगवान् अपने आपमें नहीं होता पर भक्तके द्वारा ब्रह्मके पर पड़ा हुआ प्रभाव भगवान् है, ब्रह्म पर भी तो हमारे भजनका प्रभाव पड़ता ही है न! हमारे भजनके प्रभावसे ब्रह्म भगवान् बनता है. हमारे भजनका प्रभाव न पड़े तो भगवान् बेचारा ब्रह्म ही रह जाता है. कोई भजता ही नहीं है तो क्या करें?

प्र. क्या ब्रह्मके भी कुछ धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थ होते हैं?

उ. भागवतमें सर्ग विसर्ग आदि लीलाओंमें धर्म अर्थ काम मोक्ष की व्यवस्था स्वयं बताई गयी है. वो हमारे पुरुषार्थ नहीं है, उसके पुरुषार्थ है. क्योंकि सिस्टम् प्रोवाइडर् वो है और सिस्टमके यूज़र् हम है. सिस्टम् प्रोवाइडर् अलग होता है और सिस्टम यूज़र् अलग होता है. जैसे अंग्रेजोंने यहाँ एक रेलकी सिस्टम् प्रोवाइड् की और हम लोग उसे यूज़ कर रहे हैं. ऐसे ही धर्म अर्थ काम मोक्ष का सिस्टम् प्रोवाइडर् वो है. वो उसके धर्म अर्थ काम मोक्ष हुये कि नहीं? उस सिस्टम्के यूज़र् हम है. कम्प्यूटर्में भी एक

सिस्टम् प्रोवाइडर् होता है और एक सिस्टम यूज़र् होता है तो इस तरहसे ब्रह्मके भी धर्म अर्थ काम मोक्ष क्यों नहीं हो सकते? मगर वो इस अर्थमें नहीं होगे जिस अर्थमें वो हमारे लिए हैं क्योंकि हम उस सिस्टम्का यूज़ कर रहे हैं और वो उस सिस्टम्का प्रोवाइडर् है.

प्र. आपने समझाया कि स्वभाव प्रभाव कर्म व्यवहार नीति धर्म भक्ति के द्वारा धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप लीला समझमें आ सकती है परन्तु वार्ताओंमें ऐसी प्रक्रिया नहीं दीखती है. अतः वार्ताओंके साथ इनकी संगति कैसे होगी?

उ. चौरासी दौ सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ता, एक सिद्धांतको समझानेके लिए दिये गये वास्तविक उदाहरण है. कल्पित उदाहरण नहीं है. ऐसे उदाहरण जिनको जीवनमेंसे चुना है. किसके जीवनमेंसे? जिन लोगोंने महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके उपदेशोंको स्वीकारा और उनको जीया. उन उपदेशोंको जीनेके कारण उनके जीवनमें किस तरहकी समस्या खड़ी हुयी और उनके किस तरहके समाधान हुये और कैसे वो समस्या या तो विकराल बन गयी या कैसे वो समस्या हल हो गयी, इन सारी बातोंके उदाहरण वार्ता है. यदि इन वार्ताओंमें हर बात हम खोजने जायेंगे तो ये हमारी गलत अपेक्षा होगी. प्रत्येक वार्ता महाप्रभुके किसी न किसी सिद्धांतका उदाहरण है. जहाँ जिस वार्तामें महाप्रभुके सिद्धांतके धर्म अर्थ काम मोक्ष का उदाहरण है, वहाँ उस वार्तामें आपको धर्म अर्थ काम मोक्ष की व्याख्या मिलेगी.

सब जगह आपको धर्मार्थकाममोक्षकी व्याख्या नहीं मिलेगी. थोड़ीसी दृष्टि रखनी पड़ेगी कि किस तरहकी भक्ति या शरणागति, भक्तिमार्गीय धर्म या भक्तिमार्गीय अर्थ, भक्तिमार्गीय काम या भक्तिमार्गीय मोक्ष को किन वार्ताओंमें कैसे दर्शाया गया है! वो एक नहीं अनेक वार्ताओंमें दर्शाया गया है. पर धर्मका अर्थ यदि हम एक सीमित अर्थमें ले लें तो मिलना मुश्किल है. मगर वो भक्तिमार्गीय उपदेशको जीनेकी कला सिखानेवाली वार्ता है, जिन्होनें उस जीवनको जीनेकी कला भक्तिमार्गके अनुसार विकसित की. आजकलका अपरसका प्रचलित बवंडर, उसके संदर्भमें क्या धर्म है और क्या अधर्म है, तो वाघाजी रजपूतका उदाहरण देख लो तो समझमें आ जायगा कि धर्मका स्वरूप क्या है? वाघाजी रजपूतके ठाकुरजी नवनीतप्रियाजी थे और वो मुगलसेनामें सैनिक भी थे. हम लोग समझते हैं कि क्योंकि वो मुगलसेनामें सैनिक थे और उनके संपर्कमें थे इसलिए वो भ्रष्ट हो गये, छू गये. ये सब बात तो सच है पर सेनामें कवायत करते-करते उनको याद आया कि सेनामें कवायत करनेकी धांधलमें वो अपने ठाकुरजीको सुखी रोटी भोग धरकर आये हैं. इस बातसे वो इतने विव्हल हो गये कि सेनाका काम छोड़कर कवायतमेंसे सीधे आकर उन्होनें जूता उतारे बिना नवनीतप्रियाजीकी रोटी पर घी चुपड़ दिया. उस वक्त भी ये ही प्रश्न उठा था कि ‘‘ये तो भ्रष्ट है, अनाचारी है. इसके यहाँका प्रसाद नहीं लेना चाहिये.’’ इस बात पर नवनीतप्रियाजी और श्रीगुंसाईजी नाराज हो गये.

क्योंकि उन्होनें अनाचार करनेके लिये अनाचार नहीं किया था, प्रभुके सुखके विचारसे अनाचार किया था. ये पुष्टिमार्गका धर्म है तो धर्मपुरुषार्थकी कथा आयी कि नहीं? धर्मपुरुषार्थके तहत पुष्टिमार्गमें किस प्रकारका विवेक होना चाहिये? जहाँ प्रभुके सुखका विचार सर्वोपरि हो अपने सुखका विचार सर्वोपरि न हो, वो पुष्टिमार्गीय धर्म है.

आजकल लोग बहुत झगड़ा करते हैं कि तिलक नहीं लगाया तो पुष्टिमार्गीय कैसे? वार्ता पढ़ो कि एक वैष्णव तिलक लगा कर जा रहे थे तो ठाकुरजीने कहा कि ‘‘तिलक तो पौछों’’ वो तिलक क्यों नहीं लगाते थे? उसका देखो अर्थ पुरुषार्थसे कैसा सम्बन्ध है? उन्होंने कहा है वहाँ कि ‘‘यदि मैं तिलक लगा कर जाऊँगा और कोई मुझे वैष्णव समझ कर नौकरी देगा, ऐसी मजूरी नहीं चाहिये. मुझे मनुष्यके रूपमें, मजदूरके रूपमें जो मजूरी मिलती हो, वो नौकरी मुझे करनी है. वैष्णवके रूपमें मुझे मजुरी नहीं करनी. इसलिए जब भी मजदूरी करने जाते तो तिलक पोंछ कर जाते थे. तिलक पोंछना तो अपने यहाँ अपराध है. गोकुलनाथजीकी वार्ता इस बातका प्रमाण है. गोकुलनाथजी काश्मीर तक पधारे इस बातको कहनेके लिए कि तिलक नहीं पोंछेंगे, वो भी अस्सी वर्षकी उमरमें. अब देखो एक कथा वो है और एक कथा ये है कि वो स्वयं तिलक पोंछ कर जाते थे. एक दिन पोंछना भूल गये तो ठाकुरजीने कहा कि ‘‘तू तिलक पोंछना भूल गया है, जल्दीसे पोंछ.’’ इसमें देखो धर्मपुरुषार्थ भी आ रहा है और

अर्थपुरुषार्थ भी आ रहा है कि नहीं?

हिन्दुस्तान-पाकिस्तानके बंटवारेके बाद सिंधसे डॉ.परमानन्द मुंबई आये. उन्हे किरायेपर घरकी खोज थी. एक वैष्णव मकानमालिकने उनके सिरपर तिलक देखकर कहा ''तुम वैष्णव हो तो अवश्य दूंगा.'' डॉ.परमानन्दने कहा ''घरके लिये अपना तिलक नहीं बेचूंगा'' कहीं और खोजनेको लोट गये!

काम पुरुषार्थ भी आता है. डोकरीके बच्चे मर गये और वो बहुत विलाप करके रोने लगी. ठाकुरजीने उससे कहा कि ''तू इतना विलाप कर रही है, मुझे कष्ट होता है.'' अपन सोचते हैं कि संसारमें कितनी लिप्त जीव होगी! भगवान् तो गीतामें कह ही रहे हैं कि **''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुम् अर्हसि''** (भग.गीता२।२७) जो पैदा होता है वो कभी न कभी तो मरेगा. जो मरता है वो कभी न कभी तो फिर पैदा होगा. उसमें रोने-धोनेकी बात क्या है? इतना जो सामान्य सिद्धांत था वो डोकरी ठाकुरजीकी सेवा करते हुये भी समझ क्यों नहीं पायी? डोकरीका उत्तर देखो कैसा मजेदार है? वो कहती है कि ''मैं इसलिए नहीं रो रही हूँ कि मेरे बच्चे मर गये. पर मेरे बच्चोंके साथ आप खेलते थे तो आप अब किसके साथ खेलोगे, ये तो खुलासा करो.'' उसका अपने बच्चोंकी कामना है. पर उस कामपुरुषार्थने भक्तिका रूप किस तरहसे लिया!

धर्म अर्थ काम और मोक्ष सब वार्ताओंमें मिलेंगे पर उस दृष्टिसे अपन देखेंगे तब मिलेंगे. ''जिन खोजां तिन पाइयां, गहरे पानी पेठ.'' संस्कृतमें एक बड़ा मजेदार श्लोक है कि जब रामसेतु बना तो सब बंदर लंका पहुँच गये मगर किसी बंदरको समुद्रकी गहराई कितनी है यह पता नहीं चली. वो तो कोई डुबकी लगाय उसीको पता चलता है. **''अब्धिः लंघितमेव वानरभटैः किन्तु अस्य गंभीरताम् आपातालनिमग्नपीवरतनुः जानाति मंथ्राचलः''** मंदराचलको पता चलता है क्योंकि उसे समुद्रमें डुबाकर समुद्रको मथा गया. समुद्र कितना गहरा होता है वो तो जो डूबेगा उसे ही पता चलेगा. जो लांघता है उसे पता नहीं चलता. अक्सर हम भक्तिमार्गको लांघ जाते हैं. भक्तिके सरोवरमें डूबते नहीं है इसलिए हमें भक्तिमार्गके सरोवरकी गहराई पता नहीं चलती है. लांघनेमें हम प.भ., प.पू. कई-कई विशेषण धारण कर लेते हैं और लोग कहते हैं कि ''ये तो भक्तिसागरके पार उतर गये हैं.'' अरे पार तो उतर गये पर गहराई पता चली कि नहीं? वो तो डूबे नहीं तो कैसे पता चलेगी? यह एक रहस्य है. यह अपना रहस्य है. हम लोग परम पूज्य हो जाते हैं और आप लोग परम भगवदीय हो जाते हो जैसे कोई हममें भगवदीयता ही नहीं है और आपमें पूजनीयता ही नहीं है. शुद्धाद्वैतमें भी इस प्रकारका कोई द्वैतवादका लफड़ा है.

बात इसमें समझनेकी ये है कि प.पू या प.भ. बननेसे भक्तिमार्गकी गहराई पता नहीं चलती. हाँ भक्तिके सागरमें

यदि अपन डुबकी लगायेंगे तो अवश्य गहराई पता चलेगी.

प्र. क्या लालाकी सेवा करनेके लिए उन्हें पुष्ट करना जरूरी है ? क्या अपनी सेवा और भावना से लालाको स्वयं पुष्ट नहीं कर सकते ?

उ. थोड़ा सा रोल बदलकर देखो कि क्या साथ रहनेके लिए शादी करना जरूरी है? क्या बिना शादीके हम साथ नहीं रह सकते ? क्यों नहीं रह सकते? मनुष्यके अलावा सभी जानवर बिना शादीके ही साथ रहते हैं. आनंदसे साथ रह सकते हो. बच्चे भी पैदा होंगे, संसार भी चलेगा और कभी तलाक मांगनेकी गरज नहीं पड़ेगी. विवाह होता है तो तलाक माँगनेकी गरज होती है. विवाहके बिना साथ रहोगे, तो यदि झगड़ा होगा तो तुम अपने रस्ते हम अपने रस्ते. इसमें बहुत फायदा हैं पर नुकसान एक है. उसमें अव्यवस्था फैल जाती है. किस हद तक अव्यवस्था फैलती है इसका एक छोटासा उदाहरण दूँ. आपने पता नहीं सुना होगा कि नहीं पर साठके दशकमें एक अमेरिकाकी बहुत बड़ी हिरोईन थी मार्लिन मोनरो. उसका पिता कौन था उसे पता नहीं चला क्योंकि वो अपनी माँकी कौमार्य अवस्थामें पैदा हुयी थी. जब उसने स्कूल्में एडमिशन् लिया तो उसकी सारी क्लासमेट् उससे उसके पिताका नाम पूछती थी. उन सबके बीचमें उसे शर्मिंदा होना पड़ता था क्योंकि उसे अपने पिताका नाम पता नहीं था. उस शर्मिंदगीके कारण उसमें अपने पिताको खोजनेकी उग्रता इतनी बढ़ गयी कि अपनी युवावस्थामें अपने प्रत्येक प्रेमीमें अपना पिता

खोजती थी. उसका हर प्रेमी अपना सिर पीटता था कि ‘‘या तो हम पिता हो सकते हैं या प्रेमी. दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं!’’ इस चक्करमें उसने पाँच-छ प्रेमी बदले. उनमेंसे कैनेडी भी एक था. जो कि अमेरिकाका प्रेसिडेंट भी था. जब अंतमें उसे लगा कि कोई भी पितारूप पति मुझे मिल नहीं सकता है तो उसने निश्चय किया कि अब उसे आत्महत्या करनी चाहिये. उसने आत्महत्याकी गोलियाँ खाकर जॉन् केनेडीको फोन किया कि ‘‘मैं जा रही हूँ.’’ कैनेडीने कुछ नहीं कहा क्योंकि उस समय वो प्रेसीडेंट् था और वहाँ जाता तो किसी स्कैंडल्में फँस जाता. इस तरह उसका बहुत दुःखद अंत हुआ.

आर्थर् मिलर् जैसा जबरदस्त स्कोलर् हुआ है. उसने इस पूरे घटनाक्रमको ‘आफ्टर् द फॉल्’में इतनी सुंदर रीतिसे चित्रित किया है! उसने ये एक ड्रामा लिखा है. आप पढ़ना कभी. अपन भी परेशान हो जाते हैं कि एक छोटीसी गलतीसे कितनी अव्यवस्था फैली, और आज इतने साल बीतने पर भी अमेरिकामें उस स्कैंडल्के कोई न कोई चेप्टर् बाहर निकलते रहते हैं. गलती एक बहुत छोटीसी थी पर उसके दुःखरूप चेप्टर् भी निकलते हैं. वो हर पतिमें पिता खोजती रही. एक नादान बच्चीको अपने स्कूलमें पिताका नाम पता न होनेकी वजहसे जो यातना झेलनी पड़ी और उसकी वजहसे कितनी दुर्व्यवस्था हुयी और पूरे देशको भी इसमें सम्मिलित होना पड़ा. अपन कभी पढ़ें तो अपनी भी आँखें भर आयें. इतनी उसकी

दु:खद कथा है. लोग उसको बदनाम करते हैं कि उसने अपने इतने प्रेमी बदले. पर उस कथाका क्या जो उसका पिता सामने नहीं आया पैदा करके. उस तरहकी तकलीफ न हो इसलिए ऐसा कहा जाता है कि ठाकुरजी पुष्ट करो और पुष्ट किये ठाकुरजी किसीके माथे बिराजने चाहिये कि जिससे ऐसी दिक्कत न आये कि पिता कौन है? अपने ठाकुर किसी दूसरे ठाकुरसे मिलें तो ये पूछने पर कि कौन पापा है, शरमायें नहीं. और सेवा करनेवालेमें वो महाराज खोजें और महाराजमें सेवा करनेवाला खोजें. अंतमें ठाकुरजी भी दु:खी होकर कहें कि यार अब तो इस दुनियासे जानेमें ही फायदा है. ‘‘तेरी दुनियामें दिल लगता नहीं वापस बुला ले, मैं सजदेमें गिरा हूँ मुझको ऐ मालिक उठा ले.’’ ऐसी कोई दुर्घटना न हो जाय इसलिए पुष्ट कराना आवश्यक है.

भगवान्‌की वो लाचारी नहीं है. ध्यानसे समझो कि महाप्रभुका स्पष्ट आदेश है कि **‘‘कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम्, श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुरादरात्’’** (त.दी.नि.२।२२९) जो कृष्णसेवापर हो, जो दंभादिरहित हो, जो भागवततत्त्वज्ञ हो, उससे पुष्ट करवाकर ठाकुरजीकी सेवा करो. मगर ऐसा गुरु न मिलता हो तो **‘‘तदभावे स्वयं वापि मूर्ति कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात् तद्रूपं तत्र च स्थितम्’’** (त.दी.नि.२।२३०) कृष्णसेवा करो क्योंकि अंतमें गुरु कृष्णसेवाके लिए हैं. कृष्णसेवा गुरुके लिए नहीं है.

मैं कई बार एक बात कहता रहता हूँ कि डॉक्टरसे

मिलनेके लिए बीमार नहीं होना है. बीमार हो जाते हैं इसलिए हमको डॉक्टर् चाहिये. डॉक्टर् चाहिये इसलिए बीमार हो जाओ तो इससे तो बहुत कौभांड हो जायगा. कोई कॅन्सर्‌स्पेश्यालिस्ट होगा तो हमको कॅन्सर्‌रोगी होना पड़ेगा. कोई टी.बी.का स्पेश्यालिस्ट् है तो हमें टी.बी.का मरीज़ होना पड़ेगा. डॉक्टर्‌की अपेक्षासे बीमार होनेकी आवश्यकता नहीं है. बीमार हो जाय इसलिए डॉक्टर्‌की आवश्यकता है. हमारी बीमारी है कि भक्त होने पर भी हम कृष्णकी सेवा नहीं कर रहे हैं इसलिए डॉक्टर्‌की जरूरत है, किसी गुरुकी जरूरत है. <u>गुरुकी जरूरत है इसलिए हमें कृष्णसेवा नहीं करनी है, ब्रह्मसंबंध नहीं लेना है. मनमें इस बातको एकदम समझोगे कि कृष्णसेवार्थ गुरु है, गुरुके लिए कृष्णसेवा नहीं है. वल्लभसंप्रदायकी यदि कोई विशेषता रही तो यही रही कि वल्लभसंप्रदायने कभी शिष्य नहीं बनाये, सेवक बनाये. और सेवक ठाकुरजीके बनाये.</u> ब्रह्मसंबंध लेनेके बाद हम ये नहीं कहते कि ये हमारा शिष्य बना. हम कहते हैं कि सेवक बना. लोगोंमें गलत धारणा घर कर गयी है कि महाराजका सेवक बना. अरे महाराजका सेवक तो हमारा धोबी भी हो सकता है. धोबी यदि हमारे कपड़े धोता है तो क्या वो हमारा सेवक नहीं होगा? वो तो बिना ब्रह्मसंबंधके भी हो सकता है. महाराज यदि एक कुत्ता पाल लें तो कुत्ता भी तो महाराजका सेवक है. उसके लिए ब्रह्मसंबंध आवश्यकता नहीं है. <u>ब्रह्मसंबंधकी आवश्यकता है कृष्णसेवाके लिए और</u>

उस ब्रह्मसंबंधमें, कृष्णसेवामें कोई अव्यवस्था न फैल जाय उसके लिए एक महाराजकी जरूरत है. जैसे बैंकमें एक क्लर्ककी जरूरत है, वो किसलिए? क्योंकि पैसा जमा करने और निकालने में कोई आपा-धापी नहीं फैले. अब यदि बैंकका क्लर्क ही आपा-धापी फैलाने लग जाय तभी तो आज ए.टी.एम.की व्यवस्था आयी. **''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्.''** क्लर्क यदि बदमाशी करने लगे तो ए.टी.एम.में अपना खाता खुलवा लो. तो समझ लो कि ए.टी.एम. 'स्वयंवापि' है तो गुरुकी इसलिए आवश्यकता है कि वो आपको कृष्णसेवामें प्रवर्तित करे. गुरुकी इसलिए आवश्यकता नहीं है कि गुरु होना जरूरी है. **गुरु और शिष्य दोनोंको कृष्णसेवापर होना जरूरी है.**

प्र. कुछ धर्मोने कहा है कि जन्म-मरण एक ही बार होता है. क्या ये सत्य है? और यदि ये सत्य है तो क्या हम इच्छापूर्वक जिन्दगी व्यतीत नहीं कर सकते?

उ. ये प्रश्न मुझे स्पष्ट नहीं हो रहा है. मैं यदि मान भी लूं कि जन्म-मरण एक ही बार होता है, घड़ी-घड़ी नहीं होता तो जैसे कोई एक बार होस्पिटल्में एडमिट् होता हो तो इच्छापूर्वक इलाज करना ठीक है या डॉक्टर्से इलाज करवाना ठीक है. ऐसा थोड़े ही है कि यदि बार-बार एडमिट् हो तभी डॉक्टर्से इलाज करवाना चाहिये. और यदि एक बार ही एडमिट् होते हों तो अपने आप इलाज कर लो. इच्छाका रोल मुझे इसमें समझमें नहीं आ रहा है कि

एक ही बार यदि जन्मते हो तो इच्छापूर्वक जी सकते हैं कि नहीं? बताओ कि इच्छापूर्वक अपना इलाज करना चाहिये कि डाइग्नोसिस्पूर्वक करना चाहिये? सिर्फ एक ही बार होस्पिटल्में एडमिट् होना है तो इच्छापूर्वक अपना इलाज कराओगे कि डॉक्टरके डाइग्नोसिस्के हिसाबसे उसकी राय लेकर इलाज कराओगे! अपने जन्मको भी इस प्रकार मान कर चलो तो इसमें इच्छाका प्रश्न ही कहाँ आता है? केवल प्रश्न इसमें सीधा-साधा ये है कि एक बार होता हो जन्म या अनेक बार होता हो पर अपनी इच्छा पर ही यदि व्यतीत करना चाहेंगे तो सबकी इच्छाएँ आपसमें टकरायेंगी. जैसे आपका मन है कि आप अपनी इच्छासे जीवन व्यतीत करेंगे. कल आप रास्तेमें जा रहे हो और कोई गुंडा मिल गया और उसकी इच्छा कर गयी कि वो आपका मर्डर् कर दे. अब आप कह रहे हैं कि मैं जन्म इच्छापूर्वक व्यतीत करूँगा और वो भी कह रहा है कि मैं अपनी इच्छासे व्यतीत करूँगा जन्म और मैं तो आपका मर्डर् करना चाहता हूँ. अब आप उसे ना कैसे कहोगे क्योंकि आपने तो सिद्धांत बना दिया है कि हम इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे. तो इसका नियामक तथ्य कहाँसे लाना! प्रश्न ये नहीं है कि इच्छापूर्वक व्यतीत करना. प्रश्न ये है कि हम जब समाजमें जी रहे हैं तो अपनी इच्छा, दूसरेकी इच्छा और सबकी इच्छाको समझकर जीवन व्यतीत करना चाहिये. केवल अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत हो ही नहीं सकता. एक बात ध्यानसे समझो

कि हम समझते हैं कि हम बहुत बुद्धिमान हैं तो अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत करेंगे. कोई जानवर अपनी इच्छापूर्वक जीवन व्यतीत नहीं करता. कोई चिड़िया यदि डाल पर बैठती है तो वो अपनी इच्छासे नहीं बैठती. बराबर वो ये देखती रहती है कि कोई कौआ तो नहीं आ रहा! एक निश्चित दूरीसे पास वो आया तो झट वो दूसरी डाल पर जाकर बैठ जाती है. वो ऐसा नहीं कहती कि मेरी इच्छा इस डाल पर बैठे रहनेकी है इसलिए मैं इसी पर बैठी रहूँगी. वो अपनी दूरी बराबर नियमित रखती है. पता नहीं यहाँ लिखते हैं कि नहीं पर बम्बईमें कई कारों पर देखा है लिखा हुआ Keep safe distance, do not kiss तो अपनी इच्छा और दूसरेकी इच्छा का सेफ डिस्टेंन्स् जीना, जीवन जीनेकी सबसे सरल कला है. जब हम अपनी इच्छाके लिए ही जीवन व्यतीत करते हैं तो कोई न कोई तो टकरायगा. केवल अपनी इच्छासे जीवन व्यतीत नहीं होता. अपनी इच्छा, दूसरेकी इच्छा और सबकी इच्छा का ख्याल रखकर ही जीवन व्यतीत होता है.

प्र. जो व्यक्ति ईमानदारीसे पैसा कमाते हैं, वो तो केवल श्रम ही करते हैं और जो लोग बेईमानीसे कमाते हैं वो खुशी–खुशी जीते हैं. ऐसा क्यों?

उ. में समझता हूँ कि खुशी–खुशीसे जीवन व्यतीत करते होंगे पर अपना भाव विचार और चेतना है उसे खुशी–

खुशी व्यतीत नहीं करते होंगे. कहीं न कहीं भीतरसे वो बहुत दुःखी है. यदि वो दुःखी नहीं होते तो बेईमानी करते क्यों? जो लोग बेईमान नहीं है वो भीतरसे बहुत सुखी है. हाँ! बाहरसे दुःखी लगते हैं. हर फलके साथ भी यह ही कथा है कि जो फल भीतरसे बहुत मजबूत है वो बाहरसे बड़ा नरम होता है और जो अन्दरसे नरम है वो बाहरसे बड़ा मजबूत होता है, भीतर उसके पानी ही मिलता है. बाहरसे वो बहुत कड़क है. तो ये जीवनका भी कुछ इसी तरहका चक्कर है कि जो बाहरसे बहुत प्रसन्न दिखता है वो भीतरसे बिल्कुल टूटा हुआ होता है. और जो भीतरसे सधा हुआ है उसके बाहरसे टूटनेमें कोई फर्क नहीं लगता. ऐसे चक्र तो कई आते–जाते हैं ये बात समझनी चाहिये.

प्रकरण : ७

(स्वभावादि क्रियाका स्वरूप, स्वभावादिजन्य क्रियामें धर्मादिका समायोजन और पुष्टिभक्तिपुरुषार्थमें धर्मादिका समायोजन)

(ब्रह्म और सृष्टि का समानांतरीकरण)

अपन् अब आजके विषय पर आते हैं. कल जो मैं आपको समझा रहा था वो बात ये थी कि भगवान्‌की सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध और मुक्ति रूप जो लीलाएँ हैं और जो उन लीलाओंको करनेका भगवान्‌का जो आश्रयभूत स्वरूप है, सर्वविद् लीलाविद् जो स्वरूप है उसके समानांतर जीवके इन कर्म व्यवहार नीति एवं धर्म के क्रिया-कलापोंका समानांतरीकरण है. जब भी हम समानांतरकी बात करते हैं तो रेलकी दो पटरियाँ दिमागमें आती है जो एक-दूसरेके समानांतर चलती है. एक लाईन् उनमेंसे जब मुड़ती है तो दूसरी लाईन् भी उसीके अनुसार मुड़ जाती है. ये एक मॉडेल् है समानांतर होनेका कि जहाँ दो लाईन् होती है, एक नहीं होती.

ब्रह्म और ब्रह्मकी सृष्टि में इस तरहका समानांतरीकरण नहीं है. वो एकमें पैदा हुआ समानांतरीकरण है. ये इसकी खुबसूरती है. यदि इस खूबसूरतीको समझना है तो सबसे अच्छा मॉडेल् मोर्डन् बायोलोजिकल् सेल् है. बायोलोजिकल् सेल्‌की प्रकृतिपर आप ध्यान दें तो आपको पता चलेगा कि हर बायोलोजिकल् सेल् दूसरे सेल्‌के समानांतर चलता है. यानि कुछ वर्ष पूर्व तक लोगोंकी धारणा थी कि पूरा

एक प्राणी स्पर्मके रूपमें डेवलप् हुए सेल्‌से ही डेवलप् हो सकता है. मगर अभी हाल हीमें वैज्ञानिकोंने कानमेंसे सेल् निकालकर उसे क्लोनिंग् करके उन्होनें एक मैंढाको पैदा किया. अब कानमें तो स्पर्मका कोई लेश भी नहीं है. मगर हर सेल् एक-दूसरे सेल्‌के समानांतर चल रहा है. क्योंकि हर सेल्‌में सारे जेनेटिक् इन्स्ट्रक्शन् एनकोडेड् हैं और इसके बावजूद एक बकरीके कानमेंसे एक सेल् लेकर एक पूरी बकरीको बनाया जा सकता है. ये कथा वृक्षमें भी मौजूद है. आवश्यक नहीं कि आप बीज ही बोयें. आप एक टहनी बो दीजिये. उस टहनीमेंसे पूरा वृक्ष बन जायगा. उसमें फल बीज फूल सब कुछ निकलेगा. मगर जब वृक्षसे ये कथा आगे बढ़ती है तो वहाँ वो रुक जाती है. इसके आगेकी कथामें केवल स्पर्म और ओवम से ही रिप्रोडक्शन् हो सकता है. किसी भी और चीज़से ये प्रक्रिया नहीं होती. अपने पुराणोंमें ये बात मिलती हैं कि उन्होनें अपने हाथसे बच्चे पैदा कर दिये. अपन् सब समझते हैं कि पुराण तो गप्प हैं पर सायन्टिस्ट् तो अब वो सारी बात ही कह रहे हैं. कहींसे भी कुछ भी पैदा हो रहा है. हमारी पुराणोंको हम गप्प मानते हैं. अब आप सायन्सको गप्प मानो. हमको तार्किक होनेका अहंकार पैदा हो गया कि पुराण सब गप्प है. पुराणमें ये सब कथाएँ उपलब्ध हैं. आजकल जो अपने अंगोंके ट्रांसप्लान्ट् करनेकी कथा चल रही है. कभी किडनी कभी घुटना ट्रांसप्लांट् करवाते हैं. हम उसको असत्य नहीं मानते हैं पर महादेवजीने

पार्वतीजीके बच्चे पर हाथीका मुख ट्रांसप्लान्ट् कर दिया तो हम कहते हैं कि पुराणकी कथा गप्प है. किस प्रकारकी हमारी श्रद्धा है! एक अंधश्रद्धा है कि हम हमारी कथाओंको गप्प मानते हैं और इन आधुनिक कथाओंको हम सत्य मानते हैं. अकबर इलाहबादी ने एक बहुत मजेदार शेर कहा है कि ''हम उन किताबेंको काबिले जप्ती समझते हैं, कि जिनको पढ़के बेटे बापको खप्ती समझते हैं.''

हम ऐसे ही है कि हम अपने पूर्वजोंको गप्पी समझ रहे हैं और समझ रहे हैं कि हम अधिक बुद्धिमान है. सारे अंग ट्रांसप्लान्ट् हो रहे हैं हम उनको सही समझते हैं. किडनी कोर्निया हार्ट ट्रांसप्लान्ट् हो सकता है, ब्लड् ट्रांन्सफ्यूज़न् हो सकता है पर हमारे पुराणोंमें जब ऐसी कथा आती है तो हम कहते हैं कि ये तो गप्प है. हम भी काबिले जप्ती हैं कि जो अपने बापोंको खप्ती समझते हैं. अरे भाई! बापको खप्ती मत समझो क्योंकि खप्ती बापकी औलाद भी खप्ती होती है.

एक बात ध्यानसे समझो कि ये कोई खप्तकी कथाएँ नहीं है पर जो एक सेल्युलर् समानान्तरीकरण है उसकी एक अपनी खुबसूरती है कि एक होते हुये भी **''एकोहं बहुस्याम्''**के मॉडेल्को कबूल करता है. और उसमें ये कितनी खूबसूरत बात है कि **''सर्वभवनसामर्थ्य''** उस सेल्में होनेके बावजूद भी जिस सेल्को लीलाका जो रोल् सौंप

दिया उसी रोल्में स्थित है. सायन्स्के हिसाबसे एक बात समझो कि प्रतिदिन करोड़ों सेल् नये बनते रहते हैं. अपने शरीरकी प्रक्रिया कुछ ऐसी है. आपने जरा ताली भी बजा दी तो पन्द्रह बीस लाख सेल् शरीरके खत्म हो जाते हैं. और तुरंत वहाँ नये सेल् पैदा होने शुरू हो जाते हैं. ये सारा काम बहुत तेजीसे होता है. इतनी तेजीसे होनेके बावजूद भी देखो ये कितनी खुबसूरत बात है कि कानका सेल् कभी आँख पैदा नहीं करता है और आँखका सेल् कभी कान नहीं पैदा करता. नाकका सेल् टाँग नहीं उगाने लगता है. यदि ऐसा हो तो बड़ी भयंकर स्थिति हो जाय. तो हर सेल्का अपना एक रोल् है. जैसे अपने यहाँ कहा है कि किसीको दैवीजीव बनाया है, किसीको आसुरीजीव बनाया है, किसीको प्रवाही, किसीको मर्यादा, किसीको कर्मी, ज्ञानी या भक्त बनाया है. किसीको संसारी, किसीको भूत-प्रेत, किसीको ब्राह्मण, किसीको वैश्य आदि-आदि बनाया है. जिसको जो रोल् दिया है वो उसी रोल्में स्थित है.

अब आप बायोलोजिकल् सेल् न लेकर ब्राह्मिक सेल् ले लो तो प्रत्येक ब्राह्मिक सेल्में वो सामर्थ्य मौजूद है कि वो सब कुछ बन सकता है. पत्थरकी मूर्ति भगवान् बन सकती है. उस ब्राह्मिक सेल्में वो पोटेन्शियालिटी (सामर्थ्य) मौजूद है पर लीलामें जिसको जो रोल् दिया गया है वो रोल् अदा करता है, दूसरे रोल् अदा नहीं करता है और यदि आपमें सामर्थ्य है तो उसे निकाला भी जा सकता है.

नहीं निकाला जा सकता ऐसी बात नहीं है. जैसे क्लोनिंग् करके कानके सेल्से पूरा मैढ़ा पैदा करके बता दिया. अब लोग रोते रहें कि कानसे पैदा नहीं होता. ये तो पुराणोंकी गप्प है. अरे, गप्प नहीं है तुम्हारे सामने वो पैदा करके दिखा रहा है. अब इसका क्या करोगे? इस तथ्यको समझो कि जो बायोलोजीकल् सेल् है उसमें एक समानांतरीकरण है दूसरे सेल्के साथ. और दोनों अपने-अपने काममें लगे हैं इसके बावजूद कि दोनोंमें एक-दूसरेका काम करनेकी सामर्थ्य है. दोनों सेल् एक ही है **''एकमेव अद्वितीयम् तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''** (छांदो.उप.६।२।३) करके वो एक अलग रोल् उसने ले लिया.

आपके यहाँ तो जय-जय श्रीगोकुलेशवाले हैं नहीं. गुजरातमें इस संप्रदायके बहुत अनुगामी हैं. वहाँ एक बहुत मजेदार किस्सा होता है. बैठे बिठाये एक आदमी झांझ ले लेता है और गाने लगता है कि ''म्हारो धनी गोकुलेश'' और दूसरा आदमी दूसरी झांझ लेकर गाने लगता है ''म्हारो धनी विठ्ठलेश'' अब वो दो पार्टीयाँ बन जाती है और पूरे जोशमें एक स्पर्धा जैसी होने लगती है जिससे दोनोंमें पूरा जोश आ जाता है. ये एक समानांतरीकरण है. दोनों ही जै जै श्री गोकुलेश है पर एक झांझमें ''म्हारो धनी गोकुलेश'' कहता है और दूसरा ''म्हारो धनी विठ्ठलेश'' कहता है. ये क्या है कि ये एक तरहका सेल्का विभाजन है. अपने आपको इस तरहसे दोमें विभाजित करो और विभाजन करके आप इस तरहका खेल शुरू कर दो.

अक्सर जिन लोगोंके हाथ कमजोर हो जाते हैं उनके कमजोर हाथमें फिरसे शक्ति लानेका उपाय क्या है? वो है कि उस कमजोर हाथको दूसरे हाथसे जोरसे खींचो. उससे कमजोर हाथमें तनावसे वापस शक्ति आनी शुरू हो जाती है. और उस प्रक्रियामें कोई खतरेकी बात भी नहीं है. क्योंकि **''द्वितीयाद् वै भयं भवति''** (बृह.उप.१।४।२) आप अपने हाथसे अपने हाथको खींच रहे हो. एक खींचनेवाला हाथ है दूसरा खिंचानेवाला हाथ है. इससे दोनों हाथोंमें ताकत आ जायगी. ये ही कोई यदि दूसरा खींचे तो थोड़ी भी शक्तिका हेर-फेर हुआ तो बहुत गड़बड़ होनेकी संभावना रहती है. कभी नस चटक जाती है, कभी हाथकी हड्डी उतर जाती है. पर जब वो ही बात अपने हाथसे हम करते हैं तो दोनों हाथोंमें शक्ति आ जाती है. जो नर्व्स (ज्ञानतन्तु) मजबूत करनेका सिद्धांत डॉक्टर् कुछ इसी प्रकारका बताते हैं. इस हाथको उस तरफ खींचनेको कौन कह रहा है? ये दिमाग. और उस हाथको इस तरफ खींचनेको कौन कह रहा है? वो भी ये ही दीमाग. एक ही दीमाग दो तरहके आदेश दे रहा है. एकको कह रहा है कि उसे इधर खींचो और दूसरेको कह रहा है कि उसे उधर खींचो. जब दोनों एक-दूसरेको खींचते है तो दोनों हाथ मजबूत हो जाते हैं. दीमाग दोनोंके बीचमें दो नहीं है, एक ही है. ये सिद्धांत इस तरहके समानांतरीकरणका है.

ब्रह्मकी [१]सर्ग [२]विसर्ग [३]स्थान [४]पोषण [५]ऊति [६]मन्वन्तर

[७]ईशानुकथा [८]निरोध रूपी लीलाके समानांतर हमारे भीतर [१]स्वभाव [२]प्रभाव [३]कर्म [४]व्यवहार [५]नीति [६]धर्म [७]भक्ति और [८]लीला का एक समानांतरीकरण चल रहा है. उसका केन्द्र एक है. केन्द्र दो नहीं है. जैसे दोनों हाथके ताकत लगानेका केन्द्र एक ही है पर एक केन्द्र होते हुए भी दोनों एक-दूसरेके विरुद्ध ताकत लगानेका काम कर रहे हैं. ये इसके विरुद्ध काम कर रहा है और वो उसके विरुद्ध काम कर रहा है. हम कहते हैं कि जब ब्रह्म एक है तो विरोध कैसे हो सकता है? जब ब्रह्म एक है तो देव और असुरों का झगड़ा कैसे हो सकता है? इस तरहसे झगड़ा हो सकता है. ब्रह्मको अपना व्यायाम करना है, देखना है कि किस हाथमें अधिक बल है. वो आसुरीशक्तिसे दैवीशक्तिको खींचता है और दैवीशक्तिसे आसुरीशक्तिको खींचता है और इस तरहसे क्रीड़ा करनेके लिये ब्रह्मकी अपनी लीलानन्दकी शक्ति बढ़ जाती है. जब आप इस दृष्टिसे देखोगे कि मेक्रो लेवल् पर तो उस ओर सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा और निरोध है और इधर माइक्रो लेवल् पर हम भी कुछ स्वभाव प्रभाव आदि प्रकट कर रहे हैं. किस पर ये सब कर रहे हैं? ब्रह्म पर ही तो कर रहे हैं. अपन ब्रह्मके सामने कुछ अपना स्वभाव प्रकट कर रहे हैं. ब्रह्म हम पर कुछ अपना प्रभाव प्रकट कर रहा है और हम कुछ अपना प्रभाव प्रकट कर रहे हैं ब्रह्म पर. ब्रह्म कुछ हमसे व्यवहार कर रहा है हम भी कुछ अपना व्यवहार प्रकट कर रहे हैं ब्रह्मके साथ. एक समानांतरीकरणकी प्रक्रिया चल रही है.

और इस प्रक्रियामें अपने धर्म अर्थ काम मोक्ष का समायोजन कैसे करना? जब तक हम इसका सोर्स् (केन्द्र) नहीं जान पायेंगे तब तक इसका समायोजन अच्छी तरहसे नहीं हो सकता है. ये मेरे प्रवचनका मूल विषय था. जो भी कुछ मैनें आपको इन तीन दिनोंमें समझाया वो केवल इस बातकी भूमिका थी. महाप्रभुजी कृपा करेंगे तो आज इस विषयको पूरा करनेका प्रयास करेंगे. यदि अधूरा भी रहा तो फिरसे शुरू होगा. ''हम अधूरे अधूरा हमारा सृजन, पूर्ण तो बस एक प्रेम ही है यहाँ.'' नीरजने कहा है कि ''देखती ही दर्पण रहो तुम अगर प्यारका ये मुहूरत निकल जायगा.'' अपनको प्रेम रखना चाहिये विषयसे. विषय अधूरा रह गया तो कोई चिंताकी बात नहीं है. विषयसे प्रेम प्रकट होना चाहिये. विषयको कहने सुनने और सोचनेमें प्रेम प्रकट होना चाहिये. इस विषयको जीनेमें हमारा प्रेम प्रकट होना चाहिये. ''हम अधूरे अधूरा हमारा सृजन पूर्ण तो बस एक प्रेम ही है यहाँ.'' विषय अधूरा रहे उसकी चिंता मत करना, विषयपर प्रेम करोगे तो बस बात बन जायगी. सुनने सोचने समझने जीने का प्रेम प्रकट होना सबसे बड़ी बात है. प्रेम परिपूर्ण होता है और तो सारी बात अधूरी है. कोशिश तो करूँगा मैं पूरी करनेकी पर जैसे मैनें सोचा था उस तरहसे वो चला नहीं पर फिर भी प्रयास करेंगे.

(स्वभावसे पैदा होनेवाली क्रिया वस्तुओंमें उनका गुणधर्म बन जाती है)

स्वभाव क्या होता है? इस बारेमें मैनें परिचयके रूपमें

तो बहुत सारी बातें समझायी पर स्वभाव शब्दकी पहले व्युत्पत्ति समझो. बोलचालकी भाषामें हम ऐसा कहते हैं कि इसका क्रोधी स्वभाव है, इसका खुशदिल स्वभाव है, इसका ईर्ष्याका स्वभाव है इत्यादि इत्यादि. स्वभावोंके इस अर्थको हम स्वभाव मानकर चलते हैं. 'स्वभाव'का मूल अर्थ है कि जो वस्तु है, उसके होनेका स्वरूप कि वो किस रूपमें है, वो उसका स्वभाव है. वस्तु जो है उसके होनेमें कोई एक विशेषता है. उसके होनेकी विशेषता है, वो उस वस्तुका स्वभाव है. जैसे मैं लंबा हूँ तो मेरे शरीरका स्वभाव लंबाई है. कोई ठिगना है तो उसके शरीरका ठिगना होना स्वभाव है. वो स्वभाव उसने किसी प्रक्रियासे प्रकट नहीं किया है. उसके शरीरके अवयवोंमें रहा हुआ वो स्वभाव है कि इतनी लंबाई वो हासिल करेगा. हम जानते हैं कि हर पेड़का एक स्वभाव होता है कि वो कितना लंबा होगा. नारियलका पेड़ किसी एक लंबाईको प्राप्त करता है, आम उस लंबाईको प्राप्त नहीं करता. आमके पेड़का स्वभाव फैलनेका होता है जबकि नारियलका स्वभाव उपर उठनेका होता है. छोटे-छोटे गुल्म होते हैं, उनका कुछ और स्वभाव होता है तो पौधेका अपने आपमें कुछ स्वभाव होता है. माने उसके होनेका स्वरूप क्या है? उसे हम स्वभाव कहते हैं. अपने यहाँकी धार्मिक परिभाषामें अपन ऐसे समझ सकते हैं कि भगवान्‌ने जब सृष्टि प्रकट की तो कुछ जड़ और चेतन स्वभावकी प्रकट की. किसी वस्तुको जड़ स्वभावका बनाया और किसीको चेतन

स्वभावका बनाया. जब किसी जड़को देखते हैं तो हमें लगता है कि इसमें चेतना नहीं है. किसी चेतनको देखते हैं तो हमें लगता है कि इसमें जड़ता नहीं है. ये उनका स्वभाव है. इस स्वभावके कारण जो भी क्रिया प्रकट होती है, उन क्रियाओंको हम 'स्वाभाविक क्रिया' कहते हैं. जैसे हम ये समझते हैं कि पृथ्वीका स्वभाव ठोस होना है. जलका स्वभाव तरल होना है. वायुका स्वभाव न ठोस होना है, न तरल होना है, उसका वायवीय स्वभाव है. (गॅसियस्) है. ये स्वभावोंके प्रकार है.

इन स्वभावोंके कारण जो क्रियाएँ प्रकट होती है उन्हें हम 'स्वाभाविक क्रियाएँ' कहते हैं. क्योंकि वो कोई बाहरसे ली हुयी क्रियाएँ नहीं हैं वो उसके स्वभावमें प्रकट होती क्रिया हैं. लिहाजा जो क्रिया प्रकट हो रही है उसमें ये अन्तर करना बड़ा मुश्किल हो जाता है कि ये क्रिया अपने ज्ञान इच्छा प्रयत्न से कर रहा है. या किसी औरके प्रभावके कारण कर रहा है कि नीतिकी जो संवेदनशीलता है कि **''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्''** उसके कारण ये प्रभाव प्रकट हो रहा है. या कोई शास्त्रको दृष्टिमें रखकर जिसे हम धर्म कहते हैं, कर रहा है **''तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ, ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुम् इह अर्हसि''** (भग.गीता.१६।२४)

किसी शास्त्रको दृष्टिमें रखकर या किसी कोन्स्टीट्यूशन् या लॉ की किताबको दृष्टिमें रखकर कोई काम कर रहा

है. स्वभावसे प्रकट होती क्रियामें ये सारी बातें गौण हो जाती है और इसीलिए वहाँसे जो भी क्रियाएँ प्रकट होती है, उनमें हम व्यक्तिको गुनहगार नहीं मानते. उसका सबसे सुन्दर उदाहरण अष्टावक्रका आता है. अष्टावक्र जब जनकके यहाँ गये और वहाँ सबको हँसी आ गयी तो अष्टावक्रने पूछा कि ''किस पर हँस रहे हो. तुम देहके स्वभाव पर हँस रहे हो या आत्माके स्वभाव पर हँस रहे हो. तुमको किस पर हँसी आ रही है!'' इसी तरहका स्वभाव जड़भरतके प्रसंगमें प्रकट हुआ है. रहूगण जब पालकीमें जा रहा था और वहाँ जड़भरत भी उस पालकीमें कहार थे. बाकी कहार सावधानीसे ले जा रहे थे और जड़भरत स्वभाववश, ठीकसे नहीं चल रहे थे. राजाको गुस्सा आया कि ''तुमने ठीकसे खाया नहीं है क्या?'' जड़भरत ने कहा ''खाता तो देह है, आत्मा तो खाती नहीं है तो मैं कैसे खाऊँगा.'' अब जड़भरतमें ये क्रिया कहाँसे प्रकट हो रही हैं? बाहरवाला तो समझेगा नहीं. वो तो समझेगा कि पाखंडी है, कामचोर है. पर सचमें तो वो क्रिया उसके स्वभावसे प्रकट हो रही है.

उसी प्रकार किसीका भक्तिका स्वभाव होता है. जो वाघाजी रजपूतकी बात मैनें बताई कि जूता पहने हुये म्लेच्छोंको स्पर्श करके, स्नान किये बिना ठाकुरजीकी सखड़ीकी सेवामें घी समर्प दिया, बहुत छू छू हो गयी कि नहीं? वो किस स्वभावसे किया इस बातसे निर्धारण करना होगा. जिस स्वभावके रेफरेंस्में किया उसमें उसे अधर्म नहीं

माना गया. यदि वो स्वभाव नहीं है और किसी दूसरे स्वभावके रेफरेंस्में करता है तो वो ही क्रिया अधर्म है. धर्मका समायोजन कैसे होता है? जैसे गुसांईजीने कही कि यदि उसके पास दुबारा रसोई बनानेकी सुविधा है तो चौकेमें यदि कुत्ता घुस गया तो सामग्री छू गयी. यदि उसके पास दूसरी बार रसोई बनानेकी सुविधा नहीं है तो चौके में कुत्ता घुस गया तो क्या हुआ? कुत्ता भी ब्रह्म है. नहीं छुयी. भोग धरके आनंदसे खाओ. देखो ये समायोजन है, मेनेजमेंट् ऑफ् धर्म है. हम असमायोजित धर्म पालन करते हैं. आवश्यकता, उस धर्मका स्रोत या फंक्शन् क्या है, इसको जाननेकी है. जब इस बातका इन बातों पर विचार करके हम निर्धारण करें तो उसका समायोजन अच्छी तरहसे हो सकता है.

मुझे एक फिल्मकी बात याद गयी. अमेरिकामें एक फिल्म बनी जिसमें चिंपान्ज़ी बंदरोंको फाइटर् जेट् उड़ानेकी ट्रेनिंग देते हैं. उनकी समझ ऐसी थी कि यदि चिंपान्ज़ीको फाइटर् प्लेन् उड़ाना आ जाय और कोई एक्सीडेंट् भी हो जायगा तो बंदर ही तो मरेगा, आदमी तो बचेगा. अब देखो ये मानवताका विकास है कि ह्रास है, ये सोचो? एक एंगल्से सोचें तो लगता है कि बंदरोंका बहुत विकास है क्योंकि उन्हें फाइटर् जेट् उड़ानेकी ट्रेनिंग दे रहे हैं. पर मानवीय नीति और संवेदना की दृष्टिसे देखें तो तुम मरना नहीं चाहते इसलिए दूसरेको मरवाना चाहते हो. तुमको यदि बन्दर ऐसे पकड़कर मरवाना चाहे तो तुम्हें पसन्द आयगा?

दूसरेको मारना हमें पसन्द आता है पर कोई हमको मारे तो पसन्द आयगा ? नहीं आता पसन्द. तो कहाँ अधर्म है, कहाँ धर्म है इसका निर्णय कैसे लेंगे? बन्दरको फाइटर् जेट्की ट्रेनिंग देना उसका स्वभाव है कि जैसे वो विकसित हुआ ऐसे सब बंदर विकसित हो जायेंगे अथवा ये मानवका कलक्युलेटेड् व्यवहार है कि मरे तो बंदर मरे और मैं न मरूँ. अब कहनेको कहा जाता है कि बंदरको इतना अच्छा शिक्षित किया जितना आज तक किसीने नहीं किया. ये वैज्ञानिक विकास हुआ न! पर नीतिका ह्रास हो गया, अनीति हो गयी. इस तरहसे हमको निर्णय लेना पड़ेगा कि समायोजनके लिहाजसे कि कहाँसे वो क्रिया प्रकट हो रही है? स्वभावसे प्रकट हो रही है कि वो प्रभावसे प्रकट हुयी. उस फिल्ममें एक बहुत अच्छी बात बताई है कि जब बन्दर अच्छी तरहसे प्रशिक्षित हो जाते हैं तो एक रोज़ बन्दर प्लेन्को हाईजॅक् करके ले जाते हैं. एक बन्दर सब बन्दरोंको प्लेन्में बिठाकर प्लेन्को हाईजॅक् करके ले जाता है. और आर्मी जब तक समझे तब तक तो वो प्लेन्को उड़ाकर ले जाता है. अब सारी अमेरिकाकी फोर्स उस प्लेन्में बैठे बन्दरोंको पकड़नेके लिए लग जाती है. अब ट्रेनिंग लेनेके बाद बन्दर समझ गये कि रहस्य क्या है? जब उन्होनें देखा कि वो चारों ओरसे घिर गये हैं तो उन्होनें एक तालाबमें डाइव लगा दी और सबसे पहले तो उन्होनें आर्मीकी ड्रेस उतारकर फेंकी और पेड़ों पर चढ़ गये. अब पहचानो कि वो बंदर ट्रेन्ड् है कि

अनट्रेन्ड् है? अब कैसे पहचानें, सब बन्दर तो एक जैसे ही लगते हैं. वो प्लेन् उस एरियामें ले गये. जहाँ सब बन्दरोंका जंगल था. अब ट्रेन्ड् किया है तो इतना तो बन्दर भी समझेगा न! वहाँ सबसे पहली अपनी चतुराई दिखाई कि मनुष्यकी चतुराईका जूता मनुष्यके सिरपर मारकर दिखा दिया. जैसे ही वो छूटे, उन्होनें अपनी भाषा बोलनी शुरू कर दी, वो सारी बातें जो ट्रेनिंगमें सिखायीं थी वो उन्होनें छोड़ दी. जैसे पोपटको जितनी देर पिंजरेमें रखें उतनी देर ही वो मिठ्ठू मिठ्ठू करता है. जैसे ही पिंजरेसे छूटा उसके बाद वो टें-टें ही करता है. क्योंकि उसे लगता है कि आज मेरी स्वतंत्रता घोषित हो गयी.

इस रहस्यको समझो कि कोई भी क्रिया जो प्रकट हो रही है वो चाहे स्वभावसे प्रभावसे, जैसे पोपट जो राम नाम बोल रहा है वो स्वभावसे बोल रहा है कि प्रभावसे बोल रहा है? वो तो प्रभावसे बोल रहा है क्योंकि राम बोलनेके लिये उसे हम ललचाते हैं. जब राम बोलेगा तब खाना मिलेगा. हम अपनी बेवकूफीसे समझते हैं कि वो राम बोल रहा है. अरे वो जो राम बोल रहा है उसका अर्थ राम नहीं अमरूद या मिर्ची है. वो उस अर्थमें राम राम करता है. लाओ भई राम=अमरूद या मिर्ची. हम समझते हैं कि हमने उससे राम राम बुलवाकर बहुत बड़ा उत्कर्ष सिद्ध कर लिया. हमने तोतेको भी राम राम कहना सिखा दिया. हम महाराज लोग भी तोतेकी तरह **श्रीकृष्णः शरणं मम** बुलवाकर कहीं लोगोंको बोलते कर देते हैं. पर

मतलब कुछ और ही होता है उसका. वो न श्रीकृष्ण ही मतलब होता है न शरण और न मम, कुछ भी मतलब नहीं होता उसका. अरे अर्थ भी समझाया था कि नहीं उसका? मतलब तो समझाना चाहिये न! मतलब नहीं समझेगा तो वो कुछ और मतलब समझेगा न! जैसे तोता कुछ और ही मतलब समझता है. जब पोपट पिंजरेसे छूट जाता है और टें-टें करता है, वो क्रिया स्वभावसे करता है. बस बातमें यहाँ फरक पड़ जाता है ओर उसी टें-टेंमें जब वो कोई क्रिया करता है और उसकी आवाज़में जो बदलाव आता है उसमें उसका स्वभाव भी प्रकट हो रहा है, उसका व्यवहार भी प्रकट हो रहा है, उसकी भक्ति भी प्रकट हो रही है. ये सारे पोपटमें, आदमीमें, कुत्तेमें सभीमें प्रकट होते हैं. पर यदि समायोजन करना है तो वो क्रिया जो प्रकट हो रही है उसका स्रोत कहाँ है, उसका उद्देश्य क्या है? वो जब तक पता नहीं चलेगा तब तक उसका निर्णय नहीं लिया जा सकता.

एक बड़ी मजेदार बात बताऊँ. स्वामीनारायण संप्रदायवालोंने मुझे ये बात बतायी थी. उनके गुरुजीने आदेश दिया कि जितनी भी ग्रामीण जनता है उसे सिखा दो कि हमारा विशिष्टविशिष्टाद्वैत सिद्धांत है. अब बेचारे किसान लोग विशिष्टका मतलब जाने नहीं, अद्वैतका मतलब जानें नहीं. फिर उनके इतना भारी भरकम शब्द कहाँसे समझमें आता. खैर! संप्रदायवालोंने एक बहुत बड़ा एक डेमोन्स्ट्रेशन् रखा कि अब ग्रामीण लोग भी बता देंगे कि

हमारा सिद्धांत क्या है? उनके गुरुजी आकरके बैठे, ये जाननेके लिए कि ग्रामीणोंके समझमें आया कि नहीं. उन्होनें ग्रामीणोंसे पूछा ''बताओ हमारा सिद्धांत क्या है?'' लोगो ने जवाब दिया ''हमारा विशिष्टविष्ठाद्वैत सिद्धांत है.'' वो बेचारे बोले ''अच्छा, अच्छा, रहने दो.'' अब जो वो न समझ पाते हो तो कुछ भी बोलेंगे. बेचारे गुरुजी भी चुप हो गये. क्या करते बेचारे! आपको शायद विष्ठाद्वैतका अर्थ नहीं पता चला होगा. न ही चले तो अच्छा है.

अक्सर ऐसा होता है कि हम बहुत सारे प्रभाव किसी पर डालकर अपना धर्म किसी पर थोपते हैं. पर जब वो धर्म उसके स्वभावमें नहीं है तो वो असमायोजित रूपमें प्रकट होता है. सब लोगोंको कंठी दे दी बिना समझे कि वो सेवा करना चाहता है कि नहीं? ये भी तलाश नहीं किया कि वो सेवा करना चाहता है, सेवा करनेकी सुविधा उसके जीवनमें है कि नहीं, हमने ये भी नहीं जाँचा कि सेवा करने लायक उसकी लाईफ्-स्टाइल् है कि नहीं. बस सबको विशिष्टविष्ठाद्वैत सिद्धांत समझा दिया. कंठी ले जाओ बस. तो जो धर्म प्रकट हो रहा है वो कैसा प्रकट होता है कि घरमें सेवा करनेके बजाय जहाँसे रेडीमेड् परचेज़ कर सकते हो वहाँसे परचेज़ कर लो क्योंकि आजकलका जमाना ही सेल् और परचेज़ का है. एक बालकने तो अपने सम्पादकीयमें ही कहा कि ''हम महाराजोंका रोल् श्रीकृष्णसेवाका सेल्स् प्रमोशन् ही है.'' तो क्या भगवान् और भक्ति की सेल्को प्रमोट् करना हमारा रोल् है? ठीक

है जैसा कहा है कि **''उभावपि अश्रुत-ग्रंथौ उभावपि जड़ात्मकौ अहो मोहस्य माहात्म्यं तत्र एक: शिष्यतां गत:''** खुद तो गुरुजीको समझमें आता नहीं है कि शिष्यका रोल क्या है? भक्ति और भगवान् के सेल्स्को प्रमोट् करना यदि गुरुका रोल् है तो फिर दुकानदार ही क्या खोटा था. इसके लिए गुरुकी क्या आवश्यकता है और व्यर्थमें इसके लिए गुरुके पैर क्यों पड़ना. आप दुकानदारके पैर तो नहीं पड़ते हो. वो भी तो सेल्स् प्रमोट् कर रहा है. हमको पता नहीं चलता है कि जो हम क्रिया कर रहे हैं उसका स्रोत कहाँ है! वस्तुके स्वभावमें प्रभावमेंसे कर्ममेंसे व्यवहारमेंसे नीतिमेंसे भक्तिमेंसे कि लीलामेंसे है. इसीलिए हम धर्म अर्थ काम मोक्ष का समायोजन भी नहीं कर पाते हैं. ये जानना बहुत आवश्यक है यदि हमको धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन अपने आर्षशास्त्रकी दृष्टिसे करना है तो जैसे **''धर्मार्थकाम - मोक्षाख्याश् चत्वारो अर्था मनीषिणाम्''** (बा.बो.२) जो बुद्धिमान प्राणी हैं उसके धर्मार्थकाममोक्ष चार पुरुषार्थ है पर वो असमायोजित होने पर पुरुषार्थ नहीं रह जाते. अच्छी तरह मेनेज्ड् हो तभी वो 'पुरुषार्थ' कहलायेंगे. यदि वो अनमेनेज्ड् हो गये तो वो पुरुषार्थके बजाय पुरुषानर्थ हो जायेंगे. वो ही धर्म आपको नुकसान पहुँचाने लगेंगे. महाप्रभुजी इसको बहुत खूबसूरतीसे कहते हैं कि **''भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टै स्वकर्मभि:, अन्यथाभावमापन्न: तस्मात् स्थानाच्च नश्यति.''**(सि.मु.२०)

गंगाके तीरपर निवास करना यदि गंगाके प्रति भक्तिके

कारण हो तब तो उद्धार हो जायगा. और यदि वो ही उपभोक्ताके भावसे हो कि गंगाके जलका उपभोग ही सिर्फ हमको करना है तो वो गंगा किनारे रह रहा है इसलिए उसका नाश होगा. यदि दूर रहता तो शायद ऐसा दुर्व्यवहार गंगाके प्रति न करता और फिर ऐसा उसका नाश भी नहीं होता. कई बार क्या होता है कि बच्चोंको हम समझाते नहीं है इसलिए वो बिजलीके प्लगोंमें ऊँगली डाल देते हैं. जो बिजली अपने व बच्चे, दोनोंके फायदेके लिए है उसके करेंटसे बच्चेको हानि हो सकती है. क्योंकि **''तस्मात् स्थानाच्च नश्यति.''** जो साधन हमने अपनी सुख-सुविधाके लिए जुटाए वो हमारे दु:खका कारण बन सकते हैं. दवाईयों पर भी आपने लिखा देखा होगा कि ''बच्चोंको इस दवाईसे दूर रखो.'' क्योंकि बच्चा तो आखिर बच्चा ही है न! दवाई हाथमें आयी तो खोलकर खा जायगा. उसके बाद उसका परिणाम क्या होगा? दवाई किसी रोगका ईलाज है पर उसको मेनेज् करना पड़ेगा. जो दवाई बच्चोंके लिए नुकसान पहुंचानेवाली है वो ही रोगीके लिए फायदेमन्द है. तो कहाँ रखें कि नुकसान देनेवाली न हो जाय और रोगीके लिये फायदेमंद हो जाय.

इस तरहसे जो भी क्रिया हम प्रकट कर रहे हैं उसका जब तक हम स्रोत नहीं ढूँढते, कि वो स्वभावसे या प्रभावसे कहाँसे प्रकट हो रही है, जब तक उसको डाइग्नोज़ नहीं करते तब तक उसको अच्छी तरह समायोजित नहीं कर सकते. इसीलिए आयुर्वेदमें स्पष्ट कहा

है कि चिकित्साके पहले रोगका निदान अत्यंत आवश्यक है. यदि निदान नहीं हुआ और चिकित्सा पहले हुयी तो बहुत कबाड़ा हो सकता है.

(स्वभावमें धर्म = उत्पत्ति)

संस्कृतमें एक बहुत प्रसिद्ध चुटकुला है. गुरुजी हिमालयसे उतरके नीचे आये. चेलेने पूछा कि ''क्या करना है?'' गुरुजी ने कहा कि ''जंगलसे कोई भी जड़ीबूटी लाओ उसे घोट-पीस कर गोलियाँ बनाओ और सबको बाँटो, उपकार करो. चेले ने पूछा ''ये किस रोगकी दवाई है?'' गुरुने कहा - ''दवाई तो ये किसी रोगकी नहीं है पर जो भी रोगी होगा वो या तो खाकर जीयेगा या मरेगा. दो ही तो संभावना हैं. बस तुम देते जाओ. जो बच जायगा. वो तो तुम्हारा हमेशाका ग्राहक बन जायगा और जो मर जायगा, वो कोई मरकर झगड़ा करने तो आनेवाला नहीं है. बस तुम गोलियाँ बाँटों. इससे तुम्हारा काम तो अच्छी तरह चलेगा.'' **''यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन प्रपेषयेत्, यस्मै कस्मै प्रदातव्यं, यद्वा तद्वा भविष्यति.''**

जो होना होगा वो होगा ही. जो होता है वो भगवदिच्छासे ही तो होता है. आजकलके डॉक्टर भी तो कहते हैं कि ''हम तो ईलाज कर सकते हैं, बचाना उसके हाथमें हैं. बस दवाई बाँटते जाओ. चांस् तो बचनेके पचास प्रतिशत ही हैं. जो बच गया वो तो तुम्हारा हमेशाका ग्राहक बन गया. ये सीधा सौदा है. पर ये असमायोजित सौदा है. समायोजित सौदा नहीं है.

डाइग्नोसिस् करके ईलाज करना, वो ही समायोजित मेडिकेशन् है.

मैं अपनी एक बात बताऊँ. एक बार किशनगढ़में मुझे बहुत तेज बुखार आ गया. हमारे यहाँ डॉक्टर् तो था नहीं, एक कंपाउंडर् था. उसे बुलाया गया. उसने आ कर देखा और कहा कि मलेरिया टाइफोइड् और इन्फ्लुएन्ज़ा के कारण बुखार आ रहा है. मैंने पूछा तीनों साथ कैसे हो सकते है? उसने कहा कभी हो जाता है. लिहाजा तीनों दवाईयां खानेको दे दी. शरीरमें भारी रिएक्शन् आ गया. चमड़ी पाउडर बनकर खिरने लगी. मैंने पूछा ऐसा क्यों हो रहा है? उसने कहा ''कभी-कभी ऐसा भी होता है!'' मैं किशनगढ़से बम्बई भाग आया. कंपाउन्डरकी ट्रेनिंग लेनेके बाद ये हाल होते है. पर उसको स्वभावसे कितनी सामर्थ्य दी है. एक बात समझो कि स्वभावसे जो क्रिया होती है वो उसका व्यवहार नहीं है अपितु उसका स्वभाव माने वो जैसा है उसमें उस तरहसे ही क्रिया प्रकट हो रही है. जो क्रिया उत्पन्न करनेके लिए जिस वस्तुमें जैसा स्वभाव गढ़ा गया है, उस गढ़े हुए स्वभावके अनुरूप उस वस्तुमें क्रिया उत्पन्न होना, उस वस्तुका संस्कृतभाषामें 'धर्म' कहा जाता है. **''धारणात् धर्म इत्याहु''** किसी विशेषताको धारण करना. जैसे ज़ेबराने एक विशेषता धारण की है कि उसकी त्वचाके कारण उसके उपर मच्छर नहीं आता. वहाँ धर्म उस अर्थमें आ रहा है कि मच्छर दूर रखनेकी क्रिया उत्पन्न हो जाती है उससे तो वो धर्म है और जब वो

क्रिया उत्पन्न नहीं हो रही है तो वो अधर्म है.

(स्वभावमें अर्थ = स्थिति)

स्वभावमें अर्थ क्या है? ध्यानसे समझो कि हर वस्तु जो उत्पन्न हुयी है वो जिस प्रकारसे उत्पन्न हुयी है और लंबे समयके लिए वो उस तरहसे रहना चाहती है. जैसे हम मकान पर रंग कर देते हैं पर हर बरसातके बाद वो रंग फीका पड़ जाता है. पर जेबरेको, या चीतेको या बाघको जो रंग प्रकृतिने पोता है वो इतने हजारों सालसे चल रहा है पर फीका नहीं पड़ता है. बल्कि खूबसूरती उसकी ये हैं कि उनकी चमड़ी भी निकाल लो न तो भी वो रंग तो ताजा ही रहता है. हमारे पोते हुये, रंग फीके पड़ जाते हैं पर प्रकृतिके रंग फीके नहीं पड़ते. क्योंकि वो गुण उसके स्वभावसे प्रकट हुआ है. जो चीज़ उत्पन्न हुयी है उसे उसी तरहसे उत्पन्न करते रहना स्वभावका धर्म है और जो उत्पन्न हुयी है उसे उसी रूपमें व्यवस्थित रखना ये स्वभावका अर्थ है. क्योंकि ऐसा क्यों उत्पन्न हुआ, क्योंकि ऐसा होता रहेगा तो हरकत नहीं आयगी.

(स्वभावमें काम = लय)

स्वाभाविक क्रियाओंका 'काम' क्या है? स्वाभाविक क्रियाओंका काम है कि जो भी वस्तु उत्पन्न हुयी है वो कभी न कभी तो खत्म होगी ही. फिरभी खतम होना नहीं चाहती. जिस बातका उदाहरण मैनें आपको मच्छर और आडोमोस से दिया. हमने मच्छरके स्वभावसे ये बात जाँची थी कि उसे संतरेकी गंधसे नफरत है. मगर जब

सरवाइवल्का प्रश्न आया तो उसने अपनी वो नफरत खत्म कर दी और उसने कहा कि यदि इससे खून पीना नहीं मिलता है तो इस संतरेकी गंधके साथ रहेंगे पर खून तो पीयेंगे. अपन इसको मनुष्यके संदर्भमें देखें तो देखो जब भी दारुकी बोतल खुले तो कितनी दुर्गंध आती है. मगर जब आदमी पीना शुरू कर देता है तो दुर्गंध आनी बंद हो जाती है. वो दुर्गंध आनेका स्वभाव खत्म हो जाता है. हर माँ इस रहस्यको जानती है कि बच्चेको जब अपना दूध पिलाती है और वो बंद करके जब शक्कर मिला हुआ दूध पिलाती है तो बच्चेको उस शक्कर मिले दूधका स्वाद अच्छा नहीं लगता है. बच्चा मुँह बिचकाता है कि पता नहीं ये क्या आ गया. इसमें माँके दूधका स्वाद कहाँ है? पर निरंतर शक्कर डाल-डालके पीने पर फिर जब भी बिना शक्करके दूध आता है तो दूध फीका लगता है. स्वभावमें परिवर्तन हो गया. हर माँ इस रहस्यको जानती है कि पहले शक्कर मिले दूध पर बच्चा मुँह बिगाड़ता है. तो स्वभावमें परिवर्तन नहीं हो सकता ऐसी बात नहीं है. महाप्रभुजी इसीलिए कहते हैं कि **''स्वभाव-विजयो भवेद् वदति वल्लभः श्रीहरेः''** (यमुनाष्टकम्-९) स्वभावपर भी विजय पाया जा सकता है. वो कहाँ पाया जा सकता है क्योंकि हम ब्रह्मके मिनी मॉडेल् है कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं स्वभावके हिसाबसे हर क्रियाको उत्पन्न करनेके लिए समर्थ है, स्वभावके हिसाबसे उस क्रियाको न उत्पन्न करनेके लिए भी समर्थ है और उस स्वभावको भी किसी दूसरे अर्थमें

विनियोग करनेमें समर्थ है. जैसे शक्कर नहीं खाकर हम गुड़ खाने लग जाएं.

हमारे मुम्बईमें एक बहन हैं उन्होनें शक्करके विरुद्ध बड़ी भारी मुहिम छेड़ी. एक दिन एक घंटा आकर मेरे सामने लेक्चर् दिया कि शक्कर खानेसे क्या-क्या नुकसान होते हैं. मैं तो ध्वस्त हो गया. क्या कह सकता था जब शक्कर खाने पर इतनी गाली गलोच हो रही है. मैं कुछ भी बोलता तो वो गाली मुझे लगती. मैं भी सुनता रहा. एक बार उन्होंने अपने बच्चेकी जनोई पर मुझे बुलाया. उस रोज वहाँ बहुत पेड़े आदि रखे थे. मुझे लगा कि अरे, इसमेंतो शक्कर है. मैनें उन्हें ये बात जताई तो उन्होनें कहा कि आजके दिन छूट है. मैनें सोचा ''ये क्या है? चित भी मेरी और पट भी मेरी. जब आपके बच्चेका जनोई है तो आप शक्कर खाती हो और हमें लेक्चर् देती हो कि शक्कर खानेसे नुकसान होता है तो हमने आपका क्या बिगाड़ा है.'' तो स्वभावपरिवर्तन हो सकता है. जनोईके जैसे एक छोटेसे व्यवहारमें स्वभावपरिवर्तन हो गया. वरना तो ऐसा जबरदस्त लेक्चर् दिया कि मेरी तो बोलती बंद हो गयी. मुझे इतने-इतने नुकसान गिना दिये कि मुझे लगा कि वस्तुत: ये नुकसान होते हैं कि नहीं. अपनने तो उस विषय पर कोई शोध किया नहीं पर उसके पास तो सब रेडीमेड् डेटा था.

हमारे लिये आहार (भोजन) और विहार (यौनतुष्टि) व्यक्ति और सन्तती के सर्वाईवल्के लिये कितने प्रबल

कामाकर्षणके रूपमें प्रकट किये गये है! अब जबकी अनेकविध विकासके स्तरमें इन दोनों आकर्षणोंको क्षीण होते जाना चाहिये था. फिरभी व्यक्तिशरीर अनपेक्षित चरबी तथा मानवजातिकी जनसंख्यामें घातक अभिवृद्धिको देखनेके बावजूद ये आकर्षण क्षीण नहीं होते तो हमारी सोचसे कुछ भिन्न ही हमारे भीतर इन आकर्षणोंको खतम न होने दे वैसी बायोलोजीकल् सेल्स्की सोच कुछ अलग लगती है. आहारविहार कामाकर्षणसे मुक्त होना चाहने पर शरीरघटक सेल्स् कामाकर्षणसे मुक्त नहीं होने देती. जीवन वैयक्तिक हो या वांशिक हो मौतसे ज्यादा खतरनाक हो रहा हो पर कोई मरता ही नहीं. सबके सब बैठे रहते. एक तो पोप्युलेशन् इतनी बढ़ जाती कि किसीको रहनेकी जगह ही नहीं मिलती. खानेको खाना नहीं मिलता. ये कितनी अच्छी बात है कि उसने मोर्डेलिटी चालू रखी है कि जो पैदा हो रहा है उससे एकके बाद दूसरा पैदा होता रहेगा **''तदु मर्त्यामृतं यद् वै प्रजा: अजायत''** (तै.ब्रा.१।५।५) और मॉडेल् खत्म होते जाते हैं. मॉडेल् खत्म होते जाना मॉडेलिटीके विकासका हेतु होता है, मॉडेलिटीके ह्रासका हेतु नहीं. मॉडेल्का निरंतर बने रहना ह्रासका हेतु होता है. आप लोगोंको पता होगा कि बहुत अर्से तक हिन्दुस्तान अेम्बेसेडर कारका एक ही मॉडेल् चलता रहा क्योंकि कोई कॉम्पीटीशन् ही नहीं था. सब लोग उससे बहुत बोर हो गये थे. जब पैदा हुयी हिन्दुस्तान कार, तब सब लोग इतने प्रसन्न थे कि अब तो अपनी हिन्दुस्तानी कार हिन्दुस्तानमें पैदा हो गयी. पर जब हिन्दुस्तान मोटर्का एक

ही मॉडेल् अर्से तक चलता रहा, तब सब लोग त्रस्त हो गये कि यार! अब इस कारसे बोर हो गये. मारुति बाजारमें आयी और सबने तुरंत एेम्बेसेडर बेचकर मारुति खरीद ली. सच बात तो ये है कि हिन्दुस्तान एेम्बेसेडरमें जगह अधिक थी, मजबूती अधिक थी और मारुतिमें ये सब नहीं था.

मैं एक बार बनारस उसमें गया तो रोड खराब थी. एक बार मेरा माथा इधर लगे और दूसरी बार उधर. मैं कहता रोड बहुत खराब है तो वो बोलते सरकार ही खराब है, क्या करें? नये नये मॉडेल् आने चाहिये जिससे विकास भी हो. एक ही एक मॉडेल् चले तो सब बोर हो जांय. आपको एक बात बताऊँ कि आप नया घर अच्छेसे अच्छा बनाओ, अच्छे ढंगसे उसका इन्टीरियर् डेकोरेशन् करो. एक वर्ष बाद आपको उसमें वो मजा नहीं आता. क्योंकि हम मज़ा जो ले रहे हैं वो घरका नहीं ले रहे हैं बल्कि उसके नयेपनका ले रहे हैं. नये डिज़ाइन्का मजा ले रहे हैं, डिज़ाइन्का नहीं ले रहे हैं. ऐसी सिस्टम् हमारे भीतर क्यों रखी गयी है? इसका कारण समझो यदि हम एक ही बातको पकड़ कर बैठ जायेंगे तो सारा विकास अवरुद्ध हो जायगा. जो उत्पन्न हुआ है. वो स्थित रहनेके लिए उत्पन्न नहीं हुआ. वो एक विकासकी तरफ उत्पन्न हुआ है.

इसलिए ब्रह्मके दो अर्थ होते हैं. एक अर्थ है जो सर्वत्र व्यापक है और दूसरा अर्थ है जो निरंतर बढ़ रहा

है. जिसका निरंतर विकास हो रहा है उसका नाम 'ब्रह्म' है. जब निरंतर विकास होता है तो नया-नया कुछ आयाम आता रहता है. और वो स्वाभाविक क्रियामें मॉडेलिटीके विकासका नियम है तो ये धर्म अर्थ काम मोक्ष इस प्रकारसे स्वभावसे समायोजित होते हैं और इनका स्वरूप हमको समझना चाहिये. इनकी उपयोगिता, इनकी सीमा, इनमें होनेवाले लाभ और हानि दोनोंका निदान करके फिर कोई अपना धर्म निर्धारित करना चाहिये. जैसे भगवान् गीतामें कहते हैं कि **''सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्''** (भग.गीता.१८।४८) हम अपने स्वभावसे जो पैदा होनेवाले जो कर्म हैं उनसे निबद्ध होते हैं. भगवान् गीतामें यहाँ तक आज्ञा करते हैं कि **''सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:''** (भग.गीता.वहीं) जब भी आग जलाओगे तो कुछ धुंआ तो उठेगा ही. धुंआ जब उठ रहा है तो वो आग जलनेका सूचक है. मगर वो धुंएके बाद कुछ नया एनर्जीका चक्र शुरू हो जाता है. **''एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य: अघायुरिन्द्रियारामो मोधं पार्थ! स जीवति''** (भग.गीता.३।१६) ये एक पूरा धर्मार्थकाममोक्षके अंतर्गत स्वाभाविक धर्म, स्वाभाविक अर्थ, स्वाभाविक काम और स्वाभाविक मोक्ष का सिद्धांत है.

('प्रभाव'=इतरोपाधिकक्रियाके कारण आगन्तुकगुणधर्म प्रकट होता है)

प्रभावसे कोई धर्म, कोई अर्थ, कोई काम कोई मुक्ति उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप अब देखें. 'प्रभाव'का अर्थ

क्या है? प्रभाव किसी ऐसी क्रियाका जनक होता है कि जो हममें हमारे बलबुते पर प्रकट नहीं होती मगर किसी दूसरेके बलबूते पर प्रकट होती है. जैसे कॅरम्में हमने गोटी सजा रखी है, वो अपने बलबूते पर खानेमें नहीं जाती है. जब स्ट्राइकर्से उसको मारते हैं तो गोटी चली जाती है. वो गोटी जो खानेमें जा रही है, वो अपने स्वभावसे नहीं जा रही है बल्कि स्ट्राइकर्के प्रभावसे जा रही है. ऐसे ही हमारे जीवनमें भी कुछ क्रियाएँ ऐसी होती है जैसे मैनें आपको मच्छरके उदाहरणसे बताया कि मच्छरने प्रभावित होकर खून पीना बंद कर दिया पर फिर खून पीना शुरू कर दिया. पहले डी.डी.टी. छाँटते थे तो मच्छर भाग जाते थे. अब शायद मच्छरोंको उसका नशा आता है और वो उसकी और अधिक डिमांड करते हैं. वो समझते हैं कि शायद मनुष्यने उनके लिए कोई बार् खोल रखा है. तो पियो जितना जी चाहे खून. ये दूसरा प्रभाव प्रकट हो गया. प्रभावसे होनेवाली क्रियाओंको कैसे समायोजित करना वो हमको सिफत आनी चाहिये. हर वक्त एकका एक ही करते रहेंगे तो वो प्रभाव खत्म हो जाता है. कोई भी बातको आप निरंतर करते रहो तो उसका प्रभाव क्षीण हो जाता है.

(प्रभावमें धर्म = उत्पादन)

जैसे एक छोटे बच्चेको किसी स्थान पर गुद्गुदी करो तो उसे गुद्गुदी आती है पर रोज-रोज उसी स्थान पर गुद्गुदी करोगे तो गुद्गुदी आनी बंद हो जाती है. मेरे एक

मित्र थे वो जब मेरे यहाँ आते तो कहते कि ''गोस्वामी जब तुम्हारे यहाँ आऊँगा तो तुम्हारे जैसा ड्रेस पहनना चाहता हूँ.'' मैनें कहा ठीक है और अगली बार जब वो मेरे यहाँ आये तो अपनी तरह धोती उपरना मैनें उनको पहना दिया. अब वैष्णवोंमें भी एक स्वाभाविक क्रिया है कि धोती उपरना दीखा नहीं कि 'कर चरणस्पर्श' तो वैष्णव उसके भी चरणस्पर्श कर लेते थे. एक वैष्णवने उनके चरणस्पर्श करनेके बाद मुझसे पूछा कि ''आप कहाँके बालक हैं.'' मैनें कहा ''फिल्म इन्स्ट्रीटयुटके.'' उस मित्रने मुझसे कहा कि ये वैष्णव तुम्हारे पैर छूते हैं पर मेरे जब पैर छुए तो मेरे सारे शरीरमें झनझनाहट हो गयी. मैनें कहा कि ''तेरे पहली बार छुए है इसलिए.'' हमारे तो कोई पैर छुए तो पता भी नहीं चलता कि कोई छू गया है.

हर बात प्रभावकी इसी तरहसे है कि प्रभाव जो है वो किसी दूसरेसे उत्पन्न होनेवाली क्रिया प्रभावकी क्रिया कहलाती है. और उस क्रियाका धर्म क्या होता है? वो है किसी चीज़के भीतर नूतन गुणधर्म उत्पन्न करना. जो वस्तु अपने आप उत्पन्न नहीं हो सकती है, प्रभावके कारण उसमें वो क्रिया उत्पन्न की जा सकती है. **''उत्पादनं धर्म''** ये प्रभावका धर्म है. जैसे दूध अपने आप दही नहीं बन सकता है. पर जब हम जामन मिला देते हैं तो उस प्रभावके कारण वो दूध दही बन जाता है. उसके बाद उस दहीमें वो क्रिया उत्पन्न हो जाती है जो दूधमें उत्पन्न नहीं हो सकती थी. उत्पादन करना प्रभावका पहला धर्म है.

(प्रभावमें अर्थ = स्थापन)

प्रभावका अर्थ क्या है? जैसे हमने कुछ उत्पन्न किया और उत्पन्न करते ही वो खत्म हो जाय तो व्यर्थमें अपन इतना आयास क्यों करेंगे? जिस प्रकारके प्रभावसे हमने किसी वस्तुको उत्पन्न किया उसी प्रकारसे हम उसका स्थापन कर पायें, वो उस प्रभावका अर्थ है. स्थापन स्थानके समानांतर शब्द है. जैसे हमने ठाकुरजीकी प्रतिष्ठा की. वो क्या है? प्राणप्रतिष्ठाके द्वारा हम देवमूर्तिमें भगवान्‌को स्थापित करते हैं. जब स्थापित करते हैं तब हम ये चाहते हैं कि जब तक हमारे हृदयमें कमसे कम भक्ति और श्रद्धा है, तब तक देवमूर्तिकी तरह वो कायम रहे. इसीलिए प्रतिष्ठापन कहा है. समझो कि हम करें और वहाँ वो स्थापन होता ही न हो, तो अर्थके बजाय अनर्थ हो गया. प्रभावसे उत्पन्न होनेवाला जो धर्म है उसका अर्थ ‘स्थापना’ है. जैसे विवाहके समय हम गणपतिजीका स्थापन करते हैं. जितने दिन विवाहका प्रसंग चल रहा है उतने दिन कुलदेवता गणपतिजी स्थापित रहते हैं, अपने विवाहके कर्मकाण्डमें विघ्न न आये, उसकी देख-रेखके लिए. तो स्थापन उसका अर्थ है.

(प्रभावमें काम = विलापनं)

अब प्रभावमें ‘काम’ क्या है? जब अपना काम हो गया तो विसर्जित करो. ‘‘**गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ: स्वस्थाने परमेश्वर:**’’ जब प्रभावसे कोई चीज़ हमने स्थापन की है और वो अधिक देर टिके न तो अप्रभावी हो जाता है.

जैसे हम रेलसे बम्बईसे जबलपुर आये. अब रेल उतरने ही न दे कि अब आये हो तो बैठे ही रहो. ऐसा तो नहीं हो सकता न! कहीं न कहीं यात्रा तो स्थगित करनी ही पड़ेगी. जब वो स्थगित होती है तभी तो स्थापनका मतलब है. इसलिए जब प्रभावसे कोई धर्म या अर्थ होता है तो उससे उत्पन्न कामका कहीं न कहीं गंतव्य आना चाहिये. यदि गंतव्य नहीं आता है तो वो प्रभाव न रहकर अप्रभावी हो जाता है. जैसे दवाको बहुत दिन तक लो तो दवाका प्रभाव भी समाप्त हो जाता है. अक्सर लोग एन्टीबायोटीक्‌में उल्टा चक्कर चलाते हैं. कैसे? जब बीमारी हुयी तो थोड़ीसी लेकर देखते हैं. नहीं मिटती तो थोड़ी और बढ़ाकर देखते हैं. फिर नहीं मिटती तो और बढ़ाकर देखते हैं. शरीर क्या करता है कि उस दवाको धीरे-धीरे अपनी बायोकेमिस्ट्रीमें एब्सोर्ब करता जाता है और अंतमें वो दवा रोग ठीक करनेकी अपेक्षा खुद एक बीमारी बन जाती है. उस दवाका विलोपन होना चाहिये. डॉक्टर् कहते हैं कि पहले अधिक दवा लो और फिर धीरे-धीरे उसकी मात्रा घटाते जाओ. इस तरहसे घटाओ कि जब रोग घट जाय तब फिर दवाई लेनेकी आवश्यकता न रह जाय. तब तो वो एन्टीबायोटिक् है अन्यथा वो एन्टीलाइफ् ही हो जाती है. ये प्रभावमें कामका सिद्धान्त है. प्रभाव तो होता है पर उसका समायोजन हमको आना चाहिये. बिना सोचे समझे जब हम समायोजन करते हैं तो उसका दुष्प्रभाव प्रकट होता है.

(प्रभावमें मुक्ति = नूतनोत्पादन)

प्रभावमें मुक्ति क्या है? जैसे स्वभावमें नूतन द्रव्यका उत्पन्न होना मुक्ति है, ऐसे यहाँ नूतन उत्पादन होना मुक्ति है. क्योंकि जब आप इन क्रियाओंको करते रहेंगे तो आपका उन सारी क्रियाओं पर नियंत्रण आता है कि जब-जब भी ऐसा हो तब-तब हम ऐसा करके उस पर नियंत्रण पा लेंगे. जैसे जब-जब बिजली चली जायगी तब-तब हम मोमबत्ती जला लेंगे. ये मोमबत्तीका घरमें रखना एक प्रभावी उपाय है. आजकल आता है न इनवर्टर्! जब-जब बिजली चली जाती है तब तब वो इनवर्टर् वैसा प्रभाव उत्पन्न कर देता है कि हमें बिजली जानेका एहसास नहीं होता. ये धर्मार्थकाममोक्षके प्रभावकी व्यवस्था है.

('कर्म' = ज्ञानेच्छाप्रयत्नसे पैदा होती क्रिया)

कर्ममें धर्मार्थकाममोक्षकी व्यवस्था कैसी है? ज्ञान इच्छा प्रयत्न के बिना जो क्रिया पैदा हो रही थी वो या तो स्वभावसे हो रही थी या प्रभावसे ही हो रही थी. जैसे ज़ेबराके शरीर पर पट्टी. उसमें न तो हमारा ज्ञान था, न प्रयत्न था और न ही इच्छा थी. वो क्रिया तो स्वभावसे ही हो रही थी. कुछ क्रियाएँ प्रभावसे उत्पन्न होती है. पर जब कोई क्रिया, जैसे साँस चल रहा है हमारे भीतर वो स्वभावसे चल रहा है. पर ज्ञान इच्छा प्रयत्न से जब हम प्राणायाम कर रहे हैं तब वो कर्म बन जाता है. वो कर्म बन जाता है तो जो क्रिया है वो ही धर्म है. निरंतर इन तीन दिनके प्रवचनमें मैं इस बातको सुलझानेका प्रयास

करता रहा कि सब कुछ यदि भगवान् करता है तो फिर हमको कुछ करनेकी क्या आवश्यकता है! भगवान्‌की कृपासे ही जब भक्ति होती है तो फिर हमको करनेकी क्या आवश्यकता है? सच बात है.

(कर्ममें धर्म = प्रयत्नरूप होता है)

पर ज्ञान इच्छा प्रयत्न से उसी क्रियाको फिरसे प्रकट करना है तो प्रयत्न ही धर्म है. प्रयत्न नहीं कर रहे हो तो अधर्म है. सांस जो चल रही है उसे यदि चलाते रहना है तो चलाते रहनेका प्रयत्न धर्म है. आप पढ़ें कि न पढ़ें पर खुले कान और आँख से कुछ तो इनर्फोमेशन् आपके दिमागमें डाउन्‌लोड् होती है. मगर जब आप प्रयत्नसे करते हैं तब वो आपका विद्यार्थीधर्म प्रकट होता है. मगर जब आप बिना प्रयत्नके कुछ भी जान लेते हैं तो वो धर्मके रूपमें प्रकट नहीं होता है. वो तो चालू खातामें प्रकट हो जाता है. मैं अपना एक उदाहरण दूँ. मैं कलकत्ता गया था. एक महीना रहा तो मैंनें सोचा कि यहाँ रहनेका इतना लाभ तो लेना चाहिये कि दुकानों पर जितने भी पाटिये हैं उन्हें पढ़ते रहो. थोड़े दिनमें मुझे बंगाली पढ़नी आ गयी. प्रयत्न किया तो आयी. प्रयत्न नहीं करता तो अक्षर तो दीख ही रहे थे मुझे. जो भी ज्ञान इच्छा प्रयत्न से प्रकट होना कर्म है उसमें प्रयत्न ही धर्म है. प्रयत्न नहीं करना अधर्म है. जैसे सेवा यदि कर्म है, भक्ति यदि कोई कर्म है तो भक्ति या सेवा का प्रयत्न करोगे तो धर्म है और यदि इनका प्रयत्न नहीं करोगे तो अधर्मी हो आप. ये बात मैं कर्मके लेवल पर कह रहा

हूँ. मेरी बात समझमें आ रही है न!

आप कह रहे हो कि हम भक्ति क्यों करें? भगवान् कृपा करेगा तो भक्ति हो जायगी, नहीं करेगा तो नहीं होगी. पर एक बात ध्यानसे समझो कि जो भी प्राणी पृथ्वी पर चल रहा है, मनमें निश्‍चित समझो कि वो गुरुत्वाकर्षणके बल पर चल रहा है. यदि गुरुत्वाकर्षण नहीं होता तो आप पृथ्वी पर चल ही नहीं सकते थे. पैर उठाते ही आप उड़ जाते. चल रहे हो आप पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणकी वजहसे, पर चलनेका प्रयत्न तो आपको करना पड़ेगा. अरे पृथ्वी पर आप पैदा हुए तो चलनेके लिए ही तो पैदा हुये हो या भैंसकी तरह पड़े रहनेके लिए? आजकल बोलचालकी भाषामें मनुष्यका पर्याय चर्षणी शब्द नहीं रहा है पर वैदिक कालमें मनुष्यके लिए एक निरंतर पर्याय प्रयुक्त हुआ है और वो है ‘देखने-चलनेवाला प्राणी.’ इसलिए वेदने पूरा एक सूक्त गाया है **‘‘चरैवेति चरैवेति कलि: शयानो भवति संजीहानस्तु द्वापर: उत्तिष्ठन् त्रैता भवति, कृतौ संपद्यते चरन्.’’**

मनुष्यका नाम देखने-चलनेवाला प्राणी दिया है. यदि मनुष्य देखने-चलनेका प्रयत्न कर रहा है तो उसने अपना प्राणी होनेका धर्म निभाया और पड़े रह गया तो बस पड़े रहो. एक बात ध्यानसे समझो. मैनें ट्रेडमिलपर व्यायाम किया. उस पर स्पष्ट लिखा था कि जो पचास वर्षसे ऊपर हो, उनको दस मिनटसे अधिक नहीं करना चाहिये. मुझे चलनेका बहुत शौक था और अपनी लाइफस्टाईल्में

बदलावके कारण बंद हो गया. मैनें एक ट्रेड्मिल् ले ली. उस पर मुझे दस-पंद्रह मिनट तो खिलवाड़ लगा. मैं डेढ़ घंटे तक उस पर चलता रहा. इससे क्या हुआ कि मेरे घुटनोंने काम करना बंद कर दिया. मुड़ने भी बंद हो गये. डॉक्टर्को दिखाया तो उसने कहा कि इसका केवल नीरिप्लेसमेन्ट ही ईलाज है. अब क्या करते. मैं तो बहुत डर गया पर मनमें निश्‍चय किया और पड़े-पड़े थोड़े पैर हिलाने शुरू किये. थोड़ा-थोड़ा चलना शुरू किया तो आज मैं कलीनासे पार्ला चल कर आता हूँ. जो घुटने मुड़ने बंद हो गये थे वो फिरसे मुड़ने चलने लग गये. **‘‘चरैवेति चरैवेति कलि: शयानो भवति संजीहानस्तु द्वापर: उत्तिष्ठन् त्रैता भवति, कृतौ संपद्यते चरन्’’** क्योंकि चलनेका प्रयत्न किया तो रोग पर भी काबू आ गया वरना रोग पर काबू नहीं आना था और नी-रिप्लेसमेंट् कराना ही पड़ता. अपनी अक्कलका भी कुछ ये ही हाल होता है. यदि न चलाओ और प्रसन्न मुद्रामें बैठे रहो तो वो भी काम करना बंद कर देती है. थोड़ी चलाओगे तो चलने लग जायगी. प्रसन्न मुद्रामें बैठने पर वो कभी नहीं चलेगी. ये एक अपने ऊपर प्रयोग करके देख लेना. कहीं भी कोई बात आप सुनो, उसे बैठे-बैठे प्रसन्न मुद्रामें न सुनकर थोड़ी अक्कल चला कर सुनोंगे तो थोड़ी अक्कल चलने लग जायगी.

हमारे एक परिचित भाईने बहुत मजेदार बात बताई. वो एक जगह गाना गाने गये. एक व्यक्ति सुननेवालोंमें बहुत प्रसन्न मुद्रामें गाना सुन रहा था. उन्हें लगा कि और तो

कोई शौकीन नहीं है शायद ये ही बहुत शौकीन है. उन्होनें दो-तीन और नये स्टाईल्से गाकर सुनाया पर उस व्यक्तिकी प्रसन्न मुद्रामें कोई अंतर नहीं आया. उन्हें लगा कि ये तो कोई महान शौकीन है जिसे जो मैं गाऊँ सब पसन्द आ रहा है. तो जब गाना पूरा हो गया तो उन्होंने उस व्यक्तिके पास जाकर पूछा कि ''कैसा लगा आपको?'' उसने हाथ हिलाकर समझाया कि वो बहरा है उसे कुछ सुनायी नहीं देता. जब सुनना ही नहीं है तो हँसकर क्यों नहीं समय व्यतीत करना! अक्कल यदि अपन चलायेंगे तो चलेगी, नहीं चलायेंगे तो नहीं चलेगी. ये तो मैं छोटी-छोटी बातें आपको दैनिक जीवनकी बता रहा हूँ पर चाहे वो धर्मकी विद्याकी धंधेकी बात हो, किसी भी बातमें अक्कल और शरीर चलाओगे तो वो चलेगा. नहीं चलाओगे तो धीरे-धीरे काठ खा जायगा. गाड़ी भी जब खड़ी रहती है तो उसे काठ खा जाता है और बाबा-आदमके जमानेकी रोल्स्-रोयस् जो चलती रहती है वो अभी भी चल रही है. कुछ क्रियाएँ जो चलनेके लिए ही पैदा हुयी है उनमें प्रयत्न ही धर्म है और अप्रयत्न अधर्म है. इस बातको ध्यानसे समझ लो. जिस बातको आप कर्मके लेवल पर करना चाहते हो उसमें आप ये छटक बारी मत खोजो कि हम प्रयत्न नहीं करेंगे. वो तो स्वत: हो जायगा. स्वत: कुछ नहीं होगा. महाप्रभुकी बहुत स्पष्ट आज्ञा है कि **''सर्वं भगवानेव करोति किन्तु भजनं विना न किञ्चित् करोति.''**(द्रष्ट.सुबो.३।३२।२२) सब कुछ भगवान्

करता है पर भजनके बिना वो कुछ भी नहीं करेगा. भजनका प्रयत्न आपको करना है और करेगा सबकुछ भगवान्. कर्मके लेवल् पर जो भी बात हमको करनी है उसमें प्रयत्न ही धर्म है.

(कर्ममें अर्थरूप = ज्ञान होता है)

अब इस कर्मका 'अर्थ' क्या है? ज्ञान कर्मका अर्थ है. क्योंकि क्या चीज़ आपको प्रयत्नमें मदद करेगी? जैसे आपको बाजारसे कोई चीज़ खरीदनी है, तो रुपया चुकाना पड़ेगा. ऐसे ही यदि प्रयत्न करना है तो कौनसी करेंसी आपको काम आयगी? आपकी जानकारी अथवा आपका उस क्रियाका ज्ञान. जितनी भी जानकारी उस क्रियाकी है उतना ही प्रयत्न आप अच्छेसे कर सकते हो. जितनी भी आप कम जानकारी वापरोगे उतना ही अर्थके बजाय अनर्थ होगा. कर्मके संदर्भमें ज्ञान ही अर्थ पुरुषार्थ है.

अपन बोलनेमें ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ऐसे क्रमसे बोलते हैं. पर कर्मके पुरुषार्थमें इसका क्रम विपरीत हो रहा है. पुरुषार्थमें इसका क्रम होता है धर्म-प्रयत्न है, अर्थ-ज्ञान है और काम-इच्छा है. कोई भी पुरुषार्थ जो आपको कर्मके लेवल पर करना है तो सबसे पहले आपके भीतर उसकी इच्छा होनी चाहिये. यदि इच्छा ही नहीं है तो ज्ञान भी आपको विपरीत ही होगा. और यदि ज्ञान विपरीत है तो प्रयत्न भी विपरीत होंगे. सबसे पहले हमारे भीतर एक इच्छा पनपनी चाहिये कि ये मेरा कर्म है, धर्म है कि मुझे ये करना है. तो 'करना है' ये इच्छा 'काम' है.

अब सब लोग कहते हैं कि काम खतरनाक बात है. सच ये बहुत खतरनाक बात है पर कुछ करना है तो कर्म करनेकी इच्छा खतरनाक नहीं है. क्योंकि कर्म करनेकी कामनाको यदि आपने खतरनाक माना तो आप कर्म ही नहीं करोगे, क्योंकि इच्छा ही नहीं है. 'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम, दास मलूका कह गये, सबके दाता राम.'

ऐसे आता है कि जंगलमेंसे एक रोज़ एक आदमी जा रहा था. उसने देखा कि शेरने शिकार किया और वो खा कर चला गया. जो बचा था वो भेड़ियेने खा लिया. उसने सोचा कि भगवान् कितने दयालु हैं कि जिसको शिकार करना नहीं आता है उसे भी खाना सप्लाय करते हैं. फिर व्यर्थमें अपनको क्यों प्रयत्न करना. बस वो तो भगवद्भजन करने बैठ गया कि अब खाना तो भगवान् देंगे ही. मेरा काम तो भगवद्भजन करना है. थोड़े दिनोंके बाद वो भूखा मरने लगा और प्राण पर बन आयी. तो भगवान्ने प्रकट होकर कहा कि दोनों उदाहरण तेरे सामने थे. शेरका भी और भेड़ियेका भी. तूने भेड़िया होनेकी इच्छा क्यों की? शेर होनेकी क्यों नहीं की. कर्ममें खराब इच्छा होना काम पुरुषार्थके बजाय अपुरुषार्थ हो जाता है. अच्छी इच्छा करना वो कर्मका काम पुरुषार्थ है. किसीका भी उदाहरण मान सकते हैं, भेड़ियेका भी. यदि सबको भगवान् दे रहे हैं तो फिर मुझे क्यों पुरुषार्थ करना? यदि तुझे खाना है तो अपना शिकार तू कर. शेरका उदाहरण देख कि उसने

कितनी दौड़ धूप करके अपना शिकार किया है! पर अपन गलत ही अर्थ लेते हैं क्योंकि अपन मूलमें ऐदी होते हैं इसलिए हमको भेड़ियेवाला अर्थ अधिक अच्छा लगता है. ''अरे! तेने ऐसी गलत इच्छा की ही क्यों कि भगवान् सबको देता है. तूने शेरका उदाहरण क्यों नहीं अपनाया!'' कर्मका जहाँ सिद्धांत आता है वहाँ इच्छा ही काम पुरुषार्थ है. कौनसी इच्छा? कर्म करनेकी इच्छा. इसीलिए शास्त्रने स्पष्ट एक बात कही है कि कामना न अच्छी होती है न बुरी होती है. कामना किस विषयकी है उससे कोई कामना अच्छी या बुरी होती है. ऐसे सोचना कि मैं कोई कामना नहीं करूँगा, ये भी तो एक कामना है कि नहीं है? वीतराग होनेकी कामना भी तो एक कामना है कि नहीं? कामनासे बाहर तो आप निकल ही नहीं सकते. ''**सागरस्य नान्तोस्ति न च कामानाम्**'' कामनाका कोई अंत नहीं है. यदि आप कामनाके विरुद्ध कोई कामना कर रहे हो तो कामनाके जालमें तो आप फँस ही गये न! तो आपको निर्णय क्या लेना है कि यदि कामनासे मेरा छुटकारा नहीं है तो मुझे इतना विवेक होना चाहिये कि मुझे किस वस्तुकी कामना करनी है और किस वस्तुकी कामना नहीं करनी है. जैसे हम किसी कर्मकी कामना करते हैं उसमें अर्थ तरीके अपना ज्ञान अपने उपयोगमें लेते हैं और कामना करें किसी और वस्तुकी.

अभी मैनें एक बहुत मजेदार बात पढ़ी. एक विद्यार्थीने परीक्षामें पास होनेके लिए सोचा कि पढ़नेके बजाय यदिमें

भगवान्को प्रसन्न करूँ तो शायद अच्छे नम्बर आयें. तो भगवान्का जप करने बैठ गया कि ''पास करो, पास करो'' अब भगवान् प्रसन्न होकर उसके सामने प्रकट हो गये और पूछा किसमें पास होना है बता. तब वो विद्यार्थी बोला कि ''भगवान् आपने तो हमारे साथ दगा कर दिया.'' भगवान् बोले ''तेरे सामने प्रकट तो हो गया अब दगा कहाँ!'' वो बोला ''हमने तो सुना था कि भगवान् प्रकट होनेसे पहले जप-तप भंग करनेके लिए अप्सराएं भेजते हैं. आप पहले क्यों प्रकट हो गये.'' अरे 'पास करो'का जप कर रहा है और कामना अप्सराकी कर रहा है! अब भगवान् कहाँ जाय. तो कर्म ऐसे नहीं होता है. जो भी कर्म आपको करना है उसकी कामना शुद्ध रखो, उसके हिसाबसे उसका ज्ञान शुद्ध करो और फिर प्रयत्न करोगे तो ही कर्मपुरुषार्थ सिद्ध होता है अन्यथा कर्मपुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता.

(कर्ममें तुष्टि या असन्तुष्टि मुक्ति या बन्धन रूप होते है)

मुक्ति और बंधन क्या है? जब आपने सच्ची कामनासे, सच्चे ज्ञानसे सच्चा प्रयत्न किया तो उससे आपको जो तुष्टि मिलती है वो ही कर्ममें आपकी मुक्ति है. इसीलिए महाप्रभु वल्लभाचार्य एक बहुत अच्छी बात कहते हैं कि **''कर्मका फल कुछ लोग स्वर्ग मानते हैं पर स्वर्ग तो गौण फल है, सच्चा कर्मका फल है आत्मसुख.''** अच्छा कर्म करनेसे एक सेल्फ-सेटिस्फेक्शन् होता है कि मैनें अच्छा कर्म किया है. अच्छी सोचसे, अच्छे प्रयत्नसे अच्छा काम

किया है. आत्मसुख कर्मकी मुक्ति है. आत्मामें अपनको गिल्टी फील् होता रहे कि ''ये काम गलत हो गया, ऐसा नहीं होना चाहिये था.'' आत्मदु:ख है, वो ही नरक है. आत्माकी अतुष्टि नरककी यातना है. क्योंकि करनेको तो हम कुछ भी कर देते हैं पर फिर अपनी आत्मा अपनको कोसती है कि यार गलती हो गयी. **''यन्न दु:खेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम्, अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्व: पदास्पदम्''** (त.दी.नि.२।५) मैंने कोई गलत काम नहीं किया, मैनें जो किया वो बिना सोच कर नहीं किया. मैनें कोई सट्टा नहीं खेला है, व्यापार किया है अब चाहे लाभ हो या अलाभ हो. वो जो आत्मसंतुष्टि है वो ही मुक्ति है. **''सुख-दु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयो ततो युद्धाय युजस्य नैवं पापम् अवाप्स्यसि''** (भग.गीता. २।३८) भगवान् कर्मके संदर्भमें कह रहे हैं. हमारे दिलमें एक संतोष होगा कि मैनें कोई गलत काम नहीं किया, किसी गलत समझसे नहीं किया, किसी गलत इच्छासे नहीं किया. अब वो सफल हो या विफल पर आत्मसुख तो मिलेगा, मिलेगा और मिलेगा. तो कर्मके हिसाबसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष का समायोजन इस तरहसे होता है. ये हम यहाँ समझ सकते हैं.

('व्यवहार' = इतरजनको [१]कर्म [२]करण [३]संप्रदाना [४]अधिकरणको बनाकर किया जाता कर्म)

इसके बाद आता है व्यवहार. जैसा पहले भी मैनें आपको बताया था कि कर्म व्यवहार कब बनता है उसकी

बारीकी समझो कि कर्ममें जब हम किसी दूसरेको उद्देश्य करके कोई कर्म कर रहे हैं, दूसरेको साधन बनाकर कोई कर्म कर रहे हैं, दूसरेके लिए कोई कर्म कर रहे हैं या दूसरेके आधार पर कोई कर्म कर रहे हैं तो संस्कृत भाषामें इसको कर्म नहीं कहकर 'व्यवहार' कहा जाता है क्योंकि आप किसी दूसरेको अपना कारण बना रहे हो. जैसे ध्यानसे समझो. मैं अपने पुष्टिमार्गकी बात बताऊँ. मुझे गुरु पद भोगना है. अब ये गुरुपद भोगना एक १कर्म है. गुरुपद भोगनेके लिए मुझे एक शिष्यकी अपेक्षा है तो मैं शिष्य चुनूँगा. जब मैनें अपने गुरुपद रूपी कर्मको भोगनेके लिए आपको शिष्यरूपमें इनवोल्व् किया तो ये कर्म, कर्म न रहकर व्यवहार हो गया. मुझे गुरुपद भोगना है और उपदेश देनेके लिए मैनें २साऊंड सिस्टमवालेको बुलाया और कहा कि श्रोता अधिक हैं. मेरी आवाज अंत तक पहुँचनी चाहिये. साऊंड सिस्टमवाले आये वो मेरे करण है. ये उपदेश मैं किनके लिए देना चाह रहा हूँ? जो लोग समझना चाहते ही नहीं है उनको मैं भी समझाना नहीं चाहता हूँ. पर जो लोग सममुचमें संप्रदायके सिद्धान्त समझना चाहते हैं, वो इस सिद्धान्तसे वंचित न रह जाय, उनको मैं अपने उपदेशका ३संप्रदान मान रहा हूँ. जो समझना चाहते हैं वो तो वंचित न रह जाय. कई ऐसे भी होंगे कि समझना नहीं चाहते हैं. आकर प्रसन्न मुद्रामें बैठे हुये हैं.

मैं पूछूं कि क्या सुना तो हाथ दिला देंगे. ठीक है,

आनंदकी बात है, उसमें दुःखी होनेकी बात क्या है? व्यवहारमें तो ऐसा ही होता है न! ऐसी एक कहावत है कि बारातमें बाराती गाने-नाचनेमें मस्त होते हैं. उन्हें शादीसे कुछ भी लेना देना नहीं होता क्योंकि ऐसे नाचनेका मौका कहाँ मिलता है! वो सारी भड़ास अपनी वहाँ निकाल लेते हैं. उनका प्रमुख काम नाचना है. पर वरराजाको उतनी देर घोड़े पर तपस्या करनी पड़ती है. जितनी देर नाच चलता है, वो बिचारा इंतजार करता है कि कब ये नाच पूरा हो और कब मैं अपनी वधूके पास पहुँचूं. उसका कोई और ही उद्देश्य है. मैनें एक बारातमें और भी मजेदार दृश्य देखा कि बारातमें घोड़ी भी नाच रही थी. वहाँ वरराजाके चेहराके भयभीत भाव देखने लायक थे! सबके उद्देश्य अलग-अलग है न!

हमारे एक मित्र थे. उन्होनें केवल इसीलिए एक सूट सिलवाया था. कहीं भी विवाहका मंडप देख लें तो तुरंत वहाँ बिंदास चले जाते. वरवधूसे हाथ मिलाते. वधूपक्षवाले समझते कि वरपक्षका होगा. वरपक्षवाले समझते कि वधूपक्षका होगा. कोई न कोई खाना-खाने बिठा ही देता. आकर मुझसे कहते कि आज मजा आ गया, बहुत अच्छी रसोई थी. सचमें उसकी हिम्मतकी दाद देनी चाहिये. दिन दहाड़े मंडपमें घुस जाता और वर-वधूको शुभकामना ओर दे देता. अपना खर्चा कुछ भी नहीं. केवल एक सूट सिला रखा था जिसे पहन कर घुस जाता था. आदमी कैसे-कैसे अधिकरण बना-बनाकर कैसे-कैसे व्यवहार करता

है ये हम समझ सकते हैं. अपन समझते हैं कि वो वर-वधूको शुभकामना दे रहा है पर वो क्रिया वर-वधूको शुभकामना देनेके हेतुसे नहीं है बल्कि उस व्यवहारमें वहाँ कुछ और ही ४अधिकरण प्रकट हो रहा है.

(व्यवहारमें सामुदायिक हानिलाभविवेकके आधारपर किया गया कर्म इससे अन्यको अपने अनुकूल बनाना धर्म है)

व्यवहारकी कुछ अपनी मर्यादाएँ हैं. क्योंकि अकेला आदमी कोई व्यवहार नहीं कर सकता. व्यवहार होता है तो वो किसीके बारेमें, किसीको साधन बनाकर, किसीके लिए, किसीके बलबूते पर होता है. व्यवहारमें धर्म अर्थ काम मोक्ष पुरुषार्थ कब प्रकट होगा? यदि जिसका आप उपयोग कर रहे हो उसे कम्पेल् मत करो. उसे कन्विन्स् करो कि ये व्यवहार मुझे करना है तू इसमें कर्म बननेको तैयार है कि नहीं? यदि वो कर्म बननेको तैयार है और वो आपके इस व्यवहारको मान रहा है तो वो आपका व्यवहारमें धर्म हुआ. यदि आप कन्विन्स् नहीं कर पाते हो और कम्पेल् कर रहे हो तो अधर्म है.

एक साधारण उदाहरणसे आप समझो कि जब इमरजेंसी लागू हुयी थी तो सबको ख्याल होगा कि सब अफसरोंको कोटा दिया था कि सबके परिवारनियोजनके ऑपरेशन् करके नसबंदी कर दो. अब गिरिराजजीमें जो साधु परिक्रमा कर रहे थे, उन सबको भी पकड़-पकड़ कर ऑपरेशन् कर दिया. बिचारे साधुओंने कहा भी कि हम गृहस्थ नहीं है हमारा ऑपरेशन् क्यों कर रहे हो! अफसरोंने कहा कि

“नहीं, सरकारका आदेश है.” अब वो कन्विन्स् तो हुये नहीं कि हमें ऑपरेशन् करवाना है और आपने व्यवहार प्रकट कर दिया. सारी जनतामें कितना रोष फैल गया! जामा मस्जिदमें भी झगड़ेका मूल कारण यह ही था. नसबंधी ओपरेशन करना कोई बुरी बात नहीं थी, बहुत अच्छी थी. पर सामनेवाला कन्विन्स्ड् है कि कम्पेल्ड् है? यदि वो कम्पेल्ड् है तो आपका व्यवहार धर्म नहीं है अधर्म है. और यदि कन्विस्ड् है तो आपका व्यवहार धर्म है.

किसीका कुत्ता बीमार हो गया था. डॉक्टर्ने उसको दवाई दी. कुत्तेके मालिकने कुत्तेको मुँह खोलकर चम्मचसे दवाई पिलानेका प्रयास किया पर कुत्तेने मुँह ही नहीं खोला दवाईके लिए. डॉक्टर्ने कहा कि दवाई दिये बिना कुत्तेकी तबियत ठीक नहीं होगी. उस व्यक्तिने और प्रयास किया पर कुत्तेने मुँह नहीं खोला. आखिर इस प्रयासमें वो दवाईकी शीशी जमीन पर गिर गयी और दवाई जमीन पर बिखर गयी. कुत्ता वो सारी दवाई चाट गया. तब उसे पता चला कि कुत्ता इस बात पर नहीं झगड़ रहा था कि उसे दवाई नहीं खानी है. वो इस बातसे नाराज था कि उसे चमचेसे क्यों दवाई खिलाई जा रही थी. तो देखो कम्पल्शन् और कन्विन्सिंग में ही धर्म और अधर्म का भेद रहा है. बहुत बारीक रेखा है. एक बात जब आप कम्पल्शन्से करते हो तो वो अधर्मका रूप ले लेती है और वो ही बात जब आप कन्विस् करके करते हो तो

वो धर्म बन जाती है. क्योंकि सामनेवाला समझ रहा है कि इस व्यवहारमें मुझे भी कर्मके रूपमें शामिल होना है. किसीको जबरदस्ती जोत दो कर्ममें, तो अंतमें वो आपके व्यवहारको अर्थसे अनर्थ बना देगा. व्यवहारमें दूसरेको अपने अनुकूल करना धर्म है.

(व्यवहारमें स्वपरका अवलंबन अर्थरूप होता है)

व्यवहारमें किसी एकका ही दूसरेपर निर्भर होनेमें अनर्थका भाव जगता पर जब आप मुझ पर निर्भर हैं और मैं आप पर निर्भर हूँ, इस प्रकारके भावको व्यवहारका 'अर्थ' कहा जाता है. सारे व्यवहारका उद्देश्य केवल यही है कि मनुष्य एक सामाजिक पशु है, वो परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हो. कोई एक व्यक्ति ऐसे सोचे कि सब मुझ पर निर्भर हों तो यदि आपके हाथमें डंडा हो तो हो जायेंगे निर्भर, पर अंतमें वो लोग आपका डंडा चुराकर आपको मारेंगे.

अभी तिरुपति बालाजीमें एक बहुत मजेदार घटना हुयी. एक बाबाजी अपने पैरसे लोगोंके रोग ठीक करते थे. बहुत जनताकी भीड़ इकट्ठी हो गयी कि चरणस्पर्श करो, रोग ठीक हो जायेंगे. एक भक्त आया और उनके पैर ही काटकर ले गया. पुलिसने पूछा कौन काटकर ले गया? उन्होनें कहा ''पता ही नहीं चला भीड़में कि कौन काटकर ले भागा!'' चरणमें यदि इतना माहात्म्य है कि रोग ठीक होता है और आप व्यवहार कर रहे हो चरणस्पर्श करा कराकर रोग ठीक करनेका, तो वो चरण आपके पास क्यों

होना चाहिये. वो तो मेरे पास होना चाहिये. इतने सधे हाथसे वो पैर काटकर ले गया कि जब तक वो समझें कि क्या हुआ तब तक तो वो पैर काटनेवाला रफूचक्कर हो गया वहाँसे. कहनेका मेरा अर्थ क्या है कि व्यवहारमें स्वपरावलंबितता होनी चाहिये. एकावलंबितता व्यवहारमें अनर्थ पैदा करती है. आप मुझ पर निर्भर है, मैं आप पर निर्भर हूँ. तब व्यवहारमें अर्थ पुरुषार्थ सिद्ध होगा वरना तो अनर्थ होगा, होगा और होगा ही. इस बातको समझ लो.

(व्यवहारमें स्वार्थ और परार्थ को साधना कामरूप होता है)

व्यवहारमें 'काम' क्या होता है? देखो अपन देखते आये हैं कि **''काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः महाशनो महापाप्मा विद्धि एनम् इह वैरिणम्''** (भग.गीता.३।३७) किस अर्थमें काम दोषरूप है और व्यवहारके किस पहलूमें काम दोषरूप होकर भी निर्दोष होता है वो मैं आपको समझाना चाह रहा हूँ कि **''स्वपरार्थसाधन कामरूप''** व्यवहारमें काम कब प्रकट करना पड़ता है? घोड़ा आपकी गाड़ीमें जुतना नहीं चाहता. आप हंटर् मार कर उसे गाड़ीमें जोत रहे हो. साइकोलोजिस्ट् ऐसा कहते हैं कि घोड़ेको ऐसे सपने अवश्य आते होंगे कि चलानेवालेको वो हंटर् मारकर दौड़ा रहा है. मगर यदि घोड़ेको ये अहसास हो जाय कि ''नहीं! घास मुझे मिलती है, रथ इसका हंकता है और घास खानेके लिए मैं इस पर निर्भर हूँ और दूर जानेके लिए ये मुझ पर निर्भर है.'' ऐसे एक-दूसरेकी इच्छाएं पूरी हो रही है, ये अहसास दोनोंको हो जाय तो व्यवहारमें वो 'काम-

पुरुषार्थ' कहलाता है. सारे दंपत्तियोंके, माता-पिताके, भाईयोंके, कलहका मूल ये है कि हम अपनी इच्छाका पौवा बैठाना चाहते हैं पर दूसरेकी इच्छा क्या है, इस पर ध्यान नहीं देते. फिर कहीं न कहीं जाकर घनिष्ठसे घनिष्ठ संबंध वहाँ टूट जाते हैं. जब कभी भी ये अहसास हमको होता है कि हमारी तो कोई इच्छा पूर्ण हो ही नहीं रही है. हम पर अवलंबित केवल इसकी इच्छा पूर्ण हो रही है तो व्यवहारमें वो काम पुरुषार्थ नंगा हो जाता है. साइक्लोजिस्ट् इस बातको कहते हैं कि पत्नी रसोई बनाती है और पति ऑफिस् जानेकी धांधलमें ये कहना भी भूल जाता है कि रसोई अच्छी बनी है. वो तो भूल जाता है, पर पत्नीके हृदयमें वो गांठ बन जाती है. एक छोटासा ही तो काम है ये कहना कि ''अच्छी बनी है, खानेमें मजा आया.'' इस छोटीसी बातसे पत्नीको ये लगता है कि इनको अच्छा खानेके लिए मुझ पर निर्भर रहना है. और अच्छा खिलानेके लिए मुझे इन पर निर्भर रहना है. परस्पर एक-दूसरेके प्रति जब संतोष प्रकट होता है तो व्यवहारमें काम पुरुषार्थ प्रकट होता है. इस काममें कोई दोष नहीं है.

भगवान् स्वयं गीतामें आज्ञा करते हैं कि **''देवान् भावयता अनेन ते देवा: भावयन्तु व: परस्परं भावयन्तो श्रेय: परम् अवाप्स्यथ''** (भग.गीता.३।११) परस्पर एक-दूसरेके कामकी पूर्ति करो. जबरदस्ती एक-दूसरेके ऊपर काम मत लादो. अपने कामको दूसरे पर लादना, भगवान् कहते हैं

कि आसुरीभाव है, दैवीभाव नहीं है. व्यवहारमें जब काम पुरुषार्थ बनता है तो उसी शर्त पर बनता है कि परस्पर कामपूरक हो तभी वो काम पुरुषार्थ बनता है. पर जब वो एकके ही कामका पूरक हो तो वो व्यवहारमें आपका काम पुरुषार्थ भंग हो गया. ये एक सिस्टम यदि शास्त्रोंमें आप देखेंगे तो एक तरहसे नहीं, कई तरहसे वर्णित हुआ है. अपने पास समय कम है नहीं तो मैं विस्तारसे आपको समझा सकता हूँ. व्यवहारमें कामपुरुषार्थका स्वरूप इसी तरहसे निहित है कि परस्पर कामपूरकता होनी चाहिये. चाहे वो जानवर और इन्सान के बीच हो, मनुष्य और मनुष्य के बीच हो या परिवारके दो सदस्योंके बीचमें हो या भगवान् और भक्त के बीचमें हो. भगवान्का ध्यान हम रखें, भगवान् हमारा ध्यान रखे. वेद तो इस बातको कितनी अच्छी तरह कहता है **''भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति''** (चित्यु.७।१) यहां परस्पर कामपूरकताकी बात है. भगवान् आपका भर्ता है पर वो आपसे ये अपेक्षा रखता है कि आप भी तो उसके भर्ता बनो. आप उसका भरण करो, वो आपका भरण करेगा. परस्पर भरण करोगे तब तो बात बन जायगी. आप एक तरफा बात जब करते हो न कि भगवान्! हमारा धंधा चलवा दे. लाख रूपयेके फायदे पर पाँच हजार रूपया तुझे चढ़ा दूँगा. तो क्या भगवान् बेवकूफ है जो घाटेका सौदा करेगा! वो ये क्यों नहीं कहेगा कि ''पाँच हजार तू रख और पिच्चानवें हजार मुझे दे.'' अब यदि वो इतना बेवकूफ है तो उसे भजनेकी

जरूरत क्या है कि पाँच हजार रखकर वो आपको पिच्चानवें हजार दे रहा है. अरे भगवान् बेवकूफ नहीं है पर हम भगवान्के साथ इकतरफा व्यवहार चलाते हैं. क्या आप ऐसा करेंगे? व्यवहार ऐसे नहीं होता है. दान कर सकते हो आप, पर व्यवहारमें तो बात साफ-सुथरी रहनी चाहिये कि या तो पचास प्रतिशतका शेयर् दो, यदि भगवान्से काम करवाना चाहते हो तो. नहीं तो अपने काम करनेकी शक्तिके हिसाबसे अनुपात नक्की करो. पर मनुष्य बहुत चतुर है. वो कहता है कि ''भगवान्! आपको तो आशीर्वाद देनेसे ही काम चल जायगा पर मुझे तो बहुत दौड़ा-दौड़ करनी पड़ेगी. आपके आशीर्वादके पाँच हजार और मेरी मेहनतके पिच्चानवें हजार.'' हम भगवान्को भी बेवकूफ बनाते रहते हैं. भगवान्के साथ व्यवहार करना बुरी बात नहीं है. शास्त्र भी कहता है कि भगवान्के साथ व्यवहार किया जाता है. **''देवान् भावयता अनेन ते देवा: भावयन्तु व:''** पर शास्त्र स्पष्ट कहता है कि **''परस्परं भावयन्त: श्रेय: परम् अवाप्स्यथ''** जब तुम परस्पर भावन करोगे तो ही तुमको मुक्ति मिलेगी. नहीं तो तुम्हारा श्रेयके बजाय अश्रेय हो जायगा. व्यवहारमें धर्मार्थकाममोक्षकी मर्यादा और समायोजन इस प्रकारसे होता है.

(व्यवहारमें स्वतुष्टि और परतुष्टि ही मुक्तिरूप होती है)

व्यवहारके मोक्षमें कोई भी पार्टी असंतुष्ट नहीं रहनी चाहिये. परस्पर अवलंबनसे जो व्यवहार प्रकट हुआ है उसमें दोनों पक्षोंकी संतुष्टि ही दोनोंकी मुक्ति है. यदि

दोनोंमेंसे एक भी पक्ष असंतुष्ट है तो बंधन फिरसे शुरू हो गया. ये बात समझनी चाहिये.

(नीतिमें स्वीयव्यष्टि या समुदायके जो प्रतिकूल जाता हो ऐसा अन्यव्यष्टि या अन्यसमुदायके बारेमें आचरण नहीं करना चाहिये है)

व्यवहारके बाद अब 'नीति' माने नियम आते हैं. इसमें धर्म अर्थ काम मोक्ष का समायोजन कैसे होता है? ये देखो. नियम जितने हैं उनमें निकष है कि व्यवहारमें उलझी हुए जो दो पक्ष है, सिर्फ उन्हींकी बात नहीं होती है बल्कि वो दो पक्ष जिस समाज या समुदाय के हिस्से हैं, उस पूरे समुदायके हित और अहित का विचार उसमें होता है. ख़लीफाकी जीवनीका बहुत अच्छा और प्रेरक प्रसंग है कि ख़लीफाके पास बहुत अच्छा एक घोड़ा था. किसीने उनसे माँगा. ख़लीफाने कहा कि ''ये घोड़ा मुझे बहुत प्रिय है. मैं तुमको दे नहीं सकता.'' उस आदमीने एक बदमाशी की कि उसने अपाहिज बनकर शामको झूठमुठमें रास्ते पर बैठ गया. ख़लीफा जब वहाँसे गुज़र रहे थे तो उसने कहा कि ''सांझ हो गयी है, रात होनेवाली है, मैं अपाहिज हूं तो मेरी मदद करो. ख़लीफाको दया आयी. उन्होनें उसे घोड़े पर बैठा दिया. बैठते ही उसने घोड़ेको एड़ लगायी और दौड़ा दिया. ख़लीफा उसके पीछे दौड़े. उसने कहा कि ''भूल जाओ, अब ये घोड़ा तुम्हारा नहीं रहा.'' ख़लीफाने एक बहुत अच्छी बात कही कि ''मैं ये तो तभी भूल गया था जब मैनें तुझे घोड़े पर बिठाया. अब मैं ये नहीं कह रहा हूँ कि ये घोड़ा मेरा है, पर तुझको

ये बतानेके लिए भाग रहा हूँ कि तू ये बात किसीको बताना नहीं, नहीं तो लोग अपाहिजोंकी मदद करना बंद कर देंगे. मैं तो ये बात छुपा लूँगा पर तू अगर किसीको ये बतायेगा तो लोगोंका अपाहिजों परसे विश्वास उठ जायगा. उससे समुदायका अहित हो जायगा.'' ख़लीफा उसके लिए पीछे दौड़ रहा है. इकतरफा हानि लाभ है वो व्यवहारमें जायज़ है, नीतिमें जायज़ नहीं है. पर नीतिका लेवल दो पक्षोंका ही विचार करके नहीं है, पूरे समुदायका विचार उसमें किया जाता है कि इस तरहके व्यवहारसे कैसा उदाहरण प्रस्तुत होगा! नीति वहाँसे प्रकट होती है. इसीलिये नीतिका धर्म अर्थ काम मोक्ष, व्यावहारिक धर्म अर्थ काम मोक्ष से थोड़ा अलग होता है.

मैं एक विवाहमें गया. वहाँ लड़कीवालोंने बहुत सारा दहेज दिया. लड़केवाले बहुत नाराज़ हो गये कि ''ले जाओ ये सब! आपको होश नहीं है कि जमाना कितना आगे बढ़ गया है. आप दहेज देकर दुनियाके लोगोंकी आदत बिगाड़ते हो.'' मुझे उन पर अटूट श्रद्धा हो गयी कि क्या अद्‌भुत व्यक्ति है. दहेज भी नहीं ले रहा है और लड़का भी ब्याह रहा है. थोड़े दिन बाद एक चर्चामें मैं उनकी बात कर रहा था कि बहुत ही आदर्श व्यक्ति हैं. एक भाईने पूछा कि ''किसकी बात कर रहे हो?'' मैनें उनका नाम बताया. उन्होनें कहा कि मुझे ही तो उन्होनें फटकारा था. मैनें कहा ''ओह! आप ही थे क्या उनके समधी?'' उन्होनें कहा कि ''जी हाँ मैं ही था. पर उन्होनें

मुझे इसलिए फटकारा था कि समाज न देखे कि वो दहेज ले रहे हैं. बादमें उन्होनें कहा कि दहेज पीछेसे भिजवा देना.'' देखो अब ये अनीति हो गयी. दहेज तो उनको चाहिये था पर वहाँ उनको अपना उदाहरण प्रस्तुत करनेमें रुचि थी. अब वो लड़कीवाला गरीब क्या करे? उसे तो सबके सामने फटकार भी खानी पड़ी और पीछेसे दहेज भी देना पड़ा. अब बताओ कि ये नीति है कि अनीति? व्यवहार तो पक्का है न! दहेजका जो व्यवहार है वो तो करना ही है.

(आत्मन: प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् सूत्र धर्मरूप होता है)

मगर नीतिके लेवल् पर वो व्यवहारमें सच्चा होनेपर भी वो ही बात अनीति हो गयी. एक बात ध्यानसे समझो कि उस लड़केवालेने भी लड़कीवालोंसे ये नहीं कहा था कि जो तुम दे रहे हो उससे अधिक मुझे चाहिये. पर सिर्फ इतना ही कहा कि सबके सामने मत दो ताकि मेरी छबि समाजमें खराब हो. मुख्य बात अपनी छबि बनाना है. मुख्य बात उस व्यवहारके लेवलसे ऊपर उठनेकी नहीं है, अपनी छबि बनानेके लिए दूसरेकी छबि बिगाड़ना ये अनीति है. अपनी छबि बनानेके लिए जब तुम दूसरेकी छबि बिगाड़ रहे हो तो वो अनीति है. व्यवहारके लेवल् पर कन्याका पिता यदि दहेज देता है और लड़केवाला ले रहा है तो वो तो ऐसा चल ही रहा है. मांगा तो उसने भी नहीं था. ये उसके पक्षमें बात है पर उसी व्यवहारको

समाजमें एक्सप्लोइट् करके अपनी छबि तुमने बनायी और दूसरेकी छबि बिगाडी ये अनीति है. तो समझो कि नीति एक अलग चीज़ है और व्यवहार अलग. जो व्यवहारमें सच भी है वो नीतिमें गलत हो सकता है. इसलिए सारे समुदायके अहितका आचरण न करना, नीतिमें धर्म है.

व्यवहारमें दो पक्षोंका हित यदि हो रहा है तो इसमें कोई बुराई नहीं है पर यदि सारे समुदायका उससे अहित होता है तो वो अधर्म हो गया, धर्म नहीं रहा. आप ऐसा कोई भी व्यवहार करो कि जिसमें सारे समुदायका अहित न हो, तो वो नीतिमार्गीय धर्म है. क्योंकि अपने व्यवहारसे उपर उठनेकी अवेयरनेस् आदमीमें कब आती है? कोई एक आदमी ले रहा है, कोई दे रहा है, वो तो लेन-देनका व्यवहार है. मगर लेन-देनका व्यवहार जिस समुदायकी सिस्टम्में चल रहा है और उस समुदायकी सिस्टमको हानि पहुँचानेवाला व्यवहार अनीति बन जाता है. आपका व्यवहार बिल्कुल साफ है मगर वो ही व्यवहार जब समुदायका अहित कर रहा है तो वो अनीति है. इसलिए अपने आपको समुदायका अंग मानना नीतिमें अर्थ है. नीतिका मुख्य उद्देश्य ये है कि व्यक्ति अपने आपको एक व्यक्तिके रूपमें ही न गिने अपितु ये माने कि किसी समुदायका मैं एक अंग हूँ. हमको ये बात कैसे समझमें आयगी वो समझो. यदि हमारा हाथ ये सोचे कि पेटको भूख लगी है तो उसे भरनेके लिये मैं क्यों इतना परिश्रम करूँ? उसकी भूख मिटानेके लिए मैं उठकर मुँहमें रोटी क्यों डालूँ? तो

इसका अर्थ क्या हुआ कि इस समुदायरूपी शरीरका हित हाथने नहीं विचारा. फिर पेट भी तो ये विचार कर सकता है कि हाथने मुझे क्या लाभ पहुँचाया, जिसके लिए हाथको मैं खून भिजवाऊँ. मरने दो हाथको. मैं अन्य सभी अंगोंको खून भेजूँगा पर हाथको नहीं भेजूँगा. तो हाथको लकुआ हो जायगा.

(अपने स्वार्थपर संयम नीतिमार्गीय अर्थ है)

जब समुदायमें इस प्रकारकी छीना-झपटी शुरू हो जाती है तो वो व्यवहारमें उचित होनेके बाद भी समुदायमें अनीतिके कारण एक अनर्थ उत्पन्न करती है. इसलिए व्यवहारसे उठकर जब नीतिका प्रश्न आता है तो अर्थमें हमको हर वक्त समझना चाहिये कि हर व्यक्ति किसी समुदायका अंग है. जैसे मैं एक बात निरंतर कह रहा हूँ कि आप वैष्णव हैं और हम महाराज हैं, ये बात तो ठीक है. हममें कोई भी व्यवहार हो सकता है. पर हमको कभी भी ये बात नहीं भूलनी चाहिये कि हम एक संप्रदायके अंग हैं. संप्रदायके अहितमें जो बात है वो हमारे लिए अच्छी भी हो, तो भी वो हमको नहीं करनी चाहिये. आपका और मेरा लाभ हो सकता है पर संप्रदायका जिससे अहित हो रहा है तो वो अनर्थ है, अर्थपुरुषार्थ नहीं होता. समुदायका अंग होना अर्थ है.

(दूसरे भी स्वप्रतिकूल आचरण नहीं करे ऐसी आकांक्षा काम है)

नीतिमें काम पुरुषार्थ क्या है? देखो, कामका रूप कुछ

अलग है. नीति निष्काम है ऐसा मत सोचना. नीति भी सकाम होती है. पर नीतिका काम बहुत ग्लोरीफाईड् काम है. यदि हम समुदायका रक्षण करेंगे तो समुदाय हमारा रक्षण करेगा. ''**धर्मो रक्षति रक्षित:**'' ऐसे ''**समुदायो रक्षति रक्षित:**'' समुदायका आप रक्षण नहीं करोगे तो समुदाय आपका रक्षण कैसे करेगा! हम हिन्दुस्तानीयोंकी खास आदत है कि हम घर साफ रखकर कचरा सामने गलीमें फेंकते हैं और गलतीसे किसी पड़ौसीने देख लिया कि कचरा यहाँ फिका हुआ है तो सारे लोग अपना कचरा वहाँ फेंकने लग जाते हैं.

हमारे बम्बईमें ऐसे ही हुआ. एक घरके आगे किसीने कचरा फेंक दिया. लोगोंने कहा कि ''अच्छा यहाँ कचरा फेंकते हैं.'' तो उन्होंने अपना कचरा भी वहाँ डाल दिया. अंतमें गलीके सभी लोगोंने अपना कचरा वहाँ डालना शुरू कर दिया. जिस घरके आगे वो कचरा डल रहा था उस बेचारेने पूछा कि यहाँ कचरा क्यों डाल रहे हो? तो लोगोंने कहा कि यहाँ ही तो कचरा डलता है. उस बेचारेने कितनी बार मना किया पर किसीने कचरा डालना वहाँ बंद नहीं किया. अंतमें वो बेचारा एक दिन मेरे पास आकर अपना दु:ख कहने लगा. मैनें कहा कि तुम चुपचाप एक रातको ये कचरा दूसरेके घरके आगे रख आओ. उसने ऐसा ही किया तो दूसरे दिनसे कचरा उस घरके आगे रखा जाने लगा. आदमीको अपन कहते हैं कि अक्कल है पर उसमें भेड़से ज्यादा अक्कल नहीं है.

आपको एक और मजेदार बात बताऊँ. हम एक बार बम्बईसे किशनगढ़ जा रहे थे. तो हमारी बाजूवाली बर्थ पर एक भाई बैठकर कुछ खा रहे थे. वो खाकर छिलके वहीं ट्रेनमें थूक दे रहे थे. थोड़ी देरमें सारे डब्बेके फर्शपर थू थू करके छिलकोंसे भर दिया. मैनें कहा ''भाई साहब, थूकनेके लिए बारी है, आप इसमेंसे क्यों नहीं बाहर थूक देते.'' वो बोले ''ट्रेन् किसके बापकी है?'' मैनें कहा ''मेरे बापकी तो नहीं है पर आपके बापकी है तो थूकनेके लिए है क्या? आपके बापकी ट्रेन है तो आप इसमें थूकते क्यों हो? बारीसे बाहर ही थूक दो न!''

पर ये ख्याल हमको थूकते समय नहीं आता. हम अपना हित ही सोचते हैं. भई मुँहमें यदि छिलका है तो थूकना तो पड़ेगा. पर उसको अपन मेनेज् तो कर ही सकते है न! एक थैली ले लो. उसमें थूक दो फिर इकट्ठे बाहर फेंक दो. पर आदमी घांधलमें अपनी विचारशक्ति खो देता है. अब हमारी क्या हालत हो रही है ये तो सोचा होता. समुदायका अपन विचार नहीं करते हैं. अपने विचारमें समुदायका विचार जब भूल जाते हैं तो कहीं न कहीं अनीति हो रही है, हो रही है और हो ही रही है.

इतना सारा छप्पन भोग, इतना सारा अन्नकूट. कोई प्रसाद खाता नहीं है, प्रसाद सड़ जाता है. पर हम इसे प्रदर्शनीकी तरह डिमोन्सट्रेट् करते हैं. किसीके समझमें नहीं आती है यह बात कि जिस प्रसादको खाने-खिलानेकी आपके पास व्यवस्था नहीं है उस प्रसादकी आपको प्रदर्शनी

क्यों लगानी चाहिये? केवल गाँवको दिखाने, ललचाने केलिए इतने बड़े स्केल् पर अन्नकूट, छप्पन भोग हम करते हैं और उसका अधिकांश भाग सड़ जाता है. फिर हमको खोजना पड़ता है कि किसको प्रसाद दें. फिर वो सड़ा हुआ प्रसाद हम गाँवको खिलाते हैं. गाँवकी आदत भी फिर खराब होती है. एक बात ध्यानसे समझो कि राजा राममोहन राय जब कलकत्ता स्टेशन् पर उतरे तो एक हट्टा कट्टा भिखारी उनसे भीख माँगने आया. राजा राममोहन रायने उनसे एक बात कही कि ''तू क्या काम कर सकता है ये बता? मिट्टी खोद सकता है तो तुझे कुदाल दिला दूँ. कपड़ा सी सकता है तो कपड़े सिलनेकी मशीन दिला दूँ. जो काम तू कर सकता है उसका साधन मैं तुझे दिलानेके लिए तैयार हूँ पर खाना तुझे मैं नहीं खिला सकता. क्योंकि आज तू मुझसे भीख माँग रहा है, कल किसी औरसे माँगेगा. ऐसी भीख मैं तुझे नहीं दे सकता. मैं ऐसी भीख देनेको तैयार हूँ जिससे तू स्वावलंबी हो जाय. मैं ऐसी भीख नहीं देना चाहता कि जिससे तू परावलंबी होकर एक पेरासाइट् हो जाय.'' इस बातमें राजा राममोहन रायकी नीति थी. भीख नहीं देना व्यवहारके तौर पर निर्दयता थी पर नीतिके तौर पर ये धर्म प्रकट हुआ है. क्योंकि समुदायके हितका विचार किया. एक आदमीको भीख देकर दस आदमियोंको ये संदेश देना कि अच्छा यहाँ मुफ्तमें खाना मिलता है. मुफ्तमें खाकर हरामखोरी करना ये कभी नीति नहीं हो सकती है. हम उस तरहकी अनीतिको प्रोत्साहन देते हैं. हमारे बम्बईमें गुंडे लोग बच्चोंके हाथ

पैर तोड़कर उन्हें भीख माँगनेके लिए रोड पर खड़ा कर देते हैं. हम बहुत दयालु बनकर उनको भीख देते हैं. जितनी हम भीख देते हैं उतने ही ज्यादा बच्चोंके हाथ-पैर कटते हैं. और हम संतोष करते हैं कि हमने भीख दी. हमने भीख नहीं दी है, हमने समुदायका अहित किया है. आपने दो बच्चोंकी टाँगे ज्यादा कटवायी हैं.

किसीने मनोरथ डिक्लेयर् कर दिया कि हमको छप्पन भोग करना है. अरे! छप्पन भोग अपने ठाकुरजीका करना है तो मुझसे भीख क्यों माँगता है? आप जब दे देते हो तो समुदायका अहित होता है. क्योंकि आपसमें फिर स्पर्धा होती है कि उसने तो दान दिया और आपने नहीं दिया. उस स्पर्धासे बचनेके लिए आप तो दान दे देते हो पर समुदायका कितना अहित होता है कि हर व्यक्तिको ये संदेश मिलता है कि अपने ठाकुरजीको भोग अपने पैसेसे लेकरके नहीं धरना, गाँवसे पैसे लेकर धरना है. हम अपने ठाकुरजीको एक अपाहिज बच्चेकी तरह हाथ-पैर तोड़कर भीख मांगनेका एक साधन बना देते हैं.

ये मेनेजमेंट् नहीं है, ये पूरे धर्मका मिस्-मेनेजमेंट् है. भगवान्‌की भक्ति आपको करनी है, भगवान्‌का मनोरथ आपको करना है और गाँवसे भीख माँगकर भगवान्‌को अपाहिज बच्चा बनाना कैसे अनुमोदनीय हो सकता है!! क्या जरा भी शर्म नहीं आती आपको!!! देना हमारा धर्म है और धर्मके नाम पर जो भी कुछ देना हो, देंगे. पर

कब तक ये धर्मका धक्का चलता रहेगा. अरे भई समझो कि ये संप्रदायका नुकसान हो रहा है. अपना नुकसान हो रहा है, भगवान्‌में अपनी आस्थाका नुकसान हो रहा है. भगवान्‌में अपनी अनास्था बढ़ानेका एक बड़ा बीभत्स दुष्चक्र चलाया जा रहा है! जो भी मांगता है उसे कहो कि ''आप धरो छप्पन भोग, उसमें मुझे देनेका क्या प्रयोजन है? कल तो तुम बच्चा पैदा करके भी मुझसे उसका खर्चा मांगोगे. अरे! तुम्हारे घर ठाकुर बिराज रहा है, तुमको अपने ठाकुरजीका लाड़ लड़ाना है. बहुत अच्छी बात है. भक्तिकी दृष्टिसे इससे अच्छी कोई बात हो नहीं सकती है. उसके लिए गाँवसे भीख माँगना एक गलत उदाहरण प्रस्तुत करना है भक्तिकी दृष्टिसे. ये भक्ति न होकर एक धंधा है. जितना अच्छा चलेगा उतना फ्लरिशिंग् (समृध्धि) हो जायगा. ये धर्मका मिस्‌मेनेजमेन्ट् है, भक्तिका मिस्‌मेनेजमेन्ट् है. हम समझते नहीं है. उसमें अनीति हो रही है. जब अनीति हो गयी तो वो कभी भक्तिमें डेवलप् हो नहीं सकती. कल मुझसे पूछा गया था कि सकामभक्ति कभी निष्कामभक्तिमें कल्मीनेट् होगी या नहीं? वो इसलिए कल्मीनेट् नहीं होती क्योंकि सकामभक्तिकी नींवमें ही ये गड़बड़ हो गयी. कच्ची नींव पर पक्का मकान कभी टिक नहीं सकता है. पक्की नींव पर कच्चा मकान टिका रहेगा. कच्ची नीतिकी नींव पर भक्तिका कितना भी पक्का मकान आपने बनाया हो, वो ढहेगा ढहेगा और ढहेगा ही. आपको ढहायेगा, आपके भगवान्‌को ढहायेगा, सारे

भक्तिमार्गको ढहा देगा. ये रहस्य हमको समझना चाहिये. हमें प्रोत्साहित ही नहीं करना चाहिये. कहो कि ''आप ऐसी बात मत करो. हमने आपका क्या गुनाह किया, भगवान्‌ने आपका क्या गुनाह किया कि आप उनके नाम पर भीख मांग रहे हो!''

मैं हर वक्त एक बात कहता हूँ कि कोई पेटके नाम पर भीख मांगे उसे भीख दे दो. वैसे राजा राममोहनकी नीतिके अनुसार उसे भी भीख नहीं देनी चाहिये, उसे स्वावलंबी बनाना चाहिये. मगर भगवान्‌के नाम पर भीख मांगता हो तो कभी भीख नहीं देनी चाहिये. क्योंकि भगवान् तो लक्ष्मीपति है. उसके नाम पर भीख मांगकर तुम भगवान्‌को कितना नीचे ला रहे हो, कभी फुरसतसे ये तो सोचो! उस तरहकी नीतिकी कच्ची नींव पर तुम भक्तिका कितना भी बड़ा सुंदर भव्य भवन खड़ा करोगे वो ढह जायगा, वो टिक नहीं सकता है क्योंकि नींव अनीतिकी कच्ची है. तुमने भीख मांगकर भक्तिका पूरा आडंबर किया है. उस पर हमें कभी न कभी काबू पानेकी बहुत आवश्यकता है.

धर्मार्थकाममोक्षकी, नीतिके तहत मेनेजमेंट् यदि अच्छी करनी है, तो ये बात साफ समझनी चाहिये कि समुदायके रक्षण, समुदायमें भक्तिभावकी रक्षा हो इसलिए हमें अपने आप पर नियंत्रण रखना चाहिये कि जो ऐसा गलत काम करता हो उसे प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये चाहे वो

कितना भी आदरणीय पुरुष हो. आदर दो, उसकी तो कोई मनायी नहीं है पर पैसा मत दो. गलत कामके लिए पैसा मत दो. उसको प्रोत्साहित मत करो. आदरके साथ अप्रोत्साहित करो. कहो कि ''आप कृपानाथ हो तो आप अपनेपर कृपा करो पहले, भिक्षानाथ आप क्यों बनते हो. आप कृपा करोगे तो आपके पास अपने आप पैसा आ जायगा. हमसे लेनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी. या कबूल करो कि आप कृपानाथ नहीं हो भिक्षानाथ हो. सबसे पहली कृपा तो कृपानाथको अपने ऊपर करनी चाहिये कि भीख न मांगनी पड़े. ऐसा आप अपना रोल् क्यों खराब करते हो. आप हमारे गुरु हो. आपकी ये पदावनति हमको रास नहीं आती है. हम आपकी ये पदावनति सहन नहीं कर सकते. आप कृपानाथ हो और हम आपको भिक्षानाथ नहीं मानते इसलिए हम नहीं देंगे. ऐसा कहनेकी हिम्मत हममे होनी चाहिये. तब तो समायोजन अच्छी प्रकारसे होगा, वरना नहीं होगा. इसलिए समुदायके रक्षणसे समुदायके जितने भी सदस्य हैं उन सभी सदस्योंकी रक्षा, ये नीतिमें रहा हुआ काम है. और ये काम दोष नहीं है. ये काम भव्य गुण है. इस कामका नहीं होना दुर्गुण है.

(''सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाक् भवेत्''-नीतिमार्गीय मुक्ति है)

और नीतिका मोक्ष क्या है? फिरसे उस सूत्रको याद करो **''प्रजामनुप्रजायसे तदु मर्त्यामृतं यद् वै प्रजाः अजायत''** (तै.ब्रा.१।५।५) आपने नीति पाली और आप व्यक्तिवादी हो

गये और आपने कहा कि मैनें तो नीति पाली अब गाँवसे मुझे क्या लेना-देना? तो आपने नीति तो पाली पर नीतिमार्ग पर आप मुक्त नहीं हुये. आपका ये शुभ उद्देश्य होना चाहिये कि जैसे नीतिका पालन मैं कर रहा हूँ, ऐसे आनेवाले सारे लोग समुदायके, अभी और भविष्य के, ये नीति पालते हुये हो जायें. कोई नीति तोड़ता न हो जाय. अपने आपको उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत करके यदि आप कर पाते हो तो आपका नीतिमार्गमें वो मोक्ष है. वो नीतिमार्गमें आपकी मुक्ति है कि आपने समाजमें एक ऐसा आदर्श स्थापित किया कि जिसको सब अनुसरते हैं, कोई भी मिसगाइड् नहीं होता. इससे बड़ी मुक्ति और क्या हो सकती है. व्यक्ति समुदायमें जीता है. समुदाय व्यक्ति पर रहता है तो इस प्रकारसे नीतिमें हमने धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन देखा.

(श्रुति स्मृति सदाचार और स्वयं को भी लगती क्रियाके आधार कोई क्रिया कर्म व्यवहार नीति या धर्म बन जाती है)

नीतिके बाद अब धर्म आता है. नीति हर समय इस बातको लेकरके चलती है कि जो समुदायके अहितमें जायगी ऐसी कोई बात छद्म रूपसे या प्रकट रूपसे मैं नहीं करूँगा. पर जब मैं नीति कर रहा हूँ तो मैं और मेरा समुदाय मेरी निगाहमें हैं. मेरी आत्मा मेरी निगाहमें नहीं है. धर्मका जहाँ भी प्रश्न खड़ा होता है, चाहे वो हिन्दुधर्म मुसलमानधर्म ईसाईधर्म जैन बौद्ध हो. धर्म केवल देहके कारण नहीं चलता है. धर्मका ईशारा कहीं न कहीं

आत्माको खोजनेमें है. धर्मका जो स्रोत है वो आत्मामें है. क्योंकि यदि देह पर्यन्त ही किसी धर्मको दौड़ लगानी है तो वो धर्म नहीं, वो तो कमसे कम व्यवहार है और अधिकसे अधिक वो नीति है. पर यदि व्यवहार और नीति को धर्मके पद पर आसीन होना है तो कहीं न कहीं उसका स्रोत, उसकी जड़ें हमारे आत्मामें होनी चाहिये कि मैं क्या हूँ? ''मैं क्या हूँ?'' इसमें सिर्फ देह बोल रहा है. तो वो व्यवहार हो गया. ''मैं क्या हूँ?'' इसमें केवल समुदाय यदि बोल रहा है तो जिस समुदायके आप हो तो वो नीति हो गयी पर ''मैं क्या हूँ?'' इसमें आत्मबोध यदि आपको हो रहा है कि मेरे देह और देहके समुदाय के अतिरिक्त मेरा एक पहलू और है और वो मेरी आत्मा होनेका पहलू है. अब जो भी कर्तव्य आएगा वो धर्मके रूपमें आएगा. उसको निभानेके लिए जो भी साधन आयगा वो अर्थके रूपमें आयगा. उसको पूरा करनेके लिए आपकी जो भी इच्छा है वो उसका काम है और जब इच्छा पूरी हो जाती है तो धर्मके हिसाबसे वो मोक्ष है. इन सबका स्वरूप अपनको समझना चाहिये. वो स्वरूप कैसा है वो बातको ध्यानसे देखो.

(''श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः एतत् चतुर्विधं...''–ये धर्मके लक्षण है)

हम और धर्मोकी बात तो कर नहीं सकते. अपने धर्मकी ही करते हैं. अपने यहाँ शास्त्र स्पष्ट इस बातको बताता है कि नीति व्यवहार के जो निकष है या ज्ञान

इच्छा प्रयत्न के जो निकष है, उन पर धर्मका निर्धारण नहीं होता है. आप क्या जानते हो, क्या चाहते हो, क्या कर सकते हो, केवल इतने ही निकषपर धर्मका निर्धारण नहीं हो सकता. अथवा व्यवहारमें सामनेवालेको आप कैसे प्रसन्न कर सकते हो या वो कैसे अप्रसन्न हो जायगा, आप कैसे उसको कन्विन्स् कर सकते हो उससे तो व्यवहार निर्धारित होगा. जब आप पूरे समुदायका विचार करते हो तो उससे नीति निर्धारित होगी. पर उस नीतिसे धर्मके पदका निर्धारण नहीं होता. शास्त्रकी हमारी व्यवस्था ये है कि **''श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्.''** (याज्ञ.स्मृ.१।७) जो कुछ श्रुति है, स्मृति है, सदाचार है या जो कुछ हमको प्रिय है वो धर्मका लक्षण है. इसमें क्रम बताया है देखो, अपने शास्त्रकी कितनी गंभीर दृष्टि थी इन चार वस्तुओंमें. 'श्रुति' माने मूल वचन. 'स्मृति'= उन मूल वचनोंके अनुसार लोगोंने अपने जीवनको कैसे गढ़ा, उसकी व्याख्याका नाम 'स्मृति'. जैसे वेदोंके ऊपर स्मृति हुयी. वो किस अर्थमें? ऋषियोंने उन श्रुतियोंको किस तरहसे समझा, उसका जब उन्होंने स्मरण करके बताया उसे 'स्मृति' कहा गया. और उसको जिया कैसे? जो पुराणोंमें प्रकट हुआ है. वो सदाचार जिसके समानांतर अपने यहाँ वार्ता है. महाप्रभुजी श्रीगोपीनाथजी गुंसाईजी के वचन अपने यहाँ श्रुति हैं. महाप्रभुजी गुसांईजी के विभिन्न वचनोंकी व्याख्या अपने यहाँ स्मृति है. उन श्रुति और स्मृतियों को

अपने जीवनमें ढालके जीनेवाले लोगोंने अपने जीवनको जीया कैसे, वो सदाचार है. उस सदाचारमें जो आपको आकर्षित करता है, वो आपके लिए धर्म है. जो आपको आकर्षित नहीं करता, वो आपके लिए धर्म नहीं है.

थोड़ी देरके लिये इन [१]श्रुति [२]स्मृति [३]सदाचार [४]स्वप्रिय के प्रमाण-आदर्श अर्थात् धर्मके निर्धारक प्रमाणोकी मोडेलिटीको इनके डिनोटेशन् विशेष अर्थरूप वेदके संहिता ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद्, स्मृति मनु याज्ञवल्क्य भगवद्गीता आदि, १८पुराणादि, स्वयं हमारे पूर्वजोंका आचार आदिके अर्थोमें निरखने-परखनेके बजाय इनके (नामोके) कोनोटेशन्के सामान्य अर्थके रूपमें निरखें-परखें तो एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संदेश हमें मिलता है, धर्मके निर्धारित प्रमाणोकी कसोटीके बारेमें! **''विज्ञेयः श्रवणात् श्रौतः स्मरणात् स्मार्त उच्यते''** (ब्रह्मा.पुरा. १।२।३२।४३)

वह यह कि किसी विशेष [१]व्यक्ति या समुदाय द्वारा किसी कर्म व्यवहार या नीति के बारेमें स्वयंके कर्तव्य होनेकी बात सुनी हुयी होनी चाहिये. यह 'श्रुति'का सामान्य अर्थ होता है. [२]उस सुनी हुयी बातको अपने कर्तव्यके रूपमें मनके स्मृतिपटलोमें संजोकर रख पाना, अर्थात् 'स्मृति'का सामान्य अर्थ. [३]व्यक्ति या समुदाय के स्मृतिपटलपर संजोयी हुयी बातके अनुसार ही, चाहे या अनचाहे अपने कर्तव्यका जैसे निर्धारण शक्य बनता है उसी तरह पूर्वपुरुषोंके विद्या या जन्म द्वारा जन्मग्रहण करनेवालोंकी अपने कर्तव्यके बारेमें प्राग्धारणा व्यक्ति अन्तःकरणमें ही

केवल नहीं प्रत्युत शारीरिक वंशानुगति (हेरीडिटरी)में अन्तर्निरुढ हो जाती है. [४]इस तरहकी वंशानुगत प्राग्धारणाओंके प्रति सभान होनेपर तो कोई व्यक्ति अपने वर्तमान सामाजिक पर्यावरण के वश पनपनेवाले कर्तव्यबोधके तुलनात्मक अनुसरणीयताका सभान चयन कर पाता है. अन्यथा भानरहित होनेपर तो वही कर्म आदि किसी व्यक्तिको प्रिय कर्तव्य लगता है जो उसके पारिवारिक पर्यावरणमें प्रियतया मान्य किया गया हो! तदनुसार ही व्यक्तिको अपने कर्तव्यबोधोपयिक प्रिय (ought) या अप्रिय (must not) कर्तव्यका बोध होता है.

इस आर्ष अन्तर्दृष्टिके अभावमें जिस व्यक्ति या समुदाय ने किसी अन्यधर्मके अवश्यकर्तव्यतया मान्य किये गये कर्म व्यवहार या नीति के उपदेश सुने न हों अथवा कभी सुने होनेपर वांशिक स्मृतिमें संजो न पाये हों, अथवा पूर्वपुरुषोका वैसा सदाचार न हो तो अपने अनुसरणीय निजकर्तव्यतया उनके बारेमें धर्मबोध ही शक्य न होनेपर धर्मविरोध (सिन् या कुफ्र) कैसे सिद्ध हो पायेगा? ऐसी स्थितिमें धर्मापराधी (सिनर् या काफिर) मानकर नरकपातका अधिकारी मानना धर्म या परमेश्वर को स्वनियंत्रित या स्वप्रकटित मानवीय विवशताके प्रति संवेदनाशून्य निष्ठुर ही सिद्ध करता है!

मूलमें धर्म या परमेश्वर के बारेमें ऐसी अविवेकपूर्ण धारणा ही सभी धर्मसम्प्रदायोंके बीच पारस्परिक स्पर्धा कलह और विरोध-उन्मादका कारण बनती हैं. महर्षि यास्कने तर्क-

ऋषिका धर्मनिर्धारणमें महत्त्व स्वीकार किया है. मनुस्मृतिकार जिसे **''यः तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मः वेद नेतरे''** (मनु.स्मृति. १२।१०६) शब्दोमें दोहराते हैं. उसकी निर्णायक महत्ता यहां आकर प्रकट होती है. अतएव आर्षचिन्तनमें किसी भी कर्म व्यवहार या नीति को धर्मपदवीपर एकान्तिकतया आरुढ करनेके बजाय देश-काल-कर्ता-द्रव्य-(प्रयोजनबोधक)मन्त्र और अनुष्ठानोपयिकसामर्थ्यरूप कर्म की विविधताके आधारपे मान्य करनेकी आदर्श रीति प्रस्थापित की गयी है. अन्यथा किसी एक धर्मशास्त्रके अनुसार मूर्तिपूजा पाप और मांसमदिरासेवन या चचेरीबहनसे शादी धर्मानुमत है, दूसरे धर्मशास्त्रके अनुसार मूर्तिपूजा पुण्यकर्म और मांसमदिरासेवन और चचेरीबहनसे शादी निषिद्ध कर्तव्य है तो किसे सत्यधर्म मानना और किसे पापकर्म मानना? तटस्थतया विचारनेपर महान धर्मसंकट सामने आ धमका हुआ लगता है!

सभी व्यक्ति-समुदाय अपने-अपने धर्मशास्त्रोके विधि-निषेधोंके आधार पर अपने कर्तव्यनिर्धारणमें समझोतावादी दृष्टिकोणको पाषंड माने उसमें उतनी आपत्तिजनक कथा नहीं! परन्तु दूसरे व्यक्ति-समुदायके स्वधर्मसे विपरीत कर्म व्यवहार या नीति के बारेमें समझोता करने तैयार नहीं हो तब तो पशु-पक्षी-सरी-सृप-कीट जैसे प्राणिओंके भी क्रिया-कलापोका मूल्यांकन अपने-अपने धर्मशास्त्रोके विधि-निषेधके आधारपर करने जानेपर तो मानव प्राणीको सभी प्राणिओंको भूतलपर धर्मापराधी मानकर प्राणदंड देना पडेगा! जिस दिन सभी प्राणी भूतलपर विनष्ट हो जायेंगे वह दिन मानवप्राणीके आत्मघातका दिन होगा!

बुद्धिशालिताके आधारपर मानवप्राणीको धर्मका एकमात्र अधिकारी होनेसे धर्मतः अनुमोदनीय या निंदनीय माननेका मुद्दा उठाया जाये तो मानवप्राणीकी बुद्धि जिस श्रुति स्मृति सदाचार और स्वप्रियता के भानपर घटित होती है, उन निकषोंके अभावमें या अस्वधर्मसम्प्रदायके मनुष्योको, पशुतुल्य ही सही जैसे हम हमारे धर्मसम्प्रदायोके शिशुओको मानकर भी पापी नहीं मानते, दया अथवा क्षमाका भाव रखते है. वस्तुतः दंडविधानका अधिकारी धर्मके एकान्तिक नियम या धर्मविधायक परमेश्वर को ही मान्य रखना चाहिये बजाय कि अस्वधर्मसम्प्रदायके मनुष्योंको स्वयं ही पापी और दंडनीय मानने लगनेके!

इस तरहकी लोकोत्तरसामर्थ्य एक धर्म-सम्प्रदायके अनुगामी स्वयंकी मानते हों तो उन्हें यह भी स्वीकारना पड़ेगा कि इस मायनेमें वो अपने धर्मनियमों अथवा धर्मविधायक परमेश्वर से अधिक सामर्थ्यशाली हैं. ऐसी स्थितिमें नंगाई बरतते हुवे यह कहना चाहिये कि हमारे धर्म या परमेश्वर को मानो या मत मानो हमारी बात कोई नहीं मानेगा तो वह पापी एवं दंडनीय माना जायेगा!

जिस दिन धर्मसम्प्रदायी लोग ऐसी नंगाईपर उतरेंगे उस दिन रेशनल् एनिमल् या रिलिजीयस् एनिमल् अपनी जघन्यकक्षाकी एनिमलीटीको (पशुता) अनावृत कर देगा! रेशनलीटी या रिलिजीयस्नेस् को केवल एक खोटा मुखोटा सिद्ध कर देगा. धर्मकी आडमें दूसरेको अपने अंकुशमें रखनेकी अदान्त मानसिक रुग्णता ही प्रकट करता होगा.

ऐसी रुग्ण धार्मिकताके आधारपे धर्मका भलीभांति समायोजन कभी शक्य नहीं.

अस्तु. अपने यहांका सोच क्या है यह देखना हो तो एक खूबसूरत उदाहरण अपनी वैष्णव वार्ताओंमें मिलता है, आप सुनोगे तो आपको समझमें आ जायगा. एक वैष्णव गरीब था. उसके पास ठाकुरजीकी सामग्रीके पात्रमें चमचा सजानेकी सुविधा नहीं थी. ठाकुरजी गरम सामग्रीको ठंडी कैसे करें और गरम आरोगें कैसे? उसने सामग्रीमें दातुन रख दिये और बिनती की कि प्रभु इससे हिला कर ठंडी कर लेना. अब हम कहेंगे कि संप्रदायकी रीतिका मंत्र हो गया. सामग्री सजाते वक्त चमचा रखा जाता है, दातुन नहीं रखा जाता. अरे! ठाकुरजी उससे खुश है, वो ठाकुरजीसे खुश है, तुम बीचमें बोलनेवाले कौन? गड़बड़ी कहाँसे पैदा हुयी? एक प.भ.ने देख लिया और कहा ''अच्छा, अब तो छूट मिल गयी. अब तो चमचा धरनेकी आवश्यकता ही नहीं है. सारे गाँवमें जो धर सकते थे उनमें भी दातुन रखनेका प्रचलन शुरू हो गया. अब वहाँ दो संप्रदायके भेद हो गये. एक चमचावादी धर्म और दूसरा दातुनवादी धर्म. एक कहता है कि प्रभुका सुख चमचेसे है, दूसरा कहता है कि प्रभुका सुख दातुनसे है. अरे यार! प्रभुका सुख न दातुनसे है न चमचेसे है. प्रभुका सुख तो भावसे है. भाव है तो दातुनसे भी सुख होता है और भाव नहीं है तो चमचासे भी दु:ख होता है.

एक बार एक गाँवमें मैं गया. वहाँ किसी वैष्णव भाईने

मेरी पधरावनी करवाई. भूलता नहीं हो तो कमसे कम बीस आईटम् होगी दूधघरकी. एक तो आईटम् देख कर ही घबराहट छूट गयी. फिर भी जब उन्होनें आरोगनेके लिये कहा तो सोचा चलो एक आध चीज़ ले लेते हैं. मैनें एक आईटम् उठाई तब तक तो उन्होनें हल्ला मचा दिया कि ''अरे अरे, पहले ये नहीं, वो पहले खाया जाता है.'' मैनें सोचा कि पता नहीं ये कैसा यहाँका रिवाज है? मैनें उसमेंसे जो उन्होनें कहा था, थोड़ासा उठाया. उठाते ही वो बोले ''अरे अरे! इसको इतना नहीं, इस अनुपातमें खाया जाता है.'' मैनें कहा ''मुझे कुछ नहीं खाना. सब बंद करो. तुम्हारे यहाँ मैं पधरावनीमें आया, ये कोई मेरे पूर्वजन्मके पाप होंगे. अब मुझे यहाँसे जाने दो.'' पंद्रह आईटम् तो सामने रख दीं और एक भी आईटम् उठानेसे पहले इतना झगड़ा करें तो कैसे चले! आदमीकी खानेकी वृत्ति ही नष्ट हो जाय. ऐसे ही हम भोग धरनेके पहले चमचाका झगड़ा करते हैं कि ''अरे अरे! ऐसे चमचा मत धरो. ये चमचा यहाँ होना चाहिये. इसका एंगल् ऐसे होना चाहिये. ये क्या झगड़ा है, ये कैसी सेवा है? किस तरहका उपद्रव मचा रखा है? हम भावको प्रधानता देनेकी बजाय इन कर्मकाण्डोंको इतनी प्रधानता देते हैं कि आदमीकी खानेकी इच्छा ही नष्ट हो जाय. अपन तो ठाकुरजीको भी ये कह देंगे कि ''अरे अरे! सखड़ीको पहले हाथ मत लगाना नहीं तो दूधघर सखड़ी हो जायगा. पहले दूधघर आरोगो. ठाकुरजी कहेंगे कि ''चल अच्छा,

पहले दूधघर ही आरोगूं.'' जब तक वो उसमें हाथ लगायें तब तक '' अरे अरे! पहले अनसखड़ी आरोगो.'' ठाकुरजी कहेंगे कि इतनी गरम बात सुनकर मुझे प्यास लगी है. तो तुरंत कहें ''अरे अरे झारीको हाथ मत लगाना नहीं तो झारी सखड़ी हो जायगी.'' भगवान् भी कहेंगे कि ''तेरे यहाँ आरोगता हूँ, ये ही मेरी गलती है! नहीं आरोगता तो अधिक सुखी था मैं.'' ये किस तरहका झगड़ा फैला दिया है? अपनी अक्कल काम नहीं करती. ''या इलाहि ये माजरा क्या है? दिले नादान तुझे हुआ क्या है?''

ये सब धर्मके बारेमें किस मेनेजमेन्ट्के झगड़े हैं. हमने ये नहीं देखा कि श्रुति क्या कहती है, स्मृति क्या कहती है, सदाचार क्या कहता है? दातुन उसने रखा तो क्यों उसने दातुन रखा? उसके हृदयमें एक भाव था कि ठाकुरजी गरम नहीं आरोग सकते हैं. ठंडा करनेके लिए मेरे पास चमचा नहीं है. कमसे कम दातुनसे भी हिलायेंगे तो कुछ ठंडा तो हो ही जायगा. उसका भाव कितना मधुर कितना हृदय स्पर्शी है! और वो चमचा और दातुन वादका झगड़ा कितना कठोर भाव है. ये अपनको समझना चाहिये.

रामानुजसंप्रदायकी एक घटना बताऊँ. कांचीमें वरदराज स्वामीकी वार्षिक यात्रा निकलती है. उसमें एक हाथी भेंट आया. उनके यहाँ दो संप्रदाय है. एक बड़गल और दूसरा तैंगल. एक वी-मार्क और एक वाय-मार्क तिलक करता है. झगड़ा ये खड़ा हुआ वहाँ कि वारा चल रहा था

वी-मार्कका और हाथी भेंट धरनेवाला था वाय-मार्कवाला. अब हाथीको कौनसा तिलक करना! उसका केस पंद्रह साल चला कोर्टमें. अब इस झगड़ेका निर्णय ही नहीं आया. क्योंकि जब हाथी भेंट आया तो मंदिरमें वी-मार्कका वारा था और भेंट धरनेवाला वाय-मार्क था. बहुत झगड़ा चला. झगड़ा चला वो तो कोई बात नहीं पर उन लोगोंने हाथीको शूट कर दिया. बिचारे हाथीका क्या दोष उसमें! उस बेचारेको तो पता भी नहीं कि वी-मार्क और वाय-मार्क क्या है? ये अंग्रेजोंके जमानेकी बात है. केस पूरे पंद्रह साल चला.

अंग्रेज जज्की कोर्टमें ये केस आया तो उसने यही पूछा कि ''इतना झगड़ा क्यों?'' उन लोगोने जज्से यही पूछा कि हाथी पर कौनसा तिलक लगाना है? उसने पूछा ''हाथीको मारा क्यों? उन्होनें कहा ''वो कथा तो पूरी हो गयी. अब तो आप इसका निर्णय बताइये.'' जज्को गुस्सा आ गया. उसने कहा कि ''हाथी पर न वी मार्क लगेगा न वाय मार्क, उसपर त्रिपुंड लगाओ.'' दोनों पार्टीयोंने समझौता कर लिया कि ये तो उल्टा ही निर्णय आ गया. वाय और वी के झगड़ेंमें बीचमें त्रिपुंड कहाँसे आ गया! इस प्रकारके व्यर्थके झगड़ें करके अपन पता नहीं क्या-क्या उपद्रव करते रहते हैं, अक्कल काम नहीं करती. क्योंकि हमको **''श्रुति स्मृति सदाचार और स्वस्य च प्रियमात्मन:''** का जो पॅरामीटर् शास्त्रने बताया है, वो हम सोचते नहीं है. इसलिए शास्त्र कितना सुंदर कहता है कि **''प्रत्यक्षं**

चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमं, त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिम् अभीप्सता, आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना यः तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः'' (मनुस्मृति.२।१२।१०५-१०६) तुमने श्रुति स्मृति का वचन तो सुन लिया, तुमने सदाचार भी जान लिया पर आँखसे तो देखोगे कि नहीं. नहीं देखनेसे क्या होता है कि दस पंद्रह दिनसे सामग्री बनती रहती है. जिस दिन ठाकुरजीको भोग आनी होती है उस दिन उसमें बास आ गयी होती हैं. आँखसे नहीं देखेंगे. क्योंकि जिस प्रमाणमें हमने सामग्रीका नेग नक्की किया है उस प्रमाणमें तो सामग्री आयगी. नहीं आयगी तो ठाकुरजी भूखे रह जायेंगे. अरे आपको इस तरहसे कोई खिलाये तो क्या आपकी दुर्गति होगी! समझो पत्नी अपने पीछे पड़ जाय कि ''सासने मुझे कह दिया था कि इतना खाना खिलाना तो अब तो आपको खाना ही पड़ेगा.'' अब तो इस बातपर आदमी मर जाय.

(देश-काल-द्रव्य-कर्ता-मन्त्र-कर्मके प्रभेदवश धर्म भिन्न हो जाते है, इसी तरह कुलजातिवर्णाश्रमवर्णगुणोंके निमित्तिभेदवश भी धर्म भिन्न-भिन्न हो जाते है)

गुजरातमें एक शहाबुद्दीन राठोड है. उन्होनें एक बहुत अच्छा चुटकुला सुनाया. उन्होनें कहा कि एक कथाव्यास कथा कर रहे थे. उनके मुँहसे थूक बहुत उड़ती थी. किसीने कहा ''महाराज! आप कथा तो अच्छी कहते हो पर आपके मुँहसे थूक उड़ती है उसका क्या? कथाव्यास

बोले ''चुप रह, कथाव्यासके मुँहसे जो थूक उड़ती है वो गंगाजल है.'' वो बोला ''ओहो!. ये तो ब्रह्मज्ञान मिल गया.'' वो सीधा घर गया और वहाँसे बापकी अस्थियां लाकर सीधे कथाव्यासके मुंहमें डाल दीं और बोला कि ''महाराज! हमें तो ये अस्थियाँ गंगामें विसर्जित करनी थी. हमें पता ही नहीं था कि हमारे घर बैठे-बैठे गंगा आ गयी.'' अब गंगा है तो अस्थि तो विसर्जित होगी ही न! धर्मका इस हद तक कोई आचरण करे कि मुखमेंसे गंगा बह रही है तो अस्थिविसर्जन भी मुखमें ही होगा. धर्मका इस अर्थमें यदि भयंकर रूप होता हो तो बिचारा धर्म कहाँ जाय! हम कहाँ जायें, ये तो बादका प्रश्न है. पहले ये तो बताओ कि धर्म कहाँ जाय?

इसीलिए मैंने आपको ये सारी बात समझायी कि देश काल कर्ता मंत्र द्रव्य कर्म के भेदसे धर्मका भेद होता है. सब एक जगह नहीं होते. गंगाका जो देश है वहाँ गंगामें अस्थि विसर्जन करनेसे धर्म होगा. कथाव्यासके मुँहमें आपने हड्डी डाल दी तो कथाव्यास भी गरीब गया और आपका बाप भी गया क्योंकि कथाव्यासके मुँहमें किसी और तरहकी गंगा है. अस्थिविसर्जनकी गंगा नहीं है. देशभेद हो गया कि नहीं? उस देशभेदसे आपका धर्मभेद होता है. आप कहोगे कि अच्छा गंगामें अस्थिविसर्जन करना है तो जहाँ जैसी भी गंगा देखी, चलो करो अस्थिविसर्जन. ऐसे नहीं होता. कालभेदसे भी धर्मभेद होता है. ये मैं सब आपको पहले समझा चुका हूँ. एक बात समझो कि कुल जाति

वर्ण वर्णाश्रम गुण नैमित्तिक भेदसे धर्मके अनेक भेद माने गये हैं. वो अपन शास्त्रका अवगाहन करे तो हमको पता चलता है.

(सत्यं दमः तप शौचं संतोषं ह्री क्षमार्जवम्, विद्या शमो दया ध्यानम् एष धर्मस्य संग्रह)

शास्त्र स्पष्ट कहता है कि कुछ सामान्य धर्म होते हैं. 'सामान्य धर्म'से शास्त्रका अर्थ है **''सत्यं दमः तप शौचं संतोष ह्री क्षमाआर्जवं विद्या शम ध्यानं एष धर्मस्य संग्रह''** ये धर्मके संग्रह है. एक बात समझो कि ये मूलतः धर्मनीति ही है पर इनको जब अपन शास्त्रके आदेशके तहत करते हैं, तो वो नीति न रहकर धर्मका पद हासिल करते हैं. और शास्त्रके आदेशके बिना अपने मनसे, अपनी इच्छासे यदि करेंगे तो वो धर्म न होकर नीति भर रह जाती है.

एक बात समझो कि एक लड़का और लड़की आपसमें भी ब्याह सकते हैं. वो प्रेमविवाह होता है. और जब कन्यादान होता है तब वो 'प्रेमविवाह' नहीं कहलाता है, क्योंकि वो 'धर्म' कहलाता है. एक कन्यादानके उदाहरणसे आप समझो तो अपनको कितनी बात पता चलती है. कन्यादान हम धर्मार्थ कर सकते हैं. क्योंकि दानसे बड़ा कोई पुन्य नहीं है, वो धर्मपुरुषार्थ हो गया. कन्यादान हम अर्थपुरुषार्थसे कर सकते हैं. कई लोग अपनी लड़कियाँ बेचते हैं तो वो ही कन्यादान अर्थपुरुषार्थ हो गया. कन्यादान कामपुरुषार्थ भी हो सकता है कि ''भई बड़ा घर है, किसी तरह अपनी कन्या वहाँ फिट कर दो. फिर

बादमें तो सौदा होता ही रहेगा न!'' वो कामपुरुषार्थ हो गया. आप अपना कुछ काम पटानेके लिए लड़की वहाँ दे रहे हो. वो ही कन्यादान कामपुरुषार्थ है. कन्यादान मोक्ष भी हो सकता है. एक कन्या या गौ दान जैसी छोटी बात भी अपन धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों रूपमें ले सकते हैं. उस अर्थमें आप इसको समझो कि कोई भी धर्मके अनेक रूप हो सकते हैं.

जो जब भी किसी नीति या सामान्य धर्मको शास्त्रके हिसाबसे करते हैं तो वो धर्म कहलाती है और अपनी इच्छासे करते हैं तो वो धर्म न होकर नीति कहलाती है. क्योंकि आप अपनी इच्छासे करते हो. आप अपनी आत्माकी ओर दृष्टि न करके अपनी इच्छाकी ओर दृष्टि कर रहे हो और शास्त्रने जब भी कोई बात की है वो आपकी इच्छाको देखकर नहीं कही है. आपकी आत्माकी प्रकृतिको देखकर ये बात बतायी है. वो ही नीतिके कार्य जब धर्मशास्त्रको देखकर किये जाते हैं तो वो धर्मका रूप ले लेते हैं. बात वोकी वो ही है. बातमें अंतर नहीं है पर फरक केवल इतना है कि उसकी प्रतिष्ठा कहाँसे हुयी है. वो ही बेटा जब राज गद्दी पर बैठ जाता है तो राजा बन जाता है पर यदि राज गद्दी पर नहीं बैठा तो बेटा तो बेटा ही है पर 'राजा' नहीं कहलाता है. कहाँ प्रतिष्ठा हुयी है इस बात पर निर्भर है. वो ही मूर्ति जब आदमकदकी बनती है तो कारीगर उसकी छाती पर बैठकर उसे कुरेदता है. अब उस समय अपन उससे झगड़ा करें

कि तूने हमारी मूर्तिका अपमान कर दिया. मारो, काटो इसकी गर्दन. ये हमारी मूर्तिकी छाती पर कैसे बैठ गया, पैर कैसे लगाया इसने? अरे भई, मूर्तिकारको यदि मूर्ति बनानी है तो वो तो ऐसे ही बनेगी. पर यदि उसी मूर्तिको पूजना है तो उसे पैर नहीं लगाया जा सकता. फिर वो अधर्म हो जाता है. बनाना है तो पैर भी लगाया जा सकता है. ध्यानसे देखो, मूर्ति दो नहीं है पर यदि बनाना है तो उसकी छाती पर बैठ कर नहीं बनाओगे तो वो कुछ बखड़जंतर जैसी मूर्ति बनेगी. उसमें वो सुंदरता ही नहीं आयगी.

हमारे साथ भी ऐसी ही एक घटना हुयी. हमारे यहाँ एक मूर्तिकार चित्रकार आये और कहने लगे कि ''पुष्टिमार्गमें सब धर्मकी ही बात करते हैं. चित्र और मूर्ति की कोई बात नहीं करता. यदि मूर्ति और चित्र नहीं होते तो आपको महाप्रभुजीके चित्रके दर्शन कैसे होते?'' मैनें कहा कि ''बात तो आपकी ठीक है पर मूर्ति और चित्र तो बेचनेके लिए बनते हैं और धर्म और सिद्धांत उसको पूजनेके लिए होते हैं. बस फर्क यहाँ पड़ जाता है. आपकी बात भी सच है चित्र और मूर्ति की बात होनी चाहिये पर चित्र और मूर्ति में जो भगवान् है वो भगवान् बिकनेके लिए है और धर्ममें जो भगवान् है वो बिकनेके लिए नहीं पूजनेके लिए है. अपने आपको उसको समर्पित करनेके लिए भगवान् है. वहाँ भगवान्का भी कुछ प्रमोशन् हो रहा है. जो भगवान् पत्थर मूर्ति अथवा कागज के

रूपमें था उसको हमारा धर्म प्रोमोट् करना चाहता है. दोनों बातोंमें भेद है. मूर्ति वोकी वो ही है पर कहीं उसका प्रमोशन् हो रहा है, कहीं उसका डिमोशन् हो रहा है, इस बातको हमें ध्यानमें रखना पड़ेगा.

इसीलिए **''प्रत्यक्षं अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमं''** इन सबको रखना चाहिये फिर जब हम अपने कर्तव्योंका निर्धारण इन शास्त्रोंके आधार पर करते हैं, वो चाहे स्वभावके या प्रभावके या कर्मके या व्यवहारके या नीतिके लेवलसे हो, शास्त्रद्वारा निर्धारण करनेपर आत्माको दृष्टिमें रखकर वो काम करता है. अत: स्वभावकी प्रभावकी कर्मकी व्यवहारकी नीतिकी ये सभी क्रियाएँ धर्म हो जाती हैं.

एक सामान्य बात बताऊँ आपको एकदम समझमें आ जायगा. हम जिस प्राणायामकी बात कर रहे हैं, वो प्राणायाम गायत्रीमंत्र बोलकर, भगवान्के ध्यानके लिए भी हो सकता है. वो प्राणायाम गाँवमें प्रदर्शन करके स्टेज् पर पैसा कमानेके लिए भी हो सकता है. हो सकता है कि नहीं? प्राणायाम वो ही है, दो नहीं है पर जब वो प्राणायाम आप अपनी सेहतके लिए कर रहे हो तो वो आपका कामपुरुषार्थ है. जब आप पैसा कमानेके लिए कर रहे हो तो वो आपका अर्थपुरुषार्थ हो गया. पर जब वो ही प्राणायाम आप भगवान्का ध्यान करनेके लिए कर रहे हो तो वो आपका धर्म हो गया. और यदि उस प्राणायाममें आपकी समाधि साध पाये तो वो ही प्राणायाम आपका

मोक्ष हो गया. क्योंकि आप अपने श्वासको वहाँ तक नियंत्रित कर सके कि आपका ध्यान विचलित नहीं होता है तो बस आपको मोक्ष हो गया. वो ही प्राणायाम कितने विविध रूप धारण करता है! इन विवेकोंको समझकर हमें धर्म अर्थ काम मोक्ष का समायोजन करना चाहिये. ऐसे नहीं समझना चाहिये कि कोई प्राणायाम कर रहा है तो बस धर्म ही है या योग ही है. योग भी एक धंधा हो सकता है और धंधा भी कोई धर्म हो सकता है. **''स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:''** (भग.गीता१८।४६)**''कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्''**(भग.गीता.१८।४४) स्वाभाविक कर्मको भी यदि आप भगवदर्चना कर देते हो तो वो धर्मका रूप ले लेता है. और भगवदर्चनाको भी यदि आप धंधेके लिए करते हैं तो वो धंधेका या कामपुरुषार्थका ही रूप ले लेता है.

सब बातोंको जाँचने या परखनेकी ये हमारे यहाँकी अंतरदृष्टि थी. आज हमने सबको आइरन करके सीधा कर दिया है, फोल्डलेस् कर दिया है. धर्मार्थकाममोक्षके समायोजनमें मल्टीपल् पर्सपेक्टिव्, मल्टीपल डाइमेन्शन् हैं, वो हमें समझना चाहिये. इन देशादि षट्कोंके विवेकसे जो हम काम करते हैं वो धर्मके अंतर्गत धर्मपुरुषार्थ है.

(धर्ममें काम यही होता है 'धर्मो रक्षति रक्षित:')

धर्मपुरुषार्थके अंतर्गत काम क्या है? महाभारतमें स्पष्ट निर्धारित किया है कि धर्मपुरुषार्थमें एक ही काम है और वो है **''धर्मो रक्षति रक्षित:''** धर्म तुम्हारी रक्षा तब करेगा

जब तुम धर्मकी रक्षा करोगे. और धर्मकी रक्षाकी कामनासे किया गया धर्माचरण, धर्मका कामपुरुषार्थ है.

(धर्ममें अर्थदेशादिषट्क)

अर्थता किसमें हैं? जिस धर्मका आचरण करनेके लिए, देश काल कर्ता कर्म द्रव्य मंत्र जो भी शास्त्रमें कहे गये हैं, उनके अनुसार ही यदि आप धर्मका आचरण कर रहे हो तो वो धर्मके अंतर्गत अर्थपुरुषार्थ है. धर्मके अन्तर्गत जब किसी दूसरे द्रव्य, दूसरे काल, दूसरे मंत्र, दूसरे कर्म से उसी आचरणको यदि आप कर रहे हो तो अनर्थ हो रहा है.

(धर्ममें अर्थकी परिभाषाके अन्तर्गत देशकालादि क्यों अर्थवाचक है?)

हमारे बम्बईमें एक ब्राह्मण आये. उनके बहुत लंबी-लंबी जटाऐं थी और ऋषिमुनि जैसा व्यक्तित्व था. एक फिल्मकी शूटींगमें एक विवाहका सीन करना था तो वो लोग किसी ब्राह्मणको तलाश रहे थे. वो लोग ब्राह्मणकी तलाश करते हमारे बड़े मंदिरमें आये. उन्हें वो जटाजूटवाले ब्राह्मण वहाँ बैठे मिल गये. उन्होनें उनसे पूछा कि ''आप ब्याह कराओगे.'' उन्होनें हाँ कर दी और उनके साथ चले गये. स्टूडियोमें सारी सजावट की गयी थी. अब वहाँ वो लोग घीके बजाय घासलेटकी आहूति दे रहे थे. अब शूटींगमें तो ज्वाला भड़कती दीखनी चाहिये. उन्हें घीसे क्या मतलब? जब उन्होंने घीके बजाय आहुतिके लिए घासलेट दिया तो वो बोले ''अनर्थ.'' डायरेक्टर्ने कहा कि ''ये तो कोई डायलोग नहीं है कौन बोला ये.'' अब उस ब्राह्मणने कहा

कि ''घासलेटकी आहुति देनेसे ये विवाह कभी भी मंगल नहीं होगा, अमंगल ही होगा.'' डायरेक्टर्‌ने उनको ऐसा सुनकर वहाँसे भगा दिया. लौटकर मेरे पास आये. मैनें पूछा ''क्या हुआ?'' वो बोले ''बम्बईका तो सब खाता ही खराब है, घीके बजाय घासलेटसे आहुति दे रहे थे.'' मैनें कहा ''अरे भई! वो तो फिल्मकी शूटींग् थी, कोई सचकी शादी थोड़े ही थी! आप शादीके डायलोग् शूटींग्में क्यों बोलते हो? शूटींग्में तो शूटींग्के ही डायलोग् बोले जायेंगे न!'' जो द्रव्य जहाँ काममें आता है वहाँ वो अर्थ है और जहाँ काम नहीं आता है, वो अनर्थ है. अरे भई! शूटींगमें घी कहाँसे लायेंगे? वहाँ तो घासलेट ही काममें आयगा न! वहाँ उसीका अर्थ है पर विवाहमें घासलेटकी आहुति अनर्थ है. तो द्रव्य आदिका ख्याल रखना, ये धर्मका अर्थ है. देशकालादिको षट्‌सम्पत्ति कहा गया है क्योंकि ये अर्थवाचक है. **''षड्‌भि: सम्पद्यते धर्म: ते दुर्लभतरा: कलौ.''** (त.दी.नि.२।२१४) लिए महाप्रभुजी देश कालादि द्रव्यको षड्-सम्पत्ति कहते हैं कि धर्मकी ये सम्पत्ति है, धर्मका ये अर्थ है, उद्देश्य है.

(धर्ममें मोक्ष यावज्जीवन पापभीति अपराधग्रन्थि आत्मग्लानि और दण्डभीति से मुक्ति होती है)

धर्मपुरुषार्थमें मोक्ष क्या है? जो व्यक्ति धर्म करता है उसे कभी पापकी भीति नहीं होती है. उसे कभी आत्मग्लानि नहीं होती है. उसे कभी देह भीति नहीं होती है. देखो बहुत मजेदार बात आपको बताऊँ, अपने यहाँ शास्त्रमें प्राणहरण करनेवाले देवताका नाम यमराज भी है

और धर्मराज भी है. जब आपने धर्म जिया है तो वो आपके लिए यमराज नहीं धर्मराज है. और जब आपने अधर्म जिया है तो वो आपके लिए यमराज है. 'यमराज'का मतलब कि आप जीना चाहते हो और वो आपके जीनेको नियंत्रित करके स्विच् ऑफ् कर देता है.

आप धर्म जी रहे हो तो वो धर्मराज है. **''त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थ: शेते मृत्यु: अस्माद् अपैति''** (भाग. पुरा.१०।३।२७) ''सिरहाने बोलिये आहिस्ता मीरके अभी टुक रोते-रोते सो गया.'' जिसने धर्माचरण किया है वो तो सोता है कोई मरता थोड़े ही है! मरते तो वो हैं जो अधर्माचरण करते हैं. धर्माचरण करनेवाला तो अभी सो गया, फिर जग जायगा. धर्ममें और अधर्ममें मूल भेद अपने यहाँ ये माना गया है कि अधर्म करनेवालेको लेने यमराज आता है और धर्मवालेको धर्मराज लेने आता है. और प्राणहरण देवताके दोनों नाम है. उसकी सुंदरता देखो, उससे पता चलता है कि धर्ममें अपने मोक्षका क्या सिद्धांत है कि अपनेको भीति नहीं रहती. अपन निर्भय जीवन जी सकते हैं. वो धर्मका मोक्ष है.

यदि कोई ऐसा पूछे कि क्या जीवके हाथमें धर्मार्थकाममोक्ष करना है? तो इसका मनुस्मृतिने बहुत अच्छा जवाब दिया है. वो क्या कहती है कि ''जब हम ये पूछ रहे हैं कि ये अपने हाथमें हैं?'' तो 'अपना' यानि क्या? सोचो. अपनेमें कितनी वस्तुएं आ रही है?

मनु कहता है कि **''य: अस्य आत्मन: कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते.''**(मनुस्मृ.१२।१२) अपने भीतर एक कारयिता है. वो क्या है? **''अहंकारादिचतुर्ग्रंथी ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान आत्मा.''** वो कारयिता है कर्ता नहीं है. उसको मैं क्षेत्रज्ञ कहता हूँ. **''य: करोति तु कर्माणि स भूतात्मा उच्चते बुधै:''** (वहीं) जो कर रहा है वो भूतात्मा है, वो क्षेत्रज्ञ आत्मा नहीं है. इस व्यक्तित्वके भीतर एक क्षेत्रज्ञ आत्मा है और एक भूतात्मा है. करानेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा है और करनेवाला भूतात्मा है. भूतात्मा माने जो पंचभूतसे बना है. **''स भूतात्मा उच्यते बुधै:''** उसको हम जीवशरीर कहते हैं. उसके बाद वो कहता है कि अंतरात्मा एक और अलग है. देखो व्यक्ति एक है पर उसके भीतर कितने कोष्ठ है. कितने इसके आस्पेक्ट् है. एक अंतरात्मा अलग है **''जीवसंज्ञो अंतरात्मा अन्य: सहज: सर्वदेहिनां येन वेदयते सर्वं सुखं दु:खं च जन्मसु''** (वहीं१२।१३) वो अंतरात्मा मनुष्यमें ही नहीं, धर्म, अधर्म, सब प्राणी सभीमें एक सहज अंतरात्मा मौजूद है. आगे मनु कहता है कि उस सुख-दु:खका अनुभव वो अंतरात्मा करता है. भूतात्मा नहीं करता है. देखो कितना भी बड़ा दु:ख हो वो भूतात्माको यदि नींद आ जाय तो नहीं होता है. बड़ेसे बड़ा ओपरेशन् भी हुआ हो तो दु:ख तो केवल तब तक ही होता है जब तक नींद नहीं आती है. भूतात्मा तो केवल काम करता है, उसे सुख-दु:ख नहीं होता है. ऐसा मनु कहता है. सुख-दु:ख जिसको होता है, वो अंतरात्मा है. और

कारयिता कौन है? वो क्षेत्रज्ञ आत्मा है. अब इसके आगे मनु कहता है कि ''एक परमात्मा और है.'' इस शरीरमें एक करानेवाला क्षेत्रज्ञ आत्मा है, करनेवाला एक भूतात्मा है. उस किये जानेसे सुख-दु:खका अनुभव करनेवाला एक अंतरात्मा है. इस सबकी समष्टि एक परमात्मा है. जिस परमात्माको मनु ये कहता है कि **''उत्तमपुरुषस्तु अन्यो परमात्मा इति उदाहृत यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययम् ईश्वर:''** (वहीं १२।१५.) वो उत्तम पुरुष परमात्मा है. वो भी इस शरीरके भीतर है. पर वो है कि **''लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययम् ईश्वर:''** धर्मका कर्ता वो एक कोओपरेटिव् क्षेत्रकी बात है. कोई प्राईवेट् क्षेत्रकी बात नहीं है. तो वो कई प्रकारके कोर्पोरेशन्से ये सारा धर्मका अनुष्ठान हो रहा है. इसमें कोई ऐसा सोचे कि मैं कर्ता हूँ तो **''अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते''**(भग.गीता.३।२७) ये तो सारा एक कोर्पोरेशन् मिल करके ये काम कर रहा है. इसमें कोई एक न तो कर्ता है और न अकर्ता है. ये जो शरीरके सारे सदस्य है ये सब मिलकर धर्मका काम कर रहे हैं. ये इस प्रश्नका उत्तर है.

(भक्तिमें भागवतधर्म भक्तिप्रपत्तिद्वारा परमात्माका देवीकरणात्मक धर्मरूप होता है अत: भक्त्यंगतया धर्मादिपुरुषार्थ भी 'भक्ति' पदसे वाच्य होते है)

अब यदि आप मुझे थोड़ा समय और दे दो तो इस धर्मके बाद भक्ति है. विस्तारसे तो नहीं कह सकूँगा क्योंकि

मुझे पता था कि भक्तिका विस्तार करूँगा तो अभी छ सात दिन विषय और चल सकता है. इसीलिए ऊपर कहे विषयोंके बीच-बीचमें निरंतर भक्तिके बारेमें भी आपको बताता रहा हूँ. इसलिए अलगसे उसका विस्तार नहीं करके महाप्रभुजीके और भागवतके हिसाबसे केवल एक बात आपको समझाना चाहूँगा कि धर्म अर्थ काम मोक्ष के भीतर यदि आप भक्तिको भर दोगे, जैसे धर्मके भीतर आप भक्तिको भर दोगे तो वो भक्ति न रहकर भक्तिधर्म हो जायगी. अर्थके भीतर भरोगे तो वो भक्ति भक्ति नहीं रहकर अर्थ हो जायगी. कामके भीतर भक्तिको भरोगे तो वो भक्ति न रहकर कामपुरुषार्थ हो जायगी. और मोक्षके भीतर यदि आप भक्तिको भरोगे तो भक्ति भक्ति न रहकर मोक्षपुरुषार्थ हो जायगी. इन चारोंको जब आप भक्तिके अंगतया अनुष्ठान करोगे तो ये चारों फिर भक्ति ही है. महाप्रभुजी यहाँ तक कहते हैं कि भक्तका संसार भी भक्ति ही है. भक्तका सोना उठना खाना विवाह करना सब भक्ति है. शर्त केवल इसमें एक है कि वो भक्त है कि नहीं? भक्त है कि नहीं वो कैसे पता चलेगा? वो पता चलेगा कि तेरा भगवान् कौन है ये बता. भगवान् कौन है? इसकी शर्त ये हैं कि भजन क्या कर रहा है ये बता. क्योंकि भजन ही ब्रह्मको भगवान् बनाता है. जहाँ उधर वो भगवान् बनाता है, इधर वो ही भजन भक्त बनाता है. तो भक्तिमें ये सारे पुरुषार्थ आ जाने चाहिये. भक्ति इनमें नहीं आनी चाहिये. सारांशमें महाप्रभुजीका भक्तिके बारेमें ये ही मत है.

(प्रवचनोत्तर पूरक अंश)

हमने देखा कि स्वभाव प्रभाव कर्म व्यवहार नीति धर्म के जो संकीर्ण वृत्त हैं उनमें भक्तिका श्रेष्ठतम स्वरूप घिर नहीं पाता है, क्योंकि भक्तिका स्रोत न तो शरीरके कर्म-ज्ञानात्मक व्यपारोंमेंसे उभरता है और न शरीरी चेतनाके स्वरूपसे ही. भक्तिका मूल स्रोत परमात्मा है. अत: न तो स्वभावजन्य न प्रभावजन्य न कर्मजन्य न व्यावहारिक हेतु न नीतिबन्धनके वश भक्ति की जाती है. धर्मानुष्ठानतया की जाती भक्तिका श्रेष्ठ आदर्शरूप माना जा सकता है.

भक्ति क्या है? उधर भजनीय परतत्त्वके ब्रह्म-परमात्मारूपी बाह्याभ्यन्तर पहलुओमें अपने भजनीय भगवान्की खोज करनेवाली रिरंसा है. इधर जीवात्माके साथ प्रभावजन्या क्रिया और ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदिसे जन्य कर्म व्यवहार नीति धर्म को भगवान्की सर्ग-विसर्ग-स्थान-पोषण-ऊति-मन्वन्तर-ईशानुकथा रूपी लीलाओंमें प्रकट होनेवाली अवान्तरलीलाके रूपमें निहार पानेकी अभिरुचि है. जैसाकि उपनिषद्में कहा गया **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा तत्त्वमसि''** (छान्दो.उप.६।८।७) दृश्यमान इदन्ता और द्रष्ट्रगत अहंताको एकात्मा/परमात्मा के साथ तादात्म्य-भावापन्न बना कर एक अद्भुत ज्ञान इच्छा और प्रयत्न द्वारा होता अनुभाव भक्ति है.

इस भक्तिके अनेकविध औपनिषदिक आगमिक पौराणिक मानसशास्त्रीय रसशास्त्रीय और अध्यात्मशास्त्रीय आयाम

समझमें आते है.

(१) सर्वप्रथम औपनिषदिक-आगमिक आयाम भक्ति देखना हो तो उसे न केवल ज्ञानरूपा या न केवल स्नेहरूपा माना जा सकता है, **''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिकः स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः''** लक्षणके अनुसार ज्ञानपूर्वक स्नेह होनेसे ज्ञानप्रयुक्त अथवा स्नेहप्रयुक्त कर्म व्यवहार नीति या धर्मकी भक्ति निरासिका नहीं होती बल्कि उन्हे अंगतया अपनेमें समेटनेवाली बन जाती है.

भक्तिका घटक ज्ञान माहात्म्यज्ञान अपने माहात्म्यशाली ज्ञेयके बाहर किसी नाम-रूप या कर्म दिखानेके बजाय भीतर दिखलाता है. श्रीकृष्णके विराटरूपमें अर्जुनको जैसे समग्र दृश्य ब्रह्मांड और द्रष्टा अर्जुन भी दिखलाई देने लगा. इसे उपासनार्थ कल्पित सर्वात्मकता अथवा बाधितार्थ की अनुवृत्ति मानना **''न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगम् ऐश्वरम्''-''नाहं वेदैः न तपसा न दानेन न च इज्यया शक्य एवंविधो द्रष्टुं,...भक्त्या तु अनन्या शक्यः अहमेवंविधो...ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च''** (भग.गीता.११।८-५४) भगवान्के द्वारा प्रदत्त एवं उपदिष्ट दिव्यदृष्टि एवं उपदिष्ट अनन्यभक्ति का प्रत्याख्यान हो जाता है.

भक्तिका घटक सुदृढसर्वतोऽधिकस्नेह भी भजनीयेतर विषयोंके बारेमें रही स्नेहमयी वृत्तिओंका निवर्तक होनेके बजाय उन्हे अपने अंगतया अंगीकार करके चलता है. इसे

'सर्वात्मभाव' कहा गया है. उपनिषद् और भागवतमें **''न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं पियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति''** (बृह.उप.२।४।५) और **''अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः''** (भाग.पुरा.३।९।४२) अतः परमात्मप्रेम जागतिक अनेकानेक प्रेमभावोंका समेकित रूप सिद्ध होता है.

(२) भक्तिके दूसरे आयामको देखना हो तो वह जीवचेतनामें अनुभूत विषयोल्लेखिनी ममतास्पद इदंता आत्मोल्लेखिनी अहंता का **''सर्वं खलु इदं ब्रह्म''** (छान्दो. उप.३।१४।१) वचनोक्त समेकीकृत रूप भक्ति है. जहां दृश्य द्रष्ट्रात्मक और द्रष्टा दृश्यात्मक, भोग्य भोक्त्रात्मक और भोक्ता भोग्यात्मक, कर्ता कार्यात्मक और कार्य कर्त्रात्मक बन जाता है. अतएव उपनिषद् कहता है **''अहम् अन्नम् अहम् अन्नम् अहम् अन्नम् अहम् अन्नादो अहम् अन्नादो अहम् अन्नादः''** (तैत्ति.उप.३।१०।६) इसे बहुत आधुनिक शब्दावलीमें कहना हो तो माइन्ड्का मटीरियल् होना और मॅटर्का मेन्टल् होना हम कह सकते है. यह विलक्षण मानसिकताकी उपलब्धि है जो मानसशास्त्रीय आयाम भक्तिका है.

(३) भक्तिका तीसरा पौराणिक आयाम देखना हो तो वह मानसिकता न होकर अनुष्ठानात्मक कर्म व्यवहार नीति और धर्म के रूपोंमें प्रकट होता है. अतः भक्ति अपने भजनीयका भक्तके कायिक वाचिक मानसिक तीनों पहलुओंको भजनीयके साथ निरन्तर ज्ञानेच्छाप्रयत्नपूर्वक जुडे

हुवे रखनेका श्रवण-कीर्त-स्मरण, अर्चन-वंदन-पादसेवन और दास्य-सख्य-आत्मनिवेदनके प्रकारसे नवधा भक्तिरूप बन जाता है.

(४) भक्तिका चौथा आयाम कर्मसाधना और ज्ञानसाधना से इस अर्थमें भिन्न हो जाता है कि कर्मसाधना देव और याजक तथा ज्ञानसाधना ज्ञेय और ज्ञाता के परस्पर सहभावसे सम्पन्न होती हैं. जबकी भक्तकी भक्ति भजनीयकी साक्षात् उपस्थिति या साक्षात् अनुपस्थिति दोनों ही सम्भावनाओमें सम्पन्न हो पाती है. भजनीय भगवद्रूपके परोक्ष होनेपर श्रद्धाके रूपमें, अपरोक्ष होनेपर प्रेमके रूपमें. महाप्रभु अतएव कहते है **''ज्ञानं तु गुणगानं परोक्षे तत् प्रतिष्ठितं प्रत्यक्षे भजनं श्रेष्ठम्''** (त.दी.नि.३।१०।१११) तथा **''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेद् यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापि इति मतिः मम''** (भक्तिवर्धिनी-९) इसी तरह **''अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यम्''** (चतुश्लोकी-४) यह भक्तिका रसशास्त्रीय आयाम है. क्योंकि रसशास्त्रमें स्नेहको संयोग-विप्रयोगात्मक माना गया है. भक्तिमार्गीय भजन हो या स्मरण हो दोनोंका स्नेहात्मक होना सर्वथा अनिवार्य है. अतः भक्ति भजनीयकी परोक्षता या अपरोक्षता, उभयथा सम्भव होनेसे कर्मसाधना और ज्ञानसाधनाके स्वयंमें अन्तर्भाव करनेमें सक्षम होनेपर भी पृथक्तया प्रस्तुत होती है.

(५) भक्तिके पांचवे आयामको परखना हो तो यह उल्लेखनीय हो जाता है कि भजनीय भगवद्रूपको आश्रय

और अंशी माननेके कारण आश्रित अंश तत्त्वतः अंशीमें स्वभावतः समर्पित रहता होनेपर भी भावात्मक प्रयत्नसे समर्पित होता है. अर्थात् जैसे स्वतः संचालित श्वासोच्छ्वासको भी प्राणायामद्वारा इच्छातन्त्र भी चलाया जाता है. कहीं स्वतः ब्रह्माश्रित अपनी अहंता-ममताको पुनः भक्तके ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नद्वारा भजनीयको समर्पित करनेको अथवा उसका प्रेमपूर्वक भजनीय भगवदर्थ विनियोजन करना है. तदर्थ स्वयं अपने परिवारजनोके साथ स्वयंके गृहमें स्वकीय तनु-वित्तका भगवत्सेवार्थ विनियोजन आवश्यक बन जाता है. भक्तिका यह आयाम महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य प्रवर्तित पुष्टिभक्तिसम्प्रदायमें भक्तिसाधनाका एक प्रमुखतम पहलु है. गौणकल्पतया, कथाभक्ति मर्यादाभक्तिगत सप्तविधाभक्ति शरणागति एवं तीर्थयात्राकी तुलनामें. अतः यह वल्लभसांप्रदायिक आयाम भक्तिका है.

(६) इन सभी आयामोको जिसमें समाविष्ट या समायोजित किया जा सके ऐसा तात्त्विक आयाम भागवतके एकादशस्कन्धमें निरूपित हुआ. उन चार श्लोकोंका यहां प्रतिदिन मंगलाचरणके रूपमें हमने पारायण किया. इन चार श्लोकोमें भक्तिभावके आधारपर धर्म अर्थ काम मोक्ष का प्रतिपादन हुआ है :
यथा :

(क)<u>भागवतभक्तिमार्गीय धर्म</u> : इसे कुछ विस्तारसे समझ लेना आवश्यक है, जीवात्माकी अहंता ज्ञानमार्गीय साधनामें एकान्तिकतया द्वितीयतारहित होकर ब्राह्मिक एकतामें विलीन

हो जाती है. कर्ममार्गीय साधनामें कर्मके निष्काम अनुष्ठानमें ममतापर नियन्त्रण सिद्ध हो जाता है परन्तु अहंता तो कर्मसाधनामें कर्मके निज कर्तव्य होनेकी आधारभूमि बनती होनेसे दृढ ही रहती है. कर्म और ज्ञान के समुच्चयके कल्पमें साधनाकालमें एग्रीवेट् करवाकर सिद्ध दशामें उसे नि:शेष बना देनेका उपक्रम हो पाता है होमियोपेथीकी औषधिकी तरह. भक्तिमार्गमें तीनोंमेंसे कोई भी इतिकर्तव्यता उपयोगी अंग नहीं बनती. क्योंकि भक्तिमार्गमें अहंता न तो त्याज्य होती है और न जीवचेतनाकी परिच्छिन्नतामें बन्धी हुई ही रह जाती है. भक्तिमार्गमें निजी अहंतामें परमात्माका अंशितया संप्रत्यय उस पारमात्मिक संप्रत्ययमें निजात्माका अंशतया संप्रत्यय अपेक्षित है. एतदर्थ भक्तिसाधनामें जो धर्मतया अनिवार्य बन जाता है वह न तो अहंताका त्याग है और न अहंताका एकान्तिकभोग ही, वह तो अंशरूपा जीवचेतनामें भासित होता अहंताका अंशी परमात्माके प्रति समर्पणका भाव है. वह तत्त्वत: श्वासोच्छ्वासकी तरह स्वभावसिद्ध होनेपर भी, प्राणायामके ज्ञान इच्छा एवं प्रयत्न द्वारा ही केवल नहीं अपितु अंशाशीमें स्वभावसिद्ध रतिके द्वारा भी समर्पणकी प्रक्रिया है. एतदर्थ परमात्माके भीतर जैसे अंशिभूत कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्य है उसी तरह अंशभूत जीवात्माके भी समर्पणके लिये कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यका प्रयोग है. अपनी अहंताको इस तरह परमात्माको समर्पित करनेकी प्रक्रिया भगवद्गीतामें शरणागतिके रूपमें प्रतिपादित हुयी है : **''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया**

दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते''– ''सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'' (भग.गीता.७।१४–१८।६६) अतएव प्रकृत मंगलाचरणके प्रथमश्लोकमें कहा गया है कि काया वाणी, उपलक्षणतया अन्य भी इन्द्रियों, और मन अथवा बुद्धि के अनुसारी स्वभावसे भी जो क्रिया जीवचेतनासे जुड़े स्थूल या सूक्ष्म शरीरमें प्रकट होती हो, अथवा ज्ञान इच्छा प्रयत्न और रति के कारण जो कर्म व्यवहार नीति धर्म या गौणी भक्ति करती हो उन्हे परम नारायणको समर्पित करना धर्म है. यह समर्पण भय–पराजय या स्वार्थमूलक न होकर जीवात्मा और परमात्माके बीच रहे सहज दास्यभाव सख्यभाव या आत्मपरमात्मभाव पर आधारित आत्मसमर्पण है. अतएव उपलक्षणविधया महाप्रभु कहते है **''पुष्टिमार्गे हरे: दास्यं धर्म:''**

(ख) भागवतभक्तिमार्गीय अर्थ : पूर्वोक्त समर्पणरूप भक्तिमार्गीय धर्मानुष्ठानार्थ अपेक्षित अर्थके रूपमें न तो आत्यन्तिक अहंतास्पद अंशरूपा जीवात्मचेतना पर्याप्त है और न अंशिरूप आत्यन्तिक तत्तास्पद परमात्मचेतना हि. क्योंकि दोनोंमें आत्यन्तिक द्वितीयताका अभिनिवेश यदि हो तो श्रुतिप्रतिपादित **''द्वितीयाद् वै भयं भवति''** (बृह.उप.१।४।२) भीतिका उपचार हो नहीं पाता. यद्यपि श्रुतिमें द्वितीयको भयहेतु माना गया है परन्तु भागवतपुराण इस 'द्वितीय'को द्वितीयाभिनिवेशके अर्थमें लेना चाहता है क्योंकि स्वयं श्रुतिमें **''स द्वितीयम् ऐच्छत्, स आत्मानं द्वेधापातयत्''** (बृह.उप. १।४।३) कहा गया है. अत: अंशरूपा जीवचेतना और

अंशिरूपा परमात्माचेतना के बीच रहे तादात्म्यमें श्रद्धा-रति द्वितीयाभिनिवेशको शिथिल बना देती है. अत: सृष्टिरूपा परमेश्वरकी लीलामें अंशीकी विस्मृति तथा अंशके आत्यन्तिकतया द्वितीय होनेका अभिनिवेश निवृत्त होकर एक (अनन्य) भक्तिद्वारा उस परमतत्त्वका गुरुतया देवतया और निजात्मतया भी भान होने लगता है. इस तरह भासित होता परमात्मा स्वयं भक्तिमार्गीय अर्थ होता है. महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अतएव कहते हैं **''अर्थो हरिरेव हि''** (वृत्रा.चतु.का.) यद्यपि यह भक्तिमार्गीय अर्थपुरुषार्थ तत्त्वात्मना अवस्थित है कृत्यात्मना नहीं. ऐसी स्थितिमें उसे पुरुषार्थतया स्वीकारनेमें जो अनुपपत्ति स्फुरित होती है उसे तत्त्व और कृत्य के बीच आत्यन्तिक भेद माननेके दुराग्रहको छोडकर **''वदन् वाक् पश्यन् चक्षु: श्रुण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मन: एतानि कर्मनामानि एव''** (बृह.उप.१।४।७) उपनिषत्प्रतिपादित द्रव्य और क्रिया के बीच तादात्म्य स्वीकारनेपर तत्त्वरूप परमात्मा भी पुरुषार्थतया कृत्यभी बन ही सकता है.

(ग) <u>भागवतभक्तिमार्गीय काम</u> : महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते है **''कामो हरि: दिदृक्षैव''** (वहीं) 'दिदृक्षा' यानि दर्शनकी कामना. वह दर्शन भक्त्यात्मक भी हो सकता है, साधनावस्था या फलावस्था में और परेशानुभवात्मक भी. साधनावस्थामें परोक्षानुभूतिरूप और फलावस्थामें अपरोक्षानुभूतिरूप. परमात्माको इस तरह अनुभव कर पाने, स्नेह कर पानेकी कामनाके वश होती भूमासुखकी प्रतीतिमें आरंभिक साधनावस्थामें **''यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति''** (छान्दो.उप.७।२३।१) अनुभूति निषेधात्मक होनेपर भी, अन्तत: फलावस्थामें **''आत्मैव अधस्ताद् आत्मा उपरिष्टाद् आत्मा पश्चाद् आत्मा पुरस्ताद् आत्मा दक्षिणत: आत्मा उत्तरत: आत्मैव इदं सर्वं इति, एवं पश्यन्.. एवं विजानन् आत्मरति:...आत्मानन्द: स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति''** (छान्दो.उप.७।२५।२) यह भागवतभक्तिमार्गीय काम पुरुषार्थ है. इस कामपुरुषार्थकी सिद्धि अहंता-ममतास्पद सकल वस्तुओको ब्रह्म परमात्मा भगवान् को समर्पित करनेकी प्रपत्ति है उस प्रपत्तिके प्रेरणार्थ कहा गया है **''प्रपद्यमानस्य यथा अश्नत: पुष्टि: तुष्टि: क्षुदपायो अनुघासम्''** (भाग.पुरा.११।२।४२)

(घ) <u>भागवतभक्तिमार्गीय मोक्ष</u> : महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य भक्तिमार्गीय मोक्षके बारेमें कहते हैं **''मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम्''** (वृत्रा.चतु.सुबो.) तथा **''अत: सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयो: स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यं''** (चतुश्लोकी-४) इस विधानमें प्रस्तुत मंगलाचरणकी चौथी कारिकाका अनुरणन सुना जा सकता है. **''इति अच्युतांघ्रिं भजतो अनुवृत्त्या...परां शान्तिम् उपैति साक्षात्''** (भाग.पुरा.११।२।४३) भक्त जब सर्वात्मना भगवान्का बन जाता है. अतएव महाप्रभु कहते है भक्तिमार्गमें भक्तका अहंता-ममतात्मक संसार भी मुक्तिरूप होता है **''भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया भगवत्कृपासहितगृहाश्रम: एव विशिष्यते''** (त.दी.नि.१।५१)

इसमें लक्ष्यमें रखने लायक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य

यही है कि जीवात्माकी देश-काल-स्वरूपमें परिच्छिन्नचेतनामें अवभासित होते स्वस्वभाव, परप्रभाव, ज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्य कर्म, स्वपरोपाधिक कर्मरूप व्यवहार, परव्यक्ति/समुदायाहित न हो जाय ऐसी सावधानीवाली नीति, शास्त्रोक्त देशकालकर्ताद्रव्यमन्त्रकर्मके विहिताविहितनिषिद्धका विवेक अथवा तो किसी धर्म-देवकी अनुगामितारूपा भक्तिमें विविधस्तरोंपर आत्मा और परमात्मा के बीच ऐच्छिक लीलार्थ प्रभेदको निभाते हुए भी आत्यन्तिक प्रभेदके दुराग्रहवाली बौद्धिकता और भावनाशीलता पर जब हम संयम बरतें हैं तब प्रकट हो पाती है. यह अपने परिसीमित ही सही कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यके वश प्रयोगमें लानेपर शक्य बनता है. धर्मार्थकाममोक्षका समायोजन भी भलीभांति निभ पाता है. अन्यथा असमायोजित ये चारों पुरुषार्थ, पुरुषार्थ न रह कर अनर्थजनक ही सिद्ध होते है.

(महाप्रभुजीके अनुसार धर्मादिका स्वरूप)

जहाँ तक धर्मार्थकाममोक्षका प्रश्न है तो महाप्रभुजी कहते हैं कि एक बार भी आपने भक्तिको यदि पुरुषार्थ माना तो ''**सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप: स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्य: क्वापि कदाचन**'' (चतुश्लोकी-१) भजन ही हमारा धर्म है, पर इसका अर्थ ये नहीं है कि हमारा भजनमें अधर्म अनुमत है. धर्म कभी ऐसा नहीं हो सकता है कि जो अनीतिमय हो. नीति कभी ऐसी नहीं हो सकती है कि जो अव्यावहारिक हो. व्यवहार कभी ऐसा नहीं हो सकता है कि जो कर्मके रहित हो. कर्म कभी ऐसा नहीं

हो सकता है कि जो किसीके प्रभावके बिना प्रकट होता हो. और प्रभाव कभी ऐसा नहीं हो सकता कि जो आपका मूल स्वभाव है उसके बिना प्रकट हो पाये.

जब हम ये कह रहे हैं कि भजन हमारा धर्म है तो ये सारी बात उसमें पीछेसे आ रही है. इसलिए मैनें पहले दिनके अपने प्रवचनमें मैनें ये बात बताई कि हमारे ब्रेनके भीतर आर्-कोम्पलेक्स् है. उसके ऊपर लिम्बिक् सिस्टम् है और उसके ऊपर निओ-कोरटेक्स् है. उस नीओ-कोरटेक्स्के ऊपर भी एक फ्रन्टल लॉब है जो कि बन्दरमें नहीं था और इन्सानमें आ गया है. वो हिस्सा जहाँसे हम पगड़ी बाँधते हैं. बन्दरके सिर पर पगड़ी बाँधना थोड़ा टेड़ा काम है. क्योंकि उसके ये हड्डी नहीं होती है. प्रकृतिने हमें ये हड्डी केवल पगड़ी बाँधनेके लिए नहीं दी है बल्कि फ्रन्टल् लॉब् उजागर करनेके लिए दी, जिससे हम इन सारी बातोंका अच्छी तरहसे समायोजन कर सकें. यदि ये समायोजित नहीं हैं तो ये हड्डी घिस जायगी और फिर ये सिर चपटा होकर हमको नरमेंसे वानर बना देता है. सुभाषितमें इसीलिए कहा गया है कि ''**मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानरा: शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वै नरा:.**'' हम वानर हैं या नर हैं उसकी पकड़ बस ये फ्रन्टल् लॉब् डेवलप् होना चाहिये जो नीओ-कोरटेक्स्के ऊपर है. फ्रन्टल् लॉब्का फंक्शन् इन सारे पुरुषार्थोका समायोजन करना है. असमायोजित पुरुषार्थ नहीं रहने चाहिये. क्योंकि जब पुरुषार्थ असमायोजित होते हैं तो

कुछ न कुछ उपद्रव होता ही है. कहीं न कहीं हम इन्सानियतसे फिर हैवानियतकी तरफ जा रहे होते हैं.

‘‘बस कि दुश्वार हरेक कामका आसां होना
आदमीको भी मयस्सर नहीं इन्सां होना’’

आवश्यकता आदमीको इन्सान होनेकी है. इन्सानको आदमी तो बनाया ही है भगवान्ने आदमकी औलादके रूपमें. पर उस आदमीको इन्सान बनना बहुत जरूरी है. इन्सान होनेमें ये पुरुषार्थोका समायोजन ही आदमीको इन्सान बनाता है. जिसके पुरुषार्थ असमायोजित होते हैं वो इन्सान पहले आदमीके पद पर पतित होता है फिर वो हैवानके पद पर चला जाता है. हमारे भीतर कितने प्रतिशत हैवानियत है कितनी आदमीयत है और कितनी इन्सानियत है, वह हमें निश्चित करना चाहिये. ऐसा करनेसे हमारे भीतर दैवीभाव या ब्राह्मीभाव प्रकट होगा. **‘‘सर्वं खलु इदं ब्रह्म’’** सब कुछ ब्रह्म है चाहे इन्सान हो, हैवान हो चाहे आदमी हो या फिर देव हो. सब कुछ ब्रह्म है इसमें तो कोई संदेह नहीं.

आपने इतने धीरजसे ये वक्तव्य सुना इसका उपकार तो माननेकी मेरी आदत नहीं है. क्योंकि न तो आपने कुछ मेरा काम किया है और न मैनें आपका कुछ काम किया है. अपन सबने मिलकर महाप्रभुजीके सिद्धांतोंका अवगाहन किया है जो आपका भी कर्तव्य है और मेरा भी कर्तव्य

है. अपन दोनोंका शेयर् पचास पचास प्रतिशतका है और सौ प्रतिशत शेयर्की व्यवस्था महाप्रभुजीने हमको दी है. उसके अपन आधे शेयर होल्डर है. सौ प्रतिशत तो शेयर केवल उनका है. इसलिए मैं उपकार तो नहीं मानता. न मैं आपसे अपेक्षा रखता हूँ कि आप मेरा उपकार माने. आप मेरा उपकार मानेंगे तो आप फिर अपना पचास प्रतिशत शेयर् अपना छोड़ रहे हैं. जिस आचार्यचरणकी वाणीका अपनने अवगाहन किया है उसके आश्रयका पद गान करके अपन इस शिविरको यहाँ समाप्त करेंगे.

दृढ़ इन चरनन केरो भरोसो.
श्रीवल्लभनखचन्द्रछटा बिन सब जग मांझ अंधेरो भरोसो..
साधन और नहीं या कलिमें जासों होत निवेरो.
सूर कहा कहे द्विविध आंधरो बिना मोलको चेरो..
भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो.

परिशिष्ट

धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष–भक्ति पुरुषार्थोंका समायोजन
(भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके अनुसार)

(उपक्रम)

धर्मविज्ञान या तत्त्वविज्ञान सम्बन्धी आर्ष या श्रौत चिन्तनमें जिन दो या तीन पदार्थोंका सर्वाधिक महत्त्व दिखलाई देता है वे हैं : [१]यज्ञ [२]तपस् और [३]ब्रह्म. पुरुषार्थचतुष्टयका वाचक 'यज्ञ' शब्द पाणिनिधातुपाठके अनुसार देवपूजन संगतिकरण/सत्कार और दान के अर्थोंमें प्रयोज्य माना गया है. परन्तु निरुक्तकार यास्कके द्वारा निर्दिष्ट इस अर्थके वाचक पंदरह पर्यायों और चतुर्विध निरुक्तियों, यथा, **''यज्ञो वेनो अध्वरो मेधो विदथो नार्यः सवनं होत्रा इष्टिः देवताता मखो विष्णुः प्रजापतिः इन्दुः धर्मः''–''यज्ञः कस्मात्? प्रख्यातं यजतिकर्मा... याच्ञो भवति, यजुर्भिः उन्नो भवति, यजूंषि एनं नयन्ति''**(निरु.३।४।१९) इनके आधारपर इसके अभिधेयार्थका क्षेत्र बहोत विस्तृत दृष्टिगत होता है. इसी तरह 'तपः' शब्द भी अनेक अर्थों, यथा, सन्ताप ऐश्वर्य आलोचना आदि अभिप्रायोंके अनुसार प्रयोज्य होता माना गया है. 'ब्रह्म' शब्द भी आधार, विस्तार, अपरिच्छिन्नता, वाणी या परमतत्त्व आदि अनेकानेक अर्थोंका वाचक माना गया है.

इन तीनोंके अभिधेयार्थके बारेमें, वाल्लभदर्शनकी शब्दप्रयोगरीतिके अनुसार कुछ कहना हो तो इन 'यज्ञ-तपो-ब्रह्म'पदोंके 'प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल सभी रूप होते हैं. पाश्चात्य पदावलीमें कुछ कहना हो तो ये प्योर् मेटाफिसिकल् कन्सेप्ट्स् भी हैं

और रिलीजियस् कन्सेप्ट्स् भी. यों ये तीनों पद विपुल शास्त्रोंमें उपलब्ध होते अनेकविध परस्पर विरोधी विधानों या प्रक्रियाओं में अन्तर्निहित तात्त्विक एकसूत्रताको उद्घाटित करनेवाली कुंजियां भी हैं. यही कारण है कि अग्रिम अट्ठारहवें अध्यायमें सभी आश्रमोंमें यज्ञदानतपोरूप कर्मका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ऐसा सुस्पष्ट शब्दोंमें **''निश्चयं शृणु मे तत्र... यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्. यज्ञो दानं तपः चैव पावनानि मनीषिणाम्''** (भग.गीता.१८।४-५) कहते हैं. यहां 'वर्णाश्रमिणाम्' न कह कर 'मनीषिणाम्' कहा इससे प्रत्येक वर्ण तथा प्रत्येक आश्रम में यज्ञकर्म दानकर्म और तपःकर्म के स्वरूप यथाशास्त्र जैसे अलग-अलग होते हैं, वैसे ही अवर्णाश्रमिओंके भी मनीषी होनेपर अलग-अलग होंगे ही. ऐसा न माननेपर या तो अवर्णाश्रमी मानवसमुदायको मनीषी होनेपर भी आत्मोद्धारके अधिकारसे वंचित मानना पड़ेगा; अथवा, जिस धर्म और उसके विधायक शास्त्रोंके अध्ययनका अवसर या अधिकार ही जिन्हें उपलब्ध न हो उनको भी अधिकारितया मान्य रख कर शास्त्राज्ञाओंके अवहेलना करनेवाले मानना पड़ेगा ये दोनों ही कल्प भगवद्गीतोक्त **''समो अहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्यो अस्ति न प्रियः''–''शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः... निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः''** (भग.गीता.९।२९-५।१८-१९) इन ब्राह्मिक स्वरूप तथा ब्रह्मदर्शीके स्वरूप से सर्वथा विरुद्ध जाते हैं. अस्तु.

आर्ष जीवनप्रणालीमें यज्ञानुष्ठानकी असाधारण महिमा थी. सोचा जा सकता है कि, इसीलिये, ऋषियोंकी चिन्तनप्रणालीमें भी यज्ञको उपमान बना कर उसे सर्वत्र निहारनेकी वृत्ति प्रकट हुयी होगी.

सम्भावना एक यह भी सोची जा सकती है कि आर्ष चिन्तनप्रणालीमें सृष्टिके कार्य-कारणोंके स्वरूप, उपादान-निमित्तरूप हेतु अथवा कृति-प्रयोजन आदि के तात्त्विक रूपोंके प्रति निजी संवेदनशीलताके अनुरूप श्रद्धावभात होती यज्ञरूपताकी अन्तःस्फुरणाके वश, और अनुष्ठेय धर्ममें भी वैसी मौलिक महिमाके आधानार्थ उसे 'यज्ञ' कहना-मानना ही उचित लगा होगा.

इनमें द्वितीय सम्भावना मुझे अधिक बलवती लगती है. क्योंकि ऋक्संहिता हो या यजुस्संहिता हो, सर्वत्र सृष्टिके निर्माता और उसकी निर्मिति का यज्ञ और यज्ञकर्ता के रूपमें प्रतिपादन मिलता है. इतना ही नहीं प्रत्युत यज्ञाधिष्ठाता देवरूप अग्निको भी सर्वरूप मान कर उसकी पार्थिव अभिव्यक्तिको भी यज्ञवेदिमें परमात्माके रूपमें निहारा गया है :

''यत् पुरुषेण हविषा देवाः यज्ञम् अतन्वत... देवाः यद् यज्ञं तन्वानाः अबध्नन् पुरुषं पशुं... पुरुषं जातम् अग्रतः. तेन देवाः अयजन्तः साध्याः ऋषयः च ये. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं पृषद् आज्यम्. पशून् तान् चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यान् च ये. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे... यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्.''

''इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निम् आहुः, अथो दिव्यः स सुपर्णोगरुत्मान्. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानम् आहुः.''

''अग्निम् ईळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवम्, ऋत्विजं, होतारं रत्नधातमम्.''

(ऋक्संहि.१०।९०।६-९, १।१६४।४६,१।१।।१).

इन श्रुतिवचनोंमें सृष्टिकर्ता सृजनक्रिया और सृष्टिप्रयोजन के रूपोंमें यज्ञकर्ता यज्ञानुष्ठान यज्ञरूपतासिद्धिरूप प्रयोजन स्पष्ट झलक रहा है. यज्ञात्मक कर्मके अनुष्ठानार्थ यज्ञदेव यज्ञपुरोहित यज्ञफलदाता ही नहीं प्रत्युत इतर भी सभी देवताओंकी यज्ञदेवात्मकता भी दिखलायी गयी है. साथ ही साथ यज्ञका विष्णु(=सर्वव्यापी) होना और विष्णुका यज्ञ(=कर्म)रूप होना भी घोषित है.

अतः देश-काल-स्वरूपात्मना अपरिच्छिन्न उस एक परमतत्त्वके देश-काल-स्वरूपात्मना परिच्छेदयुक्त अनेकभावापन्न होना ही यज्ञात्मिका एक तात्त्विक प्रक्रिया है. इसी तरह भूतकालिक वर्तमानकालिक भविष्यत्कालिक या त्रैकालिक रूपोंमें अनेकभावापन्न सत्यकी कालातीत एकात्मकताके अनुसंधानार्थ देश-काल-स्वरूपात्मना परिच्छिन्न पुरुषकी अभ्यर्थनाके वश अनुष्ठित होते कर्म/धर्म होना भी यज्ञका रूप माना गया है.

'तप' भी एकके अनेकवद्भावापन्न होनेकी प्रक्रियाके अंगतया प्रतिपादित हुवा है. वह अनेकवद्भावापन्न होनेकी प्रक्रिया अनालोचित स्वभावोपात्त या आकस्मिक प्रक्रिया नहीं है, यह जतानेको सृष्टिनिर्माणके सन्दर्भमें ही तपका निरूपण भी वेदोंकी संहिताओं और उपनिषदों में भी हम पाते हैं. अतएव ऐसे निरूपण इन महत्त्वपूर्ण मुद्दोंकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं :

''तमः आसीत् तमसा गूढम् अग्रे. अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आ इदं तुच्छ्येन आभु अपिहितं यद् आसीत्. तपसः तद् महिना अजायत एकम्.''

''स तपो अतप्यत स तपः तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च.''

''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत्. तद् आत्मानमेव अवेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति. तस्मात् तत् सर्वम् अभवद्. तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तद् अभवत्, तथा ऋषीणां, तथा मनुष्याणाम्''

(ऋक्संहि.१०।११।१२९,तैत्ति.उप.२।६, बृह.उप.१।४।१०).

एतावता 'तपः' शब्द भी केवल प्रायश्चित्तरूप सन्तापरूप या शारीरिक कष्टसाध्य प्रयास रूपी अनुष्ठेय धर्म न हो कर अनेकवद्भावापन्न सृष्टिके अपने मौलिक स्वरूपमें रही एकमेवाद्वितीय पदार्थकी सृष्टिनिर्माणानुकूल मौलिक विमर्शात्मक तत्परता भी है. इसे ही ब्रह्मोपादानक जागतिक पुरुषोंकी ब्राह्मिकी अवस्थाके रूपमें भी समझाया गया है (तुल.याज्ञ.स्मृ.१।१९८-२०३). और उसका देवोंसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सभीके लिये श्रद्धात्मक स्वीकार, स्वप्रयत्नोपार्जित बोध और अन्तमें साक्षात्कार या ब्रह्मानुभूति के रूपमें फलित होना भी मान्य रखा गया है.

(भगवद्गीतोक्त यज्ञतपोदानका ब्राह्मिक आयाम)

भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायमें वेदोपनिषदोंमें प्रतिपादित इन यज्ञ दान तप और उनके ब्राह्मिक समायोजनकी अतीव मनोरम व्याख्या मिलती है. इन तीनों पदोंका अवलंबन कर हमारे अनेक पुरुषार्थोंको कैसे समायोजित करना उस बारेमें कुछ महत्त्वपूर्ण संसूचन

यह अध्याय प्रदान करता है. इसका संपिण्डित स्वोपज्ञ रूप भी अध्यायान्तमें उपदिष्ट हुवा है. इन शब्दोंमें :

'''[क]ॐ [ख]तत् [ग]सद्' इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः, ब्राह्मणाः तेन वेदाः च यज्ञाः च विहिता पुरा. [क]तस्माद् ॐ इति उदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनां, [ख]'तद्' इति अनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाः च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः, [ग]सद्भावे साधुभावे च 'सद्' इत्येतत् प्रयुज्यते प्रशस्ते कर्मणि तथा 'सत्'शब्दः पार्थ युज्यते, यज्ञे तपसि दाने स्थितिः 'सद्' इति च उच्यते. कर्म चैव तदर्थीयं 'सद्' इत्येव अभिधीयते. अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस् तप्तं कृतं च यत् 'असद्' इति उच्यते पार्थ नच तत् प्रेत्य नो इह''.

(भग.गीता. १७।२३-२८).

ब्रह्मके इन तीन निर्देशोंमें सर्वप्रथम [क]ॐकार 'अ+उ+म्=ॐ' तीन ध्वनियोंका एकीकृत रूप है. प्रसिद्ध ही है कि अकार वैखरीनादके आदिम कण्ठरूप उद्भवस्थानीय स्पृष्टप्रयत्नद्वारा प्रकट होनेवाली आदिम ध्वनि है. मकार अन्तिम अधरोष्ठरूप उद्भवस्थानीय स्पृष्टप्रयत्नद्वारा प्रकट होती अन्तिम ध्वनि है, क्योंकि मकारके उच्चारणार्थ अधरोष्ठके एकदूजेसे जुड़ कर बंद हो जानेपर किसी भी शब्दका उच्चार शक्य नहीं रह जाता. उकार मध्यपाती अधरोष्ठरूप उद्भवस्थानीय विवृतप्रयत्नद्वारा प्रकट होनेवाली मध्यपाती ध्वनि है, क्योंकि उकारके उच्चारणार्थ न तो पूर्णतया मुख बंद करना आवश्यक होता है और न पूर्णतया खुला रखना ही.

अतएव आदिमध्यावसानवाले प्रत्येक पदार्थोंके समेकित स्वरूपका वाचक यह एकाक्षर ॐकार बन जाता है. इन्हें स्वभाव-कर्म-कालरूपा ब्राह्मिकी शक्ति, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्ररूप अधिदेव, सत्त्व-रज-स्तमोरूप प्रकृतिगुण, उत्पत्ति-स्थिति-लयरूप भावविकार, भूर्भुवस्स्वर्लोकत्रयी, ज्ञातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वसामर्थ्यवान् जीवात्मा या निश्चय-संशय-भ्रमरूपा बुद्धिवृत्तियां आदि अनेक त्रैतघटित पदार्थोंके समेकित एक ब्राह्मिक स्वरूपका वाचक यह ॐकाररूप एकाक्षर बन जाता है **''ॐ इति ब्रह्म, ॐ इति इदं सर्वम्''** (तैत्ति.उप.१।१६).

द्वितीय [ख]'तत्' निर्देश यद्यपि परोक्षवस्तुका वाचक सर्वनाम है. जहां तक, परन्तु, ब्रह्मका प्रश्न है उसे परोक्ष मानना या साक्षाद् अपरोक्ष मानना? इस दुविधाका समाधान ब्रह्मके उभयरूप होनेके कारण अशक्य माना गया है. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्में आता है कि उषस्त चाक्रायणने ब्रह्मका साक्षाद् अपरोक्ष वेरीफिकेशन करना या जानना चाहा. समाधानतया, किन्तु, याज्ञवल्क्यने कहा **''एष ते आत्मा सर्वान्तरः... न दृष्टेः द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुयाः, न मतेः मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञातेः विज्ञातारं विजानीयाः एष ते आत्मा सर्वान्तरो''** (बृह.उप.३।४।१-२) अर्थात् स्वयंकी द्रष्टृता=आत्मसाक्षात्कारमें जो उसका अपरोक्ष साक्षात्कार पहचाना न जाता हो तो उसका दृश्य पदार्थोंमें अपरोक्ष साक्षात्कार सर्वथा दुःशक हो जाता है. क्योंकि स्वयं द्रष्टाकी दृष्टिसामर्थ्यतया ही उसे अन्वित माना गया है. अतएव केनोपनिषद्में भी **''यत् चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, न इदं यद् इदम् उपासते''** (केनोप.१।६) कहा गया है. अतएव **''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्. स**

आत्मा. तत् त्वम् असि'' (छान्दो.उप.६।८।७) उपदेशके पूर्वांशमें 'इदं'पदसे अपरोक्षता और 'सर्वम्'पदसे परोक्षताकी तरह 'तत्'पदसे उसकी परोक्षता और 'त्वं'पदसे अपरोक्षता भी प्रकट की गयी है, दोनोंके बीच आत्मतादात्म्यके उपदेशद्वारा. अतएव बृहदारण्यकोपनिषद्के **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे : मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च, मर्त्यञ्च अमृतञ्च, स्थितञ्च यच्च, सच्च त्यञ्च... अथातः आदेशो 'न'-इति 'न'-इति, नहि एतस्माद् इति 'न' इति अन्यत् परम् अस्ति. अथ नामधेयं 'सत्यस्य सत्यम्' इति. प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एष सत्यम्''** (बृह.उप.२।३।१-६) कहा गया है. अतः परोक्षापरोक्षवस्तुओंकी तरह परोक्षापरोक्षबोधके भी मूलाधार होनेके रूपमें 'तत्' यह ब्रह्मका निर्देश सिद्ध होता है.

ब्रह्मका तृतीय निर्देश [ग]'सत्' पूर्वोल्लिखित ''सत् च त्यं च'' में प्रयुक्त सृष्ट्यन्तःपाती वस्तुके वाचक 'सत्' पदसे भिन्न है. यह छान्दोग्योपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रयुक्त **''सद्-एव... इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय''-''असद् वा इदम् अग्रे आसीत्. ततो वै सद् अजायत. तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत''** (छान्दो.उप.६।२।१,तैत्ति.उप.२।७) इन और ऐसे श्रुतिवचनोंमें निर्दिष्ट ब्रह्मनाम है.

इन सभी श्रुतिवचनोंको एकसूत्र करनेको ही भगवानने् गीतामें है :

''द्वौ इमौ पुरुषौ लोके क्षरः च अक्षरएव च. क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षरः उच्यते (द्रष्ट.''यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति अव्यक्तो अक्षरः इति आहुः तम् आहुः परमां गतिं, यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्.

धाम परमं मम'' भग.गीता.८।२०-२१). उत्तमः पुरुषस्तु अन्यः 'परमात्मा' इति उदाहृतः. यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्यय ईश्वरः. यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः, अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः. यो माम् एवम् असंमूढो जानाति पुरुषोत्तमः स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन.''

(भग.गीता.१५।१६-१९).

जिसे बृहदारण्यकोपनिषद्में ''अन्यत् परम् अस्ति'' कहा वही यहां 'पुरुषोत्तम' पदसे अभिप्रेत है. अर्थात् परिसीमित अंशरूप क्षरपुरुष और अक्षरपुरुष की अपरिसीमित अंशिरूपा वह समष्टि है.

पुरुषोत्तमकी यह पुरुषोत्तमता केवल क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम होनेके सीमित अभिप्रायवश नहीं है. क्योंकि क्षरपुरुषमें अक्षरपुरुष कूटस्थ उपादानतया आश्रयभावापन्न हो कर अन्तर्निहित होता है. उसी तरह अक्षरपुरुषको अपना धाम बना कर उसमें पुरुषोत्तम भी अन्तःस्थित माना गया है. अतएव परम अंशी पुरुषोत्तमको जान पानेवालेको भगवान् 'सर्वविद्' कह रहे हैं. इसीलिये अपने भजनकी इतिकर्तव्यताके रूपमें भी 'सर्वभाव'पूर्वक किये जाते भजनपर भार दे रहे हैं. अर्थात् क्षर या अक्षर के बीच अन्यतर मान कर नहीं. शिवपुराणमें भी, अतएव, शिवकी पुरुषोत्तमतया भजनीयता प्रतिपादित करने **''निर्गुणाय नमः तुभ्यं पुनश्च सगुणाय च पुनः प्रकृतिरूपाय पुनश्च पुरुषाय च पश्चाद् गुणस्वरूपाय नमो विश्वात्मने नमः''** (शिवपुरा.५।११।२८) ऐसी सर्वभावनियामिका विश्वात्मता निरूपित की गयी है.

(सतरहवें अध्यायमें प्रतिपाद्य उपदेश)

इन सारी बातोंके सारतत्त्वतया यह विवक्षित है कि ''ॐ तत् सत्'' इन ब्राह्मिक निर्देशोंके श्रद्धारहित क्रियाचारणरहित बोधरहित एवं भावरहित मात्र उच्चारणके कर्मकाण्डसे हमारी स्वभावजन्यक्रिया, प्रभावजन्यक्रिया, ज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्यकर्म, व्यवहार, नीति, धर्म, मुक्ति या भक्ति; अथवा, धर्मपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ कामपुरुषार्थ या मोक्षपुरुषार्थ आदि सब भलीभांति समायोजित या व्यवस्थित हो जायेंगे, ऐसा मान लेना तो प्रत्यक्षबाधित कथा होगी.

उदाहरणतया, क्योंकि, भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंके बारेमें क्षराक्षरांशी पुरुषोत्तम होनेके ज्ञानको असंमूढताके रूपमें बिरदा रहे हैं, एतावता श्रीकृष्णमूर्तिका पुरुषोत्तम होनेके रूपमें सर्वभावेन, जैसे कोई भजन करता हो, ऐसे ही दूसरा कोई उसी पुरुषोत्तमका भजन लाभपूजाकी अभिवृद्धिके प्रयोजनवश व्यावसायिक प्रदर्शनार्थ प्रतिष्ठापित श्रीकृष्णमूर्तिका भजन भी तो कर ही सकता है. ऐसे भजन करनेवालेको, परन्तु, असंमूढ नहीं प्रत्युत अतिसंमूढ ही मानना उचित होगा क्योंकि परब्रह्म परमात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका ऐसा भजन न तो यथाविधान है, न फलाकांक्षारहित और न भगवदर्थ ही भगवद्भजन है (द्रष्ट. अमृतवचनावली क्र.सं.१/ख, ४/क, ६.८, ९ और १०). अतः ऐसे पुरुषोत्तमके भजनको अर्थ-कामप्रयुक्त दम्भलोभादि दोषोंवाला तथा मनोनिगूढ राजस-तामस आसुरभावकी अभिव्यक्ति ही मानना योग्य है. जैसे आधुनिक युगमें हम वल्लभवंशज आचार्योंको अपनी संततीके विवाहव्ययोपार्जनार्थ, नयी कार आदि सुखसुविधाके निर्वाहार्थ, अथवा नया घर बसानेको, छप्पनभोग भागवतकथा या व्रजयात्रा के मिथ्या आडम्बरोंवाला

श्रीकृष्णभजन प्रदर्शित करने विवश होना पड़ता है.

फिरभी वैयक्तिक चौखटकी परिसीमाओंमें उभरते बोध आकांक्षा प्रयत्न मनोभावों में घिर कर किसी पुरुषार्थ या अनर्थ के आचरणमें रत होनेपर, बुद्धिशाली पशुके रूपमें परिभाषित मानवको भी, अपनी पशुताके घेरेसे बाहर निकल पानेका अवसर ही प्रदान नहीं करता. अतएव शिवपुराणमें भी ''**धर्माद् अर्थो, अर्थतो भोगो, भोगाद् वैराग्यसम्भवः, धर्मार्जितार्थभोगेन वैराग्यम् उपजायते. विपरीतार्थभोगेन रागएव प्रजायते**'' (शिवपुरा.१।१३।५०-५२) कहा गया है. कर्मका यज्ञरूपेण, परन्तु, अनुष्ठान 'यज्ञ'पदके विविध अर्थोंका प्रेरक अवश्य बन पाता है. अतएव भूतयज्ञ मनुष्ययज्ञ पितृयज्ञ देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ मानवको उसके निवासस्थलरूप देश, वर्तमान काल, और वैयक्तिक स्वरूपकी मर्यादाकी चौखटसे बाहर निकलनेकेलिये प्रेरक हो सकते हैं. देखा जा सकता है कि मनुष्येतर प्राणिओंका या परिवारेतर मनुष्योंका अपने गृह या देश बसनेवाले होना आवश्यक नहीं. अतः इनके प्रति अपने कर्तव्यबोध और सेवाभाव से प्रयुक्त धर्माचरणमें वैयक्तिक वर्तमानकालिक देशमर्यादाओंमें घिरे व्यक्तिको उससे बाहर लानेका एक लघुतम उपक्रम बन सकता है. प्रत्येक प्राणिसमुदाय आनुवंशिकतया किन्हीं संस्कार या वासनाओंके घेरेमें घिरा तो रहता ही है. मानवसमुदाय, परन्तु, यदि भूतकालीन पितरोंके प्रति भी यदि अपना कुछ कर्तव्यबोध या कर्तव्यभाव निभा पाता हो तो अपने भूतकालीन इतिहाससे वह सर्वथा अनजान नहीं रह पायेगा. और वह वर्तमानकी क्षुद्र परिधिको लांघ कर कर्तव्यनिर्धारण क्षमता पनपा सकनेवाली कथा होगी. देवताओंका स्वरूप पूर्वसिद्ध और भाविसाध्य के

प्रभेदवश भिन्न माना गया है. अतः वह मानवको देवरूपताकी प्राप्तिका प्रेरक बन भविष्यत्कालीन कर्तव्यबोध और कर्तव्यभावों के प्रति भी सभान बनायेगा. यों भूत वर्तमान और भविष्य कालके तीनों ही तत्तद् आयामोंके प्रति सभान बनानेका उपक्रम पंचविध यज्ञोंके अन्तर्गत भूत प्राणि मनुष्य और देव के यज्ञोंमें क्रियान्वित होता है. ब्रह्मयज्ञ मानवको तीनों कालके समाहृत अर्थात् त्रैकालिक सनातन मूल्योंके प्रति सभान बना पाता है. अतएव यज्ञानुष्ठानके अन्तर्गत यजमान देवताओंसे जगत्कल्याण और आत्मकल्याणकी याचना करता है, इसी तरह यजमानसे जनता सामाजिक सत्कार और कल्याण चाहती है, यह पौराणिक कथाओंमें पढ़ा जा सकता है. अतः देवपूजा सत्कार और दान के रूपोंमें यह यज्ञोंके स्वरूपमें गुंफित कर दिया गया है.

इन यज्ञ और दान रूप कर्तव्योंके निर्वाहमें तपोरूपता उभरे बिना रह नहीं सकती.

यह यहां अवधेय है कि स्वशास्त्रोक्त इन यज्ञ-तपो-दानका स्वरूप सर्वदेश सर्वकाल सर्वजनोंके लिये एक सा मान कर अपने समुदाय या अपने शास्त्रोंसे अनुमोदित धर्मपुरुषार्थ अर्थपुरुषार्थ कामपुरुषार्थ मोक्षपुरुषार्थ या भक्तिपुरुषार्थ अलावाके अन्य सारे रूपोंको अधर्म अनर्थ निषिद्धवासना बन्ध या अभक्ति मान लेनेमें तो इतरजनोंके प्रति द्वेष-मात्सर्य-कलहकारी अपने अहंकारका ही संवर्धन-परिपोषण होगा, पुरुषार्थोंका नहीं. अतएव भगवद्गीताके प्रस्तुत सतरहवें अध्यायमें इस ओर श्रद्धाके सात्त्विक राजस और तामस प्रकारोंमें ''**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति... श्रद्धामयो अयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः सएव सः**'' (वहीं १७।३) स्वीकार कर उसके

स्वभावप्रयुक्त उत्कर्षापकर्षके निरूपणके साथ-साथ श्रद्धारहित होनेपर सर्वविध निरर्थकता भी दिखलायी गयी है. सात्त्विकी राजसी या तामसी किसी भी प्रकारकी श्रद्धासे रहित होनेपर, स्पष्टतम शब्दोंमें **''अश्रद्धया हुतं दत्तं तपः तप्तं कृतं च यद् 'असद्' इति उच्यते पार्थ नच तत् प्रेत्य नो इह''**(वहीं : १७।२८) विधानद्वारा यज्ञ-दान-तपके स्वाभीष्ट उत्कृष्ट प्रकारोंसे भिन्न तथाकथित अपकृष्ट प्रकारोंकी विभिन्न श्रद्धाओंसे प्रयुक्ततया मान्य रख कर उन्हें सर्वथा निरर्थक नहीं मानती. और इस तरह देखा जा सकता है इतराविरोधेन स्वकर्तव्यमें तत्पर होना अपने विभिन्न पुरुषार्थोंको समायोजित रखनेका सर्वप्रथम उपक्रम सिद्ध होता है. अतएव **''धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः सनातनाः श्रद्धावतां हि सिद्ध्यन्ति''** (नारदी.पुरा.४।१९) सदृश अन्य भी श्रद्धामाहात्म्यके प्रतिपादक वचनोंमें सत्त्वानुरूपा श्रद्धाका सिद्धान्त कभी भुलाना नहीं चाहिये.

(श्रद्धात्रयविभाग स्वयंके मार्गचयनार्थ है नकि दूसरोंके साथ प्रतिस्पर्धार्थ द्वेषार्थ या कलहार्थ)

ब्राह्मिक तत्त्वचिन्तन और सदाचार के बारेमें अब्राह्मिक चिन्तकोंको यह बात सर्वदा खटकनेवाली लगती है कि यदि कोई साधना या आस्था का प्रकार परमार्थतः सत्य है तो वह सर्वदेश सर्वकाल और सर्वजन साधारण क्यों नहीं? ॐकारकी सर्वरूपताका निरन्तर जप करनेके बाद भी ॐकारका मूलाभिप्राय उनके हृदयमें प्रकट नहीं हो पाता अतः जैसे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-भक्तिरूप पुरुषार्थोंकी साधना परस्पराविरोधेन होनी आवश्यक है, ऐसे ही अपने अभीष्ट प्रकारसे भिन्न प्रकारकी साधना या आस्था के साथ अविरुद्धतया अनुष्ठानकी ब्राह्मिकी श्रद्धा पनप नहीं पाती तो, वह भी

भगवद्गीताके प्रमुखतम उपदेश्य आदर्शकी असह्य-अक्षम्य अवहेलना प्रतीत होती है.

मनुष्येतर आकीटस्तम्बेरम सभी प्राणियोंमें अपनी-अपनी कामनासंतुष्टिके उपायके बारेमें अर्थ और उसमें बाधकके बारेमें अनर्थ होनेकी अवधारणाकी तरह, सुखप्रदके काम्य और दुःखप्रदके अकाम्य होनेकी अवधारणाकी हेतुभूत पृथक्करण करनेवाली विवेकबुद्धि सहजसिद्ध रहती है. इन अर्थ-कामके, संनिहित देश-कालमें अनुभूयमान स्वरूपसे उभर कर असंनिहित देश-कालमें भी सम्भावित रूपोंका विवेक कर पानेकी क्षमता संनिहित देश-कालस्थित सुखोंमें निरूढ़ आसक्तिको क्षीण बना देती है. अतएव मनुस्मृतिकार कहते हैं **''अर्थकामेषु असक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते''** (मनुस्मृ.२।१३). अभिप्राय यही है कि धर्मकी कसौटीपर खरे उतरनेपर ही सर्वप्राणिसाधारण अर्थ-कामका अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ के रूपमें उदात्तीकरण हो पाता है. क्योंकि व्यक्तिचेतनाके साथ जुड़ी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके विकाररूप चित्त अहंकार मन बुद्धि प्राण इन्द्रियादिके कारण चेतनामें भी औपाधिक त्रिगुणात्मकता तो पनप ही जाती है (द्रष्ट.भाग.सुबो.३।२६।१९-५०). अतएव जब भी कहीं-किसीके बारेमें चेतनाके भीतर श्रद्धाशीलता प्रकट होती हो तो उसमें औपाधिक स्वभावसिद्ध त्रिगुणोंमें से किसी एक गुणकी प्रधानता और अपर दो गुणोंकी अप्रभावशालिता रहती है. अतः, श्रद्धानुभूति और श्रद्धास्पदकी स्वीकृति के कारण, हमारे ज्ञान इच्छा और प्रयत्नों का अप्रभावित रह पाना शक्य नहीं रह जाता. फलरूपेण हमारे कर्म व्यवहार नीति धर्म मुक्ति या भक्ति का त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके अनुसार ही

धर्म्याधर्म्यका विभाग और आभ्यन्तर स्वीकृतिमें धर्माधर्मका विभाग अपने किसी स्वरूपमें ॐकारकी परिधिसे बाहर नहीं जा पाता. एतदर्थ इस श्रद्धात्रयविभागके आधारतलके रूपमें कुछ भगवद्गीतोक्त सूत्रोंको बुद्धिगत कर लेना उपयोगी लगता है :

१.''अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावो अध्यात्मम् उच्यते, भूतभावोद्भवकरो विसर्गः 'कर्म'सञ्ज्ञितः, अधिभूतं क्षरो भावः, पुरुषः च अधिदैवतम्, अधियज्ञो अहमेव अत्र देहे देहभृतां वरः''(८।३-४).

२.''सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकां कल्पक्षये पुनः तानि कल्पादौ विसृजाम्यहं प्रकृतिं स्वाम् अवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः भूतग्रामम् इमं कृत्स्नम् अवशं प्रकृतेः वशात्. नच मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति... उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु. मया अध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरं हेतुना अनेन... जगद् विपरिवर्तते''(९।७-१०).

३.''ये चैव सात्त्विका भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि नतु अहं तेषु ते मयि. त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः सर्वम् इदं जगत् मोहितं न अभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययम्'' (७।१२-१३).

४.''भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तया अपहृतचेतसां व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते. त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भव''(२।४४-४५)''

५.''यज्ञार्थात् कर्मणो अन्यत्र लोको अयं कर्मबन्धनः तदर्थं कर्म... मुक्तसंगः समाचर. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा उवाच प्रजापतिः अनेन प्रसविष्यम् एष वो अस्तु इष्टकामधुक्... तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्. सर्वेऽपि एते यज्ञविदो यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्. नायं लोको अस्ति अयज्ञस्य कुतो अन्यः?''(३।९-१५,४।३०-३१).

६.''सर्वकर्माखिलं... ज्ञाने परिसमाप्यते... उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनो... येन भूतानि अशेषेण द्रक्ष्यसि आत्मनि अथो मयि. अपि चेद् असि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि... ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा. नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते... श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः...''(४।३४-३८).

७.''दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते''(७।१४).

८.''मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते सगुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते.''(१४।२६).

ब्रह्म अध्यात्म कर्म अधिभूत अधिदेव और अधियज्ञ के बारेमें प्रश्नकर्ताकी जिज्ञासाके अनुरूप समाधान भी उसी क्रमानुसारी है :

१.पांच तत्त्वोंका पृथक्-पृथक उपन्यास यहां किया गया है कि कौन क्या है. तदन्तर्गत अध्यात्मका स्वभावतया निरूपण त्रिगुणात्मक अन्तःकरण प्राण और बाह्येन्द्रिय आदिकी उपाधिके वश जीवात्माके गुणबन्धनके हेतुतया किया गया है.

२.द्वितीय वचनमें समग्र अधिभूतोंके उपादानतया अपनी स्वाधीन त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको और निमित्तभूत स्वतन्त्र गुणातीत कर्ताके रूपमें स्वयंको ही भगवान् गिना रहे हैं, एतावता सृष्टिमें श्रद्धा बुद्धि यत्न और तज्जन्य पुरुषार्थोंके प्रभेदोंके अनन्यहेतुके रूपमें न

प्रकृति (अथवा माया/शैतान/इच्छास्वातन्त्र्य), न जीवात्मा; और कुछ नहीं स्वयं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ परमात्मा ही विवक्षित है. इन सबका, परन्तु, प्रतीत्यसमुत्पाद ही विवक्षित लगता है. क्योंकि अंशी-उपादान ब्रह्मका यह आंशिक विपरिवर्तन रूपी उत्पात ब्रह्ममें अंशात्मना घटित होता होनेपर भी स्वयं अंशी ब्रह्म इस परिच्छेदमें बंधता तो नहीं है. अर्थात् सैर-सपाटेके लिये पर्वतारोहण करनेपर शरीरके चरण आदि अंगोंको होता परिश्रम अंगीको जैसे दुःखी नहीं बनाता वैसे ही. और अंशरूप जीवात्माओंको भी इससे त्राण, अतएव, यथोक्त ब्राह्मिक ॐतत्सत्के अवधान करनेपर शक्य बन जाता है अन्यथा नहीं. अतः इसे सर्वथा अजाति अविकृतपरिणाम विकृतपरिणाम संघातारंभ या विवर्तपरिणाम के उपमानोंमें तोला नहीं जा सकता.

३.इस त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके कारण प्रकट होते सात्त्विक राजस या तामस भावोंके प्राकट्यकर्ता तो स्वयं भगवान् ही हैं फिरभी स्वयं आत्मसृष्ट गुणोंके आधीन नहीं होते यह भी दरसाते हैं. निष्कर्षरूपेण अंशरूप जीवात्मा जो इन प्राकृत गुणोंसे अभिभूत हो जाता है, वह अपने जैसा यदि अंशिरूप परमात्माको भी मानता हो तो, वह वैसी आंशिक मति इन प्राकृत गुणोंके चमत्कारसे मोहित ही होनेके कारण प्रकट हो जाती है.

४.वचनमें भगवान्, अतएव, चित्तापहारक इन गुणोंके बन्धनसे प्रकट होनेवाले अहंकारके पोषक ऐश्वर्य और ममताके पोषक विषयभोग से उभर कर कर्मयोग ज्ञानयोग प्रपत्तियोग अथवा भक्तियोग में ब्राह्मिकता प्रकट करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं. ताकि विभिन्न पुरुषार्थोंका समायोजन भलीभांति जीवात्माके लिये शक्य हो

पाये. एतावता धर्मार्थकामपुरुषार्थोंकी प्रासंगिकता जैसे जीवात्माके त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके विकाररूप बाह्याभ्यन्तर करणोंकी उपाधिपर अवलंबित है, ऐसे चतुर्थ मोक्षपुरुषार्थकी प्रासंगिकता उन प्राकृत क्रियाज्ञानोपकरणोंसे उपहित कर्तृ-क्रियाकरणजन्य कर्मात्मा और ज्ञातृ-ज्ञानकरणजन्य ज्ञानात्मा से पृथक् शुद्धचैतन्यात्माके त्रिगुणातीत स्वरूपपर अवलम्बित होती है.

५.स्वयं सृष्टिकर्ता द्वारा जो सृष्टि प्रकट हुयी वह एकमेवाद्वितीयात्मा द्वारा आत्माद्वैतमें आत्मयाजनकी प्रक्रियाके वश उभरा ऐच्छिक द्वैत है ‘‘**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना**’’ (भग.गीता.४।२४)न्यायेन अतः सृष्टिमें भी जो ऐसी ब्राह्मिकतासे सम्पन्न यज्ञदानतपः कर्मोंका निभाता हो तो कर्मसे भी, ज्ञानवादियोंकी हठवादिताग्रस्त धारणाके विपरीत, सर्वगत नित्य ब्रह्मको प्रतिष्ठापित कर ब्रह्मप्राप्ति शक्य बन जाती है. यह त्रिगुणप्रवर्तक होनेपर भी त्रिगुणातीत होनेके समष्टिके अनुरूप व्यष्टिको बरतनेका ‘ॐतत्सत्’ का ही धर्मार्थकाममोक्षके समायोजनका कर्ममार्गीय या कर्मयोगका उद्‌बोधन है.

६.कर्मवादी भले केवल कर्मानुष्ठानके सातत्यपर भार देते हों जैसे ज्ञानवादी ‘‘ऋते ज्ञानाद् न मुक्ति’’ को एकान्तिक सत्य मानते हैं. भक्तिवादी भी इसी तरह भक्त्यैकलभ्यतापर भार देते हैं परन्तु विश्वरूप दरसाते हुवे भगवान्‌ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो भक्तिसे शक्य है वही भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिद्वारा भी शक्य है. अन्यथा द्वेषभाववालोंको हुवे भगवत्साक्षात्कारके सारे पौराणिक उपाख्यानोंको मिथ्या मानना पड़ेगा इससे सृष्टिकर्ता सृष्टिके उपादानभूत ब्रह्मकी सामर्थ्यको इयत्तामें परिसीमित करनेके अलावा अन्य कोई ब्राह्मिक

आयाम प्रकट नहीं हो पाता. जो ॐ हो वह तत् न हो सकता हो और तत् हो सत् न हो सकता हो तो, ब्रह्मका त्रिविध निर्देश या तो परस्परव्याहत होनेके कारण सामानाधिकरण्यसे रहित हो जायेगा, अथवा तीनों ही सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परव्यावर्तक हो जायेंगे. अतः पुरुषार्थसमायोजनकी प्रक्रियाके अन्तर्गत विविध श्रद्धाओंके कर्मश्रद्धा और ज्ञानश्रद्धा के बीच एकतर श्रद्धाके जड़ पक्षधर बने बिना इतरेतरसहिष्णु होना भगवद्‌गीताके सतरहवें अध्यायमें उपदिष्ट आदर्शरीति है. भगवद्‌गीतामें अतएव यज्ञदानतपोरूप कर्मसाधनामें ॐतत्सत् जैसे अविस्मरणीय है वैसे ही ब्रह्मज्ञानसाधनामें भी ॐतत्सत् अविस्मरणीय माना गया है. ज्ञानीके भी सभी पुरुषार्थोंको समायोजित रखनेको. अन्यथा ''अहं ब्रह्म अस्मि'' में ही यदि ब्रह्मके बजाय रुचिभार या काकु अहंपर आता हो तो हम देख गये हैं कि चेतनामें अहन्ता प्राकृत विकार अहंकारोपाधिक होनेके कारण वैसी अहंकारोपाधिक अनुभूति त्रिगुणपरिधिमें घिरी हुयी ही रहती है त्रिगुणातीत हो नहीं पाती.

७.इस वचनमें भगवान्‌ने यह स्पष्ट ही कर दिया है कि त्रिगुणप्रवर्तक त्रिगुणातीत भगवान्‌की शरणागतिके बिना त्रिगुणात्मिका मायाके पार जाना शक्य नहीं है. अतः अपने शरणागत जीवको भगवान् स्वयं कर्मसाधना या ज्ञानसाधना के बिना मुक्त करने जो समर्थ न हों तो भगवान् भी मायाके अधीन सिद्ध होंगे. तब तो सृष्टिके निर्माणार्थ भी माया, भगवान्‌के आधीन रहनेके बजाय भगवान्‌को आधीन बना कर सृष्टिकी निर्मात्री सिद्ध होगी अन्तमें 'मामेव' और 'निजात्मानमेव' प्रयोगोंके बीच रहे पार्थक्यकी कुछ तो गंभीरता ध्यानमें रखनी ही चाहिये. क्योंकि स्वयं भगवान्‌ने भी पंचम

वचनमें यह तो स्वीकारा ही है कि ''यज्ञार्थात् कर्मणो अन्यत्र लोको अयं कर्मबन्धनः.'' अतः कर्मका एकान्तिक रूपमें बन्धनकारी होना गीताभिप्रेत प्रक्रिया नहीं लगती. क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिकी उपाधिके आधीन जो कर्म आत्माकी कर्तृताका बहाना बना कर प्रकट होते हैं उनका कर्ता स्वयंको मानना भगवान्‌के अनुसार गुणसंमोह है. अतः स्वयं कर्ता ही यदि न हो तो ऐसा कर्म बन्धनरूप हो नहीं पायेगा. अन्यथा अन्यकृत कर्म भी बन्धन होने लगा तो ज्ञान भी उन कर्मोंके मलसे आवृत हो कर मुक्तिप्रदानार्थ सक्षम नहीं रह जायेगा **''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः अहंकारविमूढात्मा कर्ता अहम् इति मन्यते''** (भग.गीता.३।२७). अतएव भगवान् यह भी कहते हैं कि **''मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अध्यात्मचेतसा... ये मे मतम् इदं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः श्रद्धावन्तो अनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः. येतु एतद् अभ्यसूयन्तो न अनुतिष्ठन्ति मे मतं सर्वज्ञानविमूढान् तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः''** (भग.गीता.३।३०-३२) अतएव कर्मको बन्धनरूप मानना भी एक प्राकृत विकारप्रयुक्त बन्धन सिद्ध होता है. एतावता यज्ञदानतपोरूप कर्मोंकी अपरिहार्यता अनुक्तसिद्ध होती होनेपर भी अतएव यज्ञदानतपको कर्मांगतया या ज्ञानांगतया प्रपत्त्यंगतया अथवा भक्त्यंगतया निभानेपर तो ब्राह्मिक सन्दर्भ ही उजागर होता है, प्राकृत वैकारिक सन्दर्भ नहीं. अतएव भगवान् सभीके लिये एक ही बात समझाना चाहते हैं **''निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे... यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्. यज्ञो दानं तपः चैव पावनानि मनीषिणाम्. एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्तव्यानि इति मे... निश्चितं मतम् उत्तमं, नियतस्य तु संन्यासो**

कर्मणा नोपपद्यते. मोहात् तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः'' (भग.गीता.१८।४-७). स्पष्ट है कि यह नियति किसी अधिकारीके लिये श्रद्धाधिगत-शास्त्रसे नियत होगी तो किसीके लिये स्वभावनियत भी. अतएव भगवान्ने ''**यतः प्रवृत्तिः भूतानां येन सर्वम् इदं ततं स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः... स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषं, सहजं कर्म... सदोषमपि न त्यजेत्. सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेन अग्निरिव आवृताः**''(भग.गीता.१८।४६-४८) स्पष्टीकरण दे ही रखा है.

८.इसका अपवाद तभी सम्भव है जब भगवान् स्वयं किसी जीवात्माका शरणागत या भक्त के रूपमें वरण करते हों. अन्यथा जीवात्माकी साधनानुष्ठानौपयिक अहन्ताके शिथिल हो कर सर्वेशांशी भगवान्के प्रति अभिमुख होनेपर अर्थात् ईश्वर ही प्राणिमात्रके भीतर अन्तर्यामिके रूपमें बिराजमान सभी जीवात्माओंको यन्त्रारूढ पुरुषकी तरह साधु/असाधु कर्ममें प्रवृत्त करता हो तो, अपनी अहन्ताके बलपर किये जाते या छोड़ दिये जाते सदसत्कर्मोंकी कोई प्रासंगिकता लगनी बंद हो जाती हो तो, निःसाधनभावपूर्वक भगवत्-शरणमें आ जाना ही एकमात्र अवलम्बनीय कल्प रह जाता है (द्रष्ट.कौषी.उप.३।८, १८।१५-१७,६१-६२). इन कौषीतक्युपनिषद् और गीतोपनिषद् में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जो निर्देशन इस बारेमें दिये गये हैं वे हैं ''**एष लोकपालः एष लोकाधिपतिरेव सर्वेशः स मे आत्मा इति विद्यात्**'',''**सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच**'' (कौषी.उप. ३।८,भग.गीता. १८।६६). वैसे 'शरण'पद गृह रक्षक वध और रक्षण के अर्थोंमें प्रयोज्य होताहै (द्रष्ट.अमरको.रामाश्र.३।३।५५). प्रस्तुत

परन्तु, 'शरण'पद आत्मभिन्न किसी समर्थ रक्षकके बजाय सर्वेशात्मतया रक्षक होनेके अर्थमें ग्राह्यतर लगता है. अतएव शरणगमनके बजाय शरण-आगमनके रूपमें अभिप्रेत है. इसके विपरीत बौद्ध त्रिशरण ''शरणं गच्छामि'' के रूपमें प्रयुक्त हुवा है. अपनी अहन्ताको बुद्ध धम्म और संघ के आधीन बना कर साधनानुष्ठानार्थ प्रेरित होने देना अतः अपरिहार्य नहीं. बौद्ध साधनामें ''**आत्मग्रहो महामोहः प्रथमं तन्निवृत्तितः मम किं नाहमेव इति विरंस्यति ममग्रहः**'' (द्रष्ट.मा.मे.र.श्लो.वा.२८) आदर्शके अनुसार अहन्ता-ममताको निःशेष बनाना प्रयोजन है, नैरात्म्यवादके अनुकूल. इसी तरह उत्तरोत्तर विकसमान शरणागतिका अपर प्रकार शांकर वेदान्ती श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भी प्रतिपादित किया है '''**तस्यैव अहं', 'ममैव असौ' 'सएव अहम्' इति त्रिधा भगवच्छरणत्वं स्यात् साधनाभ्यासपाकतः**'' (भग.गीता.मधुसू.१८।६६). उत्तरोत्तर विकसमान शरणागतिके इस प्रकारमें और वाल्लभ वेदान्ताभिमत प्रकार के बीच प्रभेद क्या? यह समझना हो तो थोड़े क्रमभेदवाला तारतम्य अवलोकनीय है. यथा '''**सएव अहं' च 'तस्य अहं', 'ममैव असौ' इति त्रिधा, शरणागतिर्हि जीवस्य ब्रह्मलीलानुसारिणी**''. अर्थात् मूलतः सब कुछ ब्रह्म ही है न इह नाना अस्ति किञ्चन परन्तु जब वही पुरुषोत्तम लीलया अनेक नाम-रूप-कर्मोंको धारण कर अनेकात्मना प्रकट होता हो तो उसके माहात्म्यबोधतया 'सएव अहम्' श्रद्धा और ज्ञान के प्रयोगद्वारा असंमूढतया उसे जान लेना आवश्यक है. इस माहात्म्यज्ञानका, परन्तु, दुरुपयोग उसकी अनेकभावापत्तिकी लीलाके विलोपनार्थ करनेके बजाय आनुकूल्येन लीलात्मक ऐच्छिक नानात्वके अनुसरणार्थ उचित माना गया है. अतः साधनावस्थामें 'तस्यैव अहं' दैन्य यज्ञदानतपोरूप कर्मके

निर्वाहकी उसकी लीलेच्छाके रूपमें अपेक्षित होता है. पुरुषोत्तमांशरूप जीवात्मा पुरुष, जब ऐसे माहात्म्यज्ञानके वश उस निज अंशीके प्रति अनन्यस्नेहभावसे भी उद्वेलित हो पाता हो तब तो, 'ममैव असौ'का प्रेमात्मक द्वैत प्रिय और प्रेमी के बीच अवभासित होने लगता है. यह प्रेम न तो ब्राह्मिक स्वरूपसे और न ब्राह्मिक लीलासे विरोधमें जानेवाली कथा है. यह तो शरणाऽऽगतिमें उभरी अनन्यताका स्थायिभाव बन कर भगवद्भक्तिके मार्गपर अग्रसर होनेकी कथा प्रकट हुयी है. शरणागतिके अन्तर्गत अपनी अहन्ताके समर्पणके बाद जीवात्मा निज ममताके समर्पणार्थ भी समुद्यत हो जाती है.

अर्थात् पूर्वमें सच्चिदानन्द ब्रह्मके अनेकानेक सदंशों या सच्चिदंशों के साथ जुड़नेके कारण अस्तव्यस्तभावापन्न ममता उस अंशीके साथ जुड़ जानेके कारण, पूर्वकालिक ममतास्पदोंको अधिष्ठानपर मिथ्यारोपकी तरह बाधित माने बिना, अंशीके व्यापक आयाममें स्वयंको अंशात्मना निहारती हुयी अंशीके प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाती है अतः यहां पहुंचनेपर 'ॐ'कारका 'तत्'कारके साथ समायोजन हो कर अन्तमें 'सत्'कारके साथ भी समायोजन फलित हो जाता है.

९.अतएव ऐसे माहात्म्यज्ञानके बाद पनपा सुदृढ़सर्वतोऽधिक स्नेह भक्तिकी निष्कृष्ट परिभाषाके रूपमें मान्य किया गया है. ऐसी भक्ति जिसे सिद्ध हो पाती हो उसके बारेमें भगवान् कहते हैं **''मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते''**(भग.गीता.१४।२६)

यहां यह पुनः स्मारणीय हो जाता है कि ब्राह्मिक निर्देशत्रयीमें

जैसे सकलत्रैतकी समष्टि 'ॐ'कार है, वैसे ही 'तत्'कार और 'सत्'कार भी हैं. अतः मुक्तिदशामें त्रैतसमष्टिके विदेहमुक्तिरूप ऐकान्तिक बाध या द्वैतवासनावश जीवन्मुक्तिरूप या उपासनार्थकल्पित द्वैतरूपा बाधितानुवृत्ति की कल्पना यहां अपरिहार्य नहीं रह जाती है. ब्रह्मभूयस्ता, अतः, ब्राह्मिक स्वरूप और लीला दोनोंके अनुकूल होती है, दोनोंमें से किसीके भी प्रतिकूल नहीं. क्योंकि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको अपने स्वाधीन रख कर ब्रह्म त्रिगुणातीत होनेपर भी त्रिगुणात्मिका लीला जैसे कर सकता है, वैसे ही जीवात्मा भी त्रिगुणातीत होनेपर भी त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके सर्वभावेन भजन करनेमें द्वैत या अद्वैत की एकान्तिकताके बन्धनसे मुक्त हो कर ब्रह्मतादात्म्यके अनुभवार्थ एवं व्यवहारार्थ सक्षम बन जाती है. अगर भक्ति यदि ऐसी अवस्थामें पर्यवसित न हो पाती हो तो पूर्ववर्णित संमूढता ही भक्तिमें भी प्रकट होती माननी पड़ेगी, असंमूढता नहीं. अतएव ऐसे अव्यभिचारिभक्तियोगके द्वारा प्रकृतिके तीन गुणोंसे उभर कर पुनः ब्रह्मभूयस्ताकी प्राप्ति न आत्यन्तिक ब्रह्मता है और न आत्यन्तिक अब्रह्मता ही अतएव ऐसी अवस्थामें त्रिगुणात्मिका प्रकृतिवश मिले प्राकृत उपकरणोंके कारण जो त्रैवर्गिक पुरुषार्थ आयास लगता था और अतएव त्रिगुणातीत निजस्वरूपमें अवस्थित होनेकी छटपटाहट होती थी वह भी इस मोड़पर क्षीण हो जाती है. भागवतमें अतएव कहा गया है **''भगवति तस्मिन् वासुदेवे एकान्ततो भक्तिः अनयोरपि समनुवर्तते, यस्यामेव कवयः आत्मानम्, अविरतं विविधवृजिनसंसारतापोपतप्यमानम् अनुसवनं स्नापयन्तः, तस्यैव परया निर्वृत्त्या हि अपवर्गम् आत्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमेव आसादितं नोएव आद्रियन्ते''** (भाग.पुरा.५।६।१६-१७).

धर्म अर्थ काम मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्टयी भक्तिवशात् भगवल्लीलाका ही अनुभाव बन जाती है. अतः आत्मपुरुषार्थतया अनादरणीय होनेपर भी परमात्मलीलाके रूपमें अनादरणीय नहीं रह जाती. यों पुरुषार्थचतुष्टयीका स्वस्तिक भक्तिकी परिधिमें अन्तर्भूत हो जानेके कारण भक्तिस्वरूपान्तःपाती बन जाता है. वस्तुतः तो सब कुछ भगवदात्मक बन जाता है. क्योंकि भागवतमें यह उल्लेख मिलता है कि सृष्टिके निर्माणके आदेश देते समय भगवान्ने ही यह जता दिया कि **''अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिः यत्कृते प्रियः''** (भाग.पुरा.३।९।४२). महाप्रभु वल्लभाचार्य, अतएव, भगवान्की पंचविध पुरुषार्थरूपता समझानेको एक मननीय विधान करते हैं कि पुरुष प्राणीके लिये सेवनीय रूप पांच प्रकारके होते हैं : [क]स्वात्मा=भक्तिमूल होनेसे भक्तिपुरुषार्थरूप, [ख]स्वदेह=सर्वकाममूल होनेसे कामपुरुषार्थरूप, [ग]स्वधन=सर्वकामसंतुष्टिसाधन होनेसे अर्थपुरुषार्थरूप [घ]ईश्वर= मुक्तिदाता होनेके कारण मोक्षपुरुषार्थरूप और [ङ]नित्यकर्म=धर्ममूल होनेसे धर्मपुरुषार्थरूप. भगवान्के इन पंचविधरूपोंकी व्याख्या करते हुवे एक मननीय स्पष्टीकरण यह भी मिलता है कि **''प्रीतिस्तु भगवद्धर्मो, भगवान् सर्वेभ्यो तं खण्डशो दत्तवान् सुखार्थम्. अतो यत्रैव प्रीयते तत् सुखं भवति...**(सुबो.२।२।७) साथ ही साथ यह और स्पष्टीकरण दिया है कि **''अतः स्नेहः पदार्थान्तरं, स भगवन्निष्ठएव भगवद्विषयको, ज्ञानवद् ऐश्वर्यवद् वा, भगवत्सम्बन्धात् तन्नैकट्याद् वा अन्यत्रापि भासते. उष्णस्पर्शवद् यथा-यथा भगवन्नैकट्यं तथा-तथा स्नेहातिशयः''** (सुबो.१।१९।१६).

(अज्ञे ज्ञानाय शास्त्रज्ञे दम्भदर्पनिवृत्तये ब्रह्मज्ञे मुक्तये मुक्ते भक्त्यर्थं भक्तिरीप्सिता)

एतावता भगवल्लीलादृष्ट्या हमारी प्रीतिके आलम्बन निषिद्धविषय हों या त्रैवर्गिक पुरुषार्थ अथवा त्रिगुणातीत अपवर्ग या मोक्ष, बिना भगवत्प्रीतिके उनका तो अनुष्ठान या सेवन अथवा तद्विषयक उद्यम सम्भव नहीं. अतः इन सभीके भीतर जिस परमात्माकी रति हमारे लिये प्रेरकबल बनती है, ऐसे उस अंशीके प्रति प्रीति व्यापारित हो गयी तो सभीके बारेमें भगवल्लीलादृष्टिका उन्मीलन हो जाता है. अतः आनन्दरूप लीलाभावमें व्यवधान बननेपर अहंता-ममतामूलक कर्तृ-भोक्तृभाव जैसे शोकमोहरूप बनते हैं वैसे बन नहीं पाते. अतएव भगवद्गीताके विश्वरूपदर्शनयोगमें भगवान् विराट्की दिव्यतामें व्यक्तिकी दिव्यताका साक्षात्कार और इसी तरह व्यक्तिकी परिच्छिन्नतामें उस विराट् दिव्यताका साक्षात्कार या तो **''नतु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा दिव्यं ददामि ते चक्षुः''** (भग.गीता.११।८) भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिद्वारा अथवा **''नाहं वेदैः न तपसा न दानेन नच इज्यया शक्यः एवंविधो दृष्टवान् असि मां यथा. भक्त्यातु अनन्यया शक्यः अहमेवंविधो अर्जुनः ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च''** (भग.गीता.११।५३-५४) अनन्यभक्तिद्वारा ही शक्य माना है.

जिन यज्ञदानतपोरूप कर्मोंका त्याग अहंता-ममतामूलक कर्तृ-भोक्तृभावके सन्दर्भमें भगवान् सर्वथा अनुचित मानते हैं उन्हीं यज्ञदानतपोरूप नियतकर्तव्योंका इस दिव्यानुभूतिमें उपयोग स्वीकार नहीं किया गया है. अतएव महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य इस अनन्यभक्तिके वश प्रकट होनेवाला 'ब्रह्मानन्द' कहो पुरुषोत्तमका

'परमानन्द' कहो भजनीय इष्टरूपका 'भगवदानन्द' कहो अथवा भक्तका 'भजनानन्द' कहो बहुत अन्तर नहीं पड़ता पर प्रकट होनेवाला आनन्द दिव्य होता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''आनन्दांशाभिव्यक्तौतु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्''** (त.दी.नि.१।५४). यह भक्तिके पंचम पुरुषार्थ होनेकी सर्वातिशायिनी उपपत्ति है कि जीवात्मा अपनी निजी पहचानको खोये बिना ब्रह्मको न केवल जान या देख पाती है प्रत्युत उसकी दिव्यतामें प्रविष्ट होनेपर भी लीलार्थ प्रकट अपना पृथक् स्वत्व खो नहीं देती. क्योंकि भक्तिकी त्रिगुणातीतता स्वयं जीवात्माके स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं अपितु अनेकविध नाम-रूप-कर्मोंमें लीलाविहार करनेवाले परमात्माके स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहती है.

ऐसी स्थितिमें श्रद्धात्रयी और तत्प्रयुक्त यज्ञ-दान-तपोंके प्रभेदोंके उत्कर्ष या अपकर्ष को देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न ब्राह्मिक सन्दर्भमें लीलादृष्टिसे निहारना और इन्हें देश-काल-स्वरूपपरिच्छेदोंके चौखटमें घिरी दृश्यतया जीवकर्तव्यदृष्टिसे निहारने के बीच रहा लीलाभावप्रयुक्त ऐच्छिक प्रभेद ही विभाजक लीलारेखारूप निकष है. उसके प्रति सभान हो कर स्व-पर धर्मार्थकाममोक्षभक्तिके बाबतमें श्रद्धाविवेक रखना इन्हें समायोजित करनेका दिशानिर्देश नहीं और तो क्या हो सकता है?

(श्रद्धात्रयविभागकी कण्ठोक्त ऋजुता अर्थापत्तिलब्धा अपरिगणनीयता)

सतरहवें अध्यायका आरम्भ अर्जुनकी कुछ ऐसी जिज्ञासाके साथ हुवा है कि जो शास्त्रनिषिद्ध यज्ञदानतपोरूप कर्मोंमें श्रद्धा रखते हों उनकी निष्ठाको सात्त्विक राजस या तामस कैसी मानना? और

भगवान् सभीके स्वस्वश्रद्धाप्रयुक्त यज्ञदानतपोरूप कर्मोंमें निष्ठ होनेकी बात समझा कर, धर्म-अर्थ-काम-मुक्ति-भक्ति रूप पुरुषार्थोंमें जो प्रवृत्त और निष्ठाशील होते हैं उनकी निष्ठाके बजाय श्रद्धाके त्रैतको इदम्प्रथमतया जिज्ञासितव्य मान कर उपदेशारम्भ करते हैं.

इसमें उपदेश्य त्रिगुणात्मिका श्रद्धाओंके प्रकार यज्ञ-देवताप्रकार तपःप्रकार आहारप्रकार यज्ञानुष्ठानप्रकार तपोनुष्ठानप्रकार दानप्रकार यद्यपि उत्तरोत्तरगुणित होनेकी प्रक्रियावश केवल ७२९ ही होते हैं. इनके त्रिगुणातीत ब्राह्मिक प्रकारोंका उपदेश भी दे कर अन्तमें एक प्रकार श्रद्धाविहीन यज्ञकर्ता तपस्वी और दानी का भी समझाते हैं. ऐसे श्रद्धाहीन मनुष्य किसी भी निश्चित प्रकारमें संनिष्ठ न होनेवाले आसुरी प्रकारके होते हैं.

प्राथमिक आशयस्फूर्तिमें ये प्रकार परिगणित लगते होनेपर भी उत्तरोत्तर गुणनकी प्रक्रियाद्वारा इनकी अपरिगणनीयता समझनी आवश्यक है.

सृष्टिके स्वयंके, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके अनेकानेक प्राकृत विकारोंसे चेतनाको घेरनेवाले आवरण या कोशरूप पुर, अनेक बनते हैं. स्वयं इनके भेदोपभेद जब असंख्य हो सकते हों तब इनमें पनपनेवाली सात्त्विकादि श्रद्धाके प्रभेदोंके प्रकार कितने होंगे वैसे ही श्रद्धाधिकरणभूत जीवात्मचेतनाके ज्ञानकरण ज्ञाता और ज्ञेय तथा कर्मकर्ता करण और कार्य के भी अग्रिम अट्ठारहवें अध्यायमें सात्त्विकादि तीन प्रभेद समझाये गये हैं तदनुसार इन औपाधिक प्रभेदोंसे गुणित ही श्रद्धाके प्रकार त्रिविध होनेके बजाय अनेकविध हो जायेंगे. उन विभिन्न प्रकारकी श्रद्धाओंको मतिप्रभेदक आहारोंके

प्रकारोंसे गुणित करनेपर और भी अधिक मतिप्रभेद प्रकट होंगे. तदनुसार प्रत्येक मतिमान्की श्रद्धाके प्रभेदवश यज्ञार्थ अधिदेवोंको प्रगुणित करें तो संख्या और बढ़ जायेगी. उन सात्त्विक–राजस–तामस प्रभेदोंवाले यज्ञोंके निर्वाहार्थ अपेक्षित यज्ञकर्ताओंके प्रभेद त्रिविध तपोभेदोंसे भी गुणित होंगे. उसके बाद दानके प्रभेदोंसे गुणित होंगे. यों इन प्रमुखगौण भेदोपभेदों और अवान्तर भेदोपभेदो की गणनाके व्यापारमें अधिक उलझनेके बजाय ज्ञातव्य केवल यही है कि इन श्रद्धा मति आहार यज्ञदेव तप या दान में के किसी तामस नहीं, पर ऐसा राजस या सात्त्विक रूप, यदृच्छया हमें उपलब्ध हो गया हो तो उसके सहारे तामस प्रकारोंपर संयम प्राप्त किया जा सकेगा. राजस प्रकारोंके इन श्रद्धा मति आहार यज्ञदेव तपोनुष्ठान और दान पर यदृच्छया जो सात्त्विक प्रकार यदृच्छया हमें प्राप्त हुवा हो तो उनपर एक–एक गुणके बन्धनोंको अन्यगुणोंमें बंधे रह कर ही तोड़ा जा सकता है, मुक्त्यर्थ सहसा तीनों गुणोंको जीवात्मा अपने पुरुषार्थद्वारा तोड़ने सक्षम नहीं हो पाती. अतएव यह कहा गया है **''यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेतत् शनैः–शनैः मुञ्चति कर्मरेणून्. सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमः च विधूय निर्वाणम् उपैति अनिन्धनः. तदेवम् आत्मनि अवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद् बहिः अन्तरं वा''** (भाग.पुरा.११।९।१२–१३). अतः सकल त्रैतकी समष्टि ॐकारको, सकल अ से लेकर ह वर्णो पर्यन्त वर्णोंसे वाच्यके द्योतक अहंकारको एक–दूसरेसे समाश्लिष्ट करना पुरुषार्थ समायोजनकी एक अन्तर्दृष्टि है.

यह क्रमशः समायोजनकी कुशलता चार पुरुषार्थोंके बारेमें वर्णित हुयी है परन्तु पंचम भक्तिरूप पुरुषार्थ या तो सिढ़ी जैसा होता है या एस्केलेटर / लिफ्ट की तरह जिसे भगवद्गीता अनन्यभक्ति या

दिव्यदृष्टिके वरदान के रूपमें प्रतिपादित करना चाहती है.

(उपसंहार)

अतः निष्कर्षतया अनुसंधेय है कि ब्रह्मके अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूपमेंसे जड़ जीव और अन्तर्यामी रूपी सृष्टि जो प्रकट हुयी उसमें : सदंशसे क्रिया चिदंशसे ज्ञान और अन्तर्यामी आनन्दांशसे सुख के जो व्यवहार प्रकट हुवे हैं, उन क्रियाव्यापारों ज्ञानव्यापारों और सुखव्यापारों को भगवदभिमुख करना हो तो भगवान् कहते हैं **''योगाः त्रयो मया प्रोक्ताः नृणां श्रेयोविधित्सया ज्ञानं कर्म च भक्तिः च नोपायो अन्यो अस्ति कुत्रचित्. निर्विण्णानां ज्ञानयोगः कर्मयोगस्तु कामिनां न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगो अस्य सिद्धिदः''** (भाग.पुरा.११।२०।६–८). यह हमारी श्रेयःसाधिका क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति और स्नेहशक्ति के समायोजनका ही उपदेश है. अतएव पुरुषार्थचतुष्टयीके स्वस्तिकके साथ यदि इसकी संगति समझनी हो तो स्वस्तिक **दो** प्रारूपोंके आधारपर इसे यों समझाया जा सकता है :

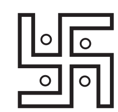
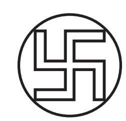

यहां देखा जा सकता है कि स्वस्तिकके प्रथम प्रकारमें चतुर्विध पुरुषार्थोंके चारों हस्तोंके मध्यपाती वृत्तोंवाली धर्मांग अर्थांग कामांग और मोक्षांग भक्ति हो सकती है. ऐसे ही ये चारों धर्मार्थकाममोक्ष भी भक्त्यंग या भक्तिके लीलानुभाव भी हो सकते हैं. इति शम्.

तृप्तिदाय च जीवानां नमः सर्वरसात्मने।।
नमः पुण्याय लोकाय अमुष्मै भूरिवर्चसे।।१।।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय पितृदेवाय कर्मणे।।
नमो अधर्मविपाकाय मृत्यवे दुःखदाय च।।२।।
नमस्ते आशिषाम्, ईश, मनवे कारणात्मने।।
नमो धर्माय बृहते कृष्णाय अकुण्ठमेधसे।।३।।
शक्तित्रयसमेताय मीढुषे अहंकृतात्मने।।
चेतआकूतिरूपाय नमो वाचोविभूतये।।४।।

(भाग.पुरा.४।२४।३८-४२).

।। अमृतवचनावली ।।

(१/क) पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ''महाराज! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें ? तासों आपु कहो ताकों अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ''हमहु कौन जीवको बिगार करें? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो! तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सो जाकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो''.

(श्रीगोवर्धननाथजी, ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

(ख)सो एक दिन एक वैष्णवने किसोरीबाईकों कछू सामग्री दीनी हती. तब किसोरीबाईने सिद्ध करिके श्रीठाकुरजीकों भोग समर्प्यो. ता दिन श्रीठाकुरजी आरोगवेकों पधारे नाहीं. तब किसोरीबाई अपने मनमें बोहोत खेद करन लागी. तब श्रीठाकुरजी बोले जो तेनें मेरेलिये सामग्री क्यों लीनी? सो हम कैसे आरोगें?

भावप्रकाश : यामें यह जताये जो ओरकी सत्ता-सामग्री अपने श्रीठाकुरजीकों आरोगावनी नाहीं. और कछू वैष्णवपेतें ले के श्रीठाकुरजीकों विनियोग न करावनो. सो श्रीठाकुरजी अंगीकार न करें.

(२५२ वै.वार्ता, किशोरीबाई वा.प्र.२)

(२) जो कटोरी (गहने) धरिके सामग्री आई सो तो भोग श्रीठाकुरजी आप ही के द्रव्यकुं आरोगे सो आप ही को भयो. जो श्रीठाकुरजीको द्रव्य खायगो सो मेरो नाहिं अरु मेरो सेवक भगवदीय होयगो सो देवद्रव्य कबहूं न खायगो. जो खायगो सो महापतित होयगो. ताते वा प्रसादमेंते भोजन करिवेको अपनो अधिकार न हतो; याके लिए गोअन्कों खवायो अरु

श्रीयमुनाजीमें पधरायो. यह सुनिके सब वैष्णव चुप होय रहे.

(महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, घरुवार्ता-३)

(३) ...श्रीआचार्यजीको वैष्णवने आकर कहा : ''महाराज! श्रीद्वारकानाथजी वैभव सहित पधारे हैं''. ...तब श्रीआचार्यजीने कहा: ''क्या ठाकुरजीका वैभव देखकर तुम खुश हुवे ?'' तब श्रीगोपीनाथजीने कहा : ''आपका कहलाकर जो श्रीठाकुरजीकी वस्तु (देवद्रव्य) पर अपना मन बिगाड़ेगा उसका निर्मूल नाश होगा''. यह सुनकर श्रीआचार्यजीने कहा : ''हमारा मार्ग तो ऐसा ही है''.

(श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, ८४ वैष्णव वार्ता, दामोदरदास सम्भलवारेकी वार्ता).

(४/क) धनादिकी कामनाकी पूर्तिकेलिये जो शास्त्रविहित श्रवण-कीर्तन-सेवा आदि किये जाते हैं उनको कर्ममार्गीय समझना चाहिये. अपनी आजीविका चलानेके लिये धनोपार्जनके रूपमें जो हैं उनको तो खेती-बाड़ी जैसे व्यवसायकी तरह 'लौकिक कर्म' ही कहना चहिये (धर्म-भक्ति सर्वथा नहीं). मलप्रक्षालनार्थ गंगाजलका उपयोग करनेवालेको उसके मलकी सफाईसे अधिक गंगास्नानका फल मिलता नहीं है. इतना ही नहीं, ध्यान देनेलायक बात यह है कि गंगा जैसी पवित्र नदीके जलका ऐसा घृणित कार्यके लिये उपयोग करनेके कारण वह पापी बनता है. इसी तरह प्रभुकी सेवा-कथाके माध्यमसे पैसे कमानेवालेको सेवा-कथाका कोई भी (धार्मिक-भक्तिमार्गीय) फल तो प्राप्त नहीं ही होता है प्रत्युत ऐसे अधम आचरणके कारण वह पापका ही भागी होता है.

(श्रविट्ठलनाथजी गुसांईजी, भक्तिहंस)

(४/ख) तब श्रीगुसांईजी आपु कहे : ''जो हम कौनसे जीवकों कहें, जो कौनसे जीवको बिगार करें ! सुधारनो तो बहोत कठिन है और बिगारनो

तो तत्काल है ! तासों श्रीगोवर्धनधरको अधिकार (ट्रस्टीपद) कौनकों देंय ? कौनको बिगार करें ? ... पाछें श्रीगुसांईजी आपु श्रीगोवर्धनधरसों पूछें जो ''महाराज ! कृष्णदासकी तो देह छूटी...सो हम कौनको अधिकार देके बिगार करें ? तासों आपु कहो ताकों अधिकारी (ट्रस्टी) करें. तब श्रीगोवर्धननाथजी कहे जो ''हमहु कौन जीवको बिगार करें ? जो कोई अधिकार लेयगो (ट्रस्टी बनेगो) ताको बिगार होयगो ! तासों तुम एक काम करो जो अधिकारको दुसाला ले सबके आगे कहो (जो) जाकों अधिकार करनो (ट्रस्टी बननो) होय सो दुसाला ओढो. तब जो आयके कहे ताकों देऊ. सरा जरकों गिरनो होयगो सो आपु ही आयेगो''.

(**श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण,** ८४ वैष्णव वार्ता, कृष्णदासकी वार्ता, प्रसंग-१०)

(५) अपने सेव्य-स्वरूपकी सेवा आप ही करनी. और उत्सवादि समयानुसार, अपने वित्त अनुसार करने, वस्त्राभूषण भांति-भांतिके मनोरथ करी सामग्री करनी.

(**श्रीगोकुलनाथप्रभुचरण,** २४ वचनामृत)

(६) यहां भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें सेवोपयोगी स्थानके रूपमें निज घरको विधान उपलब्ध होयवेसूं, अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवा छोड़के कोई दूसरी जगह (अर्थात् हवेलीन्में, जैसे आजकल, भेंट-सामग्री पधराके नित्य या मनोरथन की झांकी कर लेनो वैष्णवन्ने पुष्टिमार्गमें परमधर्म मान लियो हे वैसे) भगवत्सेवा करवेवालेन्कुं कभी भक्ति सिद्ध नहीं हो सके हे.

(**श्रीवल्लभात्मज-श्रीबालकृष्णजी,** भक्तिवर्धिनीव्याख्या-२)

(७) जब सन्तदासको सगरो द्रव्य गयो तब श्रीठाकुरजीकी सेवामें मंडान श्रीठाकुरजीके राजभोग न भयो सो महाप्रसाद हू न लियो. टकाके चूनको न्यारो भोग धरते सो राजभोग जानते, महाप्रसाद लेते, ओर नित्यको नेग

बहोत श्रीठाकुरजीके द्रव्यसों होतो; ताते आपुनी राजभोगकी सेवा सिद्ध न भई (जाने). कासिदको दिये सो नारायणदासको लिखें जो ''तुम्हारी प्रभुतातें एक दिन राजभोगको नागा पर्यो जो मेरी सत्ताको भोग न धर्यो !'' या प्रकार सन्तदास विवेकधैर्याश्रयको रूप दिखाये. विवेक यह जो श्रीगुसांईजीको हूंडी पठाई - आपुनी सेवा न भई - राजभोगको नागा माने. धैर्य यह जो श्रीठाकुरजीके द्रव्यमेंते खान-पान न किये. आश्रय यह जो मनमें आनन्द पाये - दुःखक्लेश न पाये.

(**श्रीहरिराय महाप्रभु,** भावप्रकाश ८४ वैष्णवनकी वार्ता-७६)

(८) पारिश्रमिकके रूपमें वित्त दे के कोई दूसरेके द्वारा सेवा कराई जावे तो चित्तमें अहंकार तो बढ़े ही है परन्तु ऐसी खरीदी भई सेवासु चित्त भगवान्में कभी चोंट नहीं सके है. भगवत्सेवार्थ कोई दूसरेसूं पारिश्रमिकके रूपमें धनादिक लिये जावेपे तो, जैसे पंडा-पुरोहितन्कुं यज्ञ-यागादिको फल नहीं मिले है परन्तु यजमानन्कुं ही मिले है, वेसे ही सेवाकर्ताकी सेवा निष्फल बन जाय हे. **शंका** : यजमान जैसे दक्षिणा दे के पुरोहितन्के द्वारा यज्ञयाग करा लेवे है वैसे ही भगवत्सेवा (आजकल जैसे पुष्टिमार्गीय हवेलीन्में वैष्णवगण गुसांई-मुखिया-भीतरिया-समाधानीकी बटालियनसूं करवा लेवे हें वा तरह : अनुवादक) करा लेवेमें क्या बुराई है ? समाधान : या **शंका**को ये समाधान जाननो जो कर्ममार्गमें ऐसो करनो विहित होवेसु पुरोहितन्सूं कर्म सम्पन्न करा लेनो आपत्तिजनक नहीं है. भक्तिमार्गमें, परन्तु, या तरहसूं भगवत्सेवा करा लेवेको कहीं विधान उपलब्ध नहीं होयवेसूं, कोई दूसरेकुं धन दे के सेवा करानो अनुचित ही हे. भक्तिमार्गमें तो भगवदुक्त प्रकारसूं (निज घरमें निज परिजनन्के सहयोगद्वारा निजी तन-मन-धनसूं ही) भगवत्सेवा करनी चहिये.

(**गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमचरण,** सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिप्रकाश-२)

(९) लौकिक अर्थकी इच्छा राखिके जो भगवद्भजनमें प्रवृत्त होय सो सर्वथा क्लेश पावे हे. इतने कछू भेंट-सामग्री मिलि जाये ऐसे लाभकेलिये पूजादिकमें प्रवृत्त होय सो 'पाखंडी' ओर 'देवलक' कह्यो जाय हे. तासूं लाभपूजार्थ सिवाय जामें निषेध नहीं हे ऐसी रीतिसूं ''मेरो लौकिक सिद्ध होय'' ऐसी इच्छासूं जो भजनमें प्रवृत्त भयो होय सो 'लोकार्थी' कह्यो जाय है.

(**नि.ली.गो.श्रीनृसिंहलालजी महाराज,** सिद्धान्तमुक्तावलि-टीका श्लोक १६-१७)

(१०) जो श्रीवल्लभकुल हैं वे तो आपुने सेव्यस्वरूपपें कैसो स्नेह राखत हैं जो एक ठौर द्रव्यकी ढेरी करो और दूसरी ठौर श्रीठाकुरजीकों पधरावो तो श्रीवल्लभकुल वा द्रव्यकी ओर देखेंगे हु नाहीं; अरु श्रीठाकुरजीकों अतिस्नेहसों पधराय लेंगे. परि जो या कलिको जीव है वाकुं तो द्रव्य बहुत प्रिय है. तासों वो तो श्रीठाकुरजी सन्मुख हु नाहीं देखेगो अरु केवल वैभवकुं देखेगो अरु मोहित होय जायेगो.

(**नि.ली.गो.श्रीमट्टुजी महाराज,** ३२ वचनामृत; वचनामृत-५)

(११) श्रीउदयपुर दरबारकुं आशीर्वाद ! याके द्वारा सूचित कियो जावे हे कि चल-अचल सम्पत्तिके आर्थिक तथा स्वामित्व की व्यवस्थाके बारेमें योग्य व्यक्तिन्की एक सलाहकार समिति नियुक्त कर ली गई हे. सेवा आदि विषयन्में पुरातन तथा प्रवर्तमान प्रणालिके अनुसार काम कियो जायेगो; ओर यदि पुरातन परम्पराको बाध न होतो होयगो और समिति कोइ तरहके सुधारकी इच्छा रखती होयगी तो ऐसे सुधार भी स्वीकारे जायेंगे. ओर श्रीठाकुरजीको द्रव्य अपने व्यक्तिगत उपयोगमें नहीं वापर्यो जायेगो, जेसी कि परम्परा आज भी है ही, ओर याकुं निभायो जायेगो. तो भी मेरे पूर्वजन्के समयसूं चले आ रहे मेरे स्वामित्वके हक्क वा ही तरह

कायम रहेंगे.

(**गोस्वामी तिलकायत नि.ली.गो.श्रीगोवर्धनलालजी महाराज, श्रीनाथद्वारा,** डेक्लेरेशन, मिति भाद्रशुक्ला पञ्चमी, वि.सं.१९४८ = ता. ५-९-१८९३)

(१२)...या ही तरह अपने यहां जो सन्मुखभेंट धरी जाय हे वो भी देवद्रव्य होवे हे; और वा सामग्रीकुं काममें नहीं लियो जाय है. श्रीगोकुलनाथजी और श्रीचन्द्रमाजी के घरमें आज भी ये नियम पाल्यो जाय हे. वहां जो सन्मुखभेंट आवे हे, वाकुं कीर्तनीया-महावनिया ले जावे हे. वो वल्लभकुलको श्रीयमुनाजीको पंडा है. दूसरो कोई वाको अनुकरण करे तो वो अनुचित है... हम श्रीनाथजीके सामने जो सन्मुख भेंट धरें हैं वो श्रीमहाप्रभुजीकी पादुकाजीकुं धरें हैं फिर भी वो आभूषणन्में वापरी जावे है, सामग्रीमें नहीं. सन्मुखभेंट धरवेमें बहोत अनाचार होवे है. या तरहसूं आयो द्रव्य 'देवद्रव्य' बने हे...वाकुं लेवेवालेकी बुद्धि बिगड़े बिना नहीं रहे है.

(**नि.ली.गो.श्रीरणछोड़लालजी महाराज, राजनगर,**वचनामृत.४८४-८७)

(१३) महाराजकुं जो आमदनी वैष्णव आदिन्सूं होवे हे वामेंसूं घरखर्चाके रूपमें महाराज ठाकुरजीकी सेवाको खर्चा निभावें हें. ठाकुरजीके लिये चल या अचल सम्पत्ति अलगसूं निकालके वामेंसूं ठाकुरजीकी सेवाको खर्च निभायो नहीं जावे हे. ठाकुरजीके वैभवको, नेगभोगको, आभूषण-वस्त्र आदिको खर्च महाराज स्वयं अपनी आमदनीके अनुसार निभावे हें... ठाकुरजीके सन्मुख भेंट धरी नहीं जा सके... ठाकुरजीकी भेंट देवमन्दिरमें भेजनी पड़े हे. महाराज वा भेंटकुं अपने उपयोगमें ला नहीं सकें. (**नि.ली.गो.श्रीवागीशलालजी महाराज, अमरेली,** श्रीवागीशलालजीके आम-मुखत्यार: ''अमरेलीहवेली व्यक्तिगत है या

सार्वज-निक'' मुद्देपर सन् १९०९-१०में गायकवाडी बड़ौदा राज्यकी कोर्टमें दी गई जुबानी)

(१४) जैसे अपने पूर्वपुरुष स्वयं अपने धर्मके सत्यस्वरूप तथा शुद्धाद्वैतसिद्धान्त कुं पूर्णतया समझके वैष्णवधर्मको यथार्थ उपदेश लोगनकुं देते हते; और मध्यवर्ती कालमें जो सम्पत्ति आदिके कारणन्सूं हमने बहोत हद् तक छोड़ दिये हें, या कारणसूं अधिकांश लोगन्में साधारण सेवा और केवल वित्तजा भक्ति की ही रूढ़िके अनुसार जानकारी बच गयी हे.

(**पञ्चमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी,** कामवन, मुंबईके वैष्णवनकुं लिखित पत्र : 'आश्रय' अप्रिल ८७ के अंकमें प्रकाशित)

(१५) वकील : यदि कोई भी पुष्टिमार्गीय मन्दिरमें, वैष्णव श्रीठाकुरजीकी सेवा और नेग-भोगके लिये; और श्रीठाकुरजीकी सेवाकुं निभावेकेलिये भेंट आदि दे के वित्तजा सेवा करते होंय और वा मन्दिरमें तनुजा सेवा भी करते होंय तो वो मन्दिर पुष्टिमार्गीय नहीं होवे है ऐसे आपको कहनो हे ?

पू.पा.महाराजश्री : पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्के लिये स्वतन्त्रतया तनुजा या वित्तजा सेवा करवेकी कोई प्रक्रिया नहीं हे. और ऐसी सेवा की जाती होय तो वाकुं साम्प्रदायिक मन्दिर नहीं कह्यो जा सके.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराज, सुरत** ''नड़ियादकी हवेली वैयक्तिक हे या सार्वजनिक'' विवादमें पुष्टिमार्गके विशेषज्ञ साक्षीके रूपमें दी जुबानी)

(१६) हमारा प्रमुख सिद्धान्त है 'असमर्पित त्याग'. उत्तम उपाय तो यही है कि घरमें जो भी रसोई बने वह प्रभुको भोग धरके बादमें ही महाप्रसाद लिया जाय. ... जहां तक असमर्पितका त्याग नहीं होगा वहां तक बुद्धि अच्छी नहीं हो सकती. सानुभावता कब सिद्ध हो सकती है ? जब हमारी

बुद्धि निर्मल हो. ... आज हम हीरे (घरमें बिराजते सेव्य प्रभु) को परख नहीं सकते. सच्चे हीरेको जौहरी ही परख सकता है. स्थिति क्या है कि हम जूठे हीरेको सच्चा मानकर उसीके पीछे (हवेली-मन्दिरोंमें) दौड़ लगा रहे हैं. श्रीमहाप्रभुजीने तो निधिरूप सच्चा हीरा हमको दिया है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि ''दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमीश्वरम्''. भगवान्को पहचाननेके लिये तो दिव्यता प्राप्त होनी चाहिये. दिव्यता ही आत्मबल है. ... अतः मेरा तो आप लोगोंसे साग्रह अनुरोध है कि आत्मबल प्राप्त करनेकेलिये अपना कुछ दैनिक नियम बनाईये. षोडशग्रन्थके पाठका नियम लीजीये...

(**द्वितीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज, इन्दौर-नाथद्वारा,** श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत ७, पृष्ठ १२४)

(१७/क)और जब जनरल पब्लिक ट्रस्ट है तब ठाकुरजीकुं गोस्वामीके सम्बन्धसूं पृथक् करके, ठाकुरजीकुं सब सम्पत्ति अर्पण करके, अर्थात् भेंट करके रिलीजिअस एंडॉमेन्टके रूपमें भये वे ट्रस्ट हैं. ऐसी अवस्थामें इन ट्रस्टन्सूं जो नेग-भोग चलायो जावे है, वो देवद्रव्यसूं चलायो जा रह्यो है. देवद्रव्यको उपभोग करनेवालो अन्तमें देवलक ही होवे है. श्रीमदाचार्यचरणने प्रभुकी सोनेकी कटोरी गिरवी रखके जब भोग अरोगायो तब आपने वा द्रव्यसूं समर्पित सारोको सारो प्रसाद गायन्कुं खवा दियो. ये है साम्प्रदायिक सिद्धान्त. या प्रकारके आदर्शरूप सिद्धान्तन्को जा (सार्वजनिक मन्दिर-हवेलीकी) प्रथासूं विनाश होवे, आचार्यन्कुं देवलक बनायो जाय, वा प्रथाकुं जितनी शीघ्र सम्प्रदायसूं हटा दी जाय, उतनो ही श्रेय यामें गोस्वामिसमाज तथा वैष्णवसमाज को निहित है.

(१७/ख)भगवत्सेवा सम्प्रदायकी आत्मरूप प्रवृत्ति है. आचार सेवाको अंग है, सेवाके अनुकूल आचारको पालन कियो जानो चहिये. आचार-पालनकुं प्रमुखता देके भगवत्सेवाको त्याग भी उचित नहीं है. भगवत्सेवा जैसे भी बने (अपने घरमें) करो...गुरुघरन्में मत भेजो...यदि हम भगवद्द्रव्यकुं पेटमें डालेंगे तो वो अपराध है. ग्रन्थन्के अध्ययनके प्रति हमकुं समाजकुं आकृष्ट करनो चहिये.
(**नि.ली.गो.श्रीदीक्षितजी महाराज,** मुंबई-किशनगढ़, (१७/क)''आचार्योच्छेदक ट्रस्ट प्रथासे पुजारीपनकी स्थापना घोर सिद्धान्तहानि एवं घोर स्वरूपच्युति'', (१७/ख) लेख 'श्रीवल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५ में प्रकाशित वक्तव्य)

(१८/क) वैष्णवन्के पास जो भी परम पदार्थ है वाको अस्तित्व आजके ही दिनको आभारी है. कालकी भीषणता और परिस्थितिकी विषमता के अत्यन्त विकट युगमें श्रीमत्प्रभुचरणन्के दिव्य सिद्धान्तन्के ऊपर अटल रहवेपर ही जीवमात्रको ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो पावेगो. अन्याश्रयके त्यागकी भावनापे जगत्के जीव दृढ़ रहें तो वैष्णव-हवेलीन्के वैभवके कारण जो वैष्णव घरसेवाकुं भूल चुके हते, संयोगवशात् उन हवेलीन्में श्रीके दर्शन आज बन्द भये हैं यासुं अब वैष्णवन्के घर पुनः भगवत्सेवासूं किलकिलाते हो जायेंगे. ये लाभ सम्प्रदाय और सम्प्रदायीन् केलिये मामूली नहीं रहेगो. ईश्वरेच्छा अनाकलनीय होवे है. मोकुं तो श्रद्धा है के या कठिन परीक्षामें हम सभीन्को श्रेय ही सिद्ध होवेवालो है.

(ख) मेरे अनुयायीन्कुं दो प्रकारकी दीक्षा दउं हूं. प्रथम कंठी बांधनी तथा दूसरी ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा. कंठी-बांधनी साधारण वैष्णवन्कुं ही दी जावे हे तथा ब्रह्मसम्बन्ध विशेषरूपसूं उन अनुयायीन्कुं, जो सेवामें विशेषरूपसूं आगे बढ़नो चाहे हें. पहली दीक्षाकुं 'शरणदीक्षा' कहें हैं तथा दूसरी

दीक्षाकुं 'आत्मनिवेदन' कहें हैं. शरणदीक्षासूं वैष्णव सिर्फ नामस्मरण करवेको ही अधिकारी बने है तो सेवावाले वैष्णवकुं ब्रह्मसम्बन्धदीक्षा लेवेके बाद ही अधिकार मिले हे. ब्रह्मसम्बन्ध लेवे वालो वैष्णव अपने घरमें ही सेवाको अधिकारी होवे हे... हम स्वरूपकी सेवा नन्दालयकी भावनासूं करें हें. यालिये हम सातोंके सात पुत्रन्के घर 'घर' ही कहलावे हैं ओर हमारे घरकी सृष्टि 'तीसरे-घरकी-सृष्टि' कहलावे है.

(ग) श्रीआचार्यचरणके सिद्धान्तोमें भगवत्सम्बन्ध और भगवत्सेवा को ही प्रधानता दी गयी थी. बादमें, परिलक्षित होता है कि, उसमें भी कुछ अन्तर आ गया. ... श्रीआचार्यचरणके और श्रीप्रभुचरणके सेवक, हम देख सकते हैं कि, सभी प्रकारके हैं. ऐसा नहीं है कि अमुक विशिष्ट व्यक्ति ही भगवत्सेवाकेलिये योग्य होता है और अमुक परिस्थितिमें ही भगवत्सेवा हो सकती हो. ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है. अनेक प्रकारके जीव भगवत्सेवा करते थे. उनमें स्मशानवासी, वेश्या आदिसे लेकर अच्छे विद्वान् ब्राह्मण भी थे. आजके समयमें, मुझे प्रतीत होता है कि, हम उन चरित्रोंको भूल कर पीछेसे मुख्य बन गये ऐसे केवल भावात्मक रूपको ले कर बैठ गये हैं कि जो आज भी वैष्णवोंमें प्रचलित है. ...मैं मानता हूं कि चरित्रोंका विचार करनेमें सिद्धान्तोंकी आवश्यकता होती है.
(**तृतीयगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज,** कांकरोली, क :श्रीमत्प्रभुचरण प्राकट्योत्सव=ता.२४-१२-४८के दिन मुंबईके पुष्टिमार्गीय वैष्णवन्की सभामें अध्यक्षीय प्रवचन. ख : बयान : मूर्तिबा कार्या. सहा. कमि. देवस्थानविभाग खंड उदयपुर एवं कोटा बजरिये कमिशन मु.कांकरोली.फाईल संख्या.१-४-६४. श्रीद्वारकाधीशमन्दिर दिनांक ७।११।६५ (ग) श्रीमद्वल्लभ अने श्रीहरिरायजी जीवनदर्शन, भाग-२, वचनामृत २० मुं, पृष्ठ १४६,१४९)

(१९) आज मोकुं अपने हृदयके उद्गार कहवे दो, मेरो हृदय जल रह्यो हे, मन्दिरन्में मात्र द्रव्यसंग्रहकी प्रवृत्ति बच गई हे; ओर वोही अनर्थन्की जड़ है. ऐसे मन्दिरन्के अस्तित्वसूं कोई लाभ नहीं है. हमारो सम्प्रदाय सामुहिक नहीं वैयक्तिक है. सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक अवश्य है परन्तु सार्वजनिक नहीं. ''करत कृपा निज दैवी जीवनपर'' या उक्तिमें 'निज' शब्दको प्रयोग कियो गयो है. दैवीजीव कहीं भी हो सके हैं परन्तु सार्वजनिक रूपसूं नहीं. आज हम 'पुष्टि'को नाम लेवेके भी अधिकारी नहीं हैं! ... आजको हमारो जीवन चार्वाक-जीवन हो रह्यो हे. क्या हम, आज जा प्रकारको सम्प्रदाय हे, वाकुं जिवानो चाहें हैं ? यदि सच्चे सम्प्रदायकुं चाहो हो तो स्वरूपसेवा घर-घरमें पधराओ एवं नामसेवापे भार रखो... भक्तिकी प्राप्ति स्वगृहमें सेवा करवेसूं ही होयगी. आजके इन मन्दिरन्सूं कोई लाभ नहीं है, क्योंकि इनमें द्रव्यसंग्रहकी प्रधानता आ गयी है; ओर जहां द्रव्य इकट्ठो होय है वहीं अनर्थ हो जावे है. आज सम्प्रदायको विकृत स्वरूप याके कारण ही है.
(**नि.ली.गो.श्रीकृष्णजीवनजी महाराज,** मुंबई-मद्रास, 'वल्लभविज्ञान' अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(२०/क)जैसे स्वरूपसेवा स्वार्थबुद्धिवश और लौकिक कार्य समझके नहीं करवेकी श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है, वैसे ही नामसेवा भी वृत्त्यर्थ नहीं करनी चहिये, ऐसी आज्ञा श्रीमहाप्रभुजी निबन्धमें करें हैं... वृत्त्यर्थ सेवा करवेसूं प्रत्यवाय(दोष) लगे है. जैसे गंगा-जमुना जलको उपयोग गुदाप्रक्षालनार्थ नहीं कियो जा सके है, वैसे ही सेवाको उपयोग भी वृत्त्यर्थ नहीं करनो चहिये.

(ख) तन और वित्त प्रभुकेलिये वापर्यो जाय तो मन भी प्रभुमें अवश्य

लगे ही है. अतएव श्रीवल्लभने उपदेश कियो है के ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''. मानसी जो परा है वो सिद्ध करनी होय तो तनुवित्तजा सेवा आवश्यक है. तन और वित्त कहीं एकत्र लगायो जाय तो चित्त भी वहां दिन-रात लग्यो रह सके है. दलालीको व्यवसाय करवेवालेके व्यवसायमें केवल तनसूं श्रम कियो जावे है परन्तु वामें वित्त स्वयंको लगायो नहीं जावे है. अतएव बजारके भावन्की घट-बढ़में दलालकुं तनिक भी मानसिक चिन्ता होवे नहीं है... कोई बच्चाको पिता केवल ट्युशन फी देके समझ ले है के बच्चा परीक्षामें पास हो ही जायेगो. इन तीनोंकुं फलप्राप्ति होवे नहीं है क्योंकि तनुजा-वित्तजा दोनों नहीं लगी. अब तनुवित्त दोनों लगावेवालेके चित्तप्रवण होवेको उदाहरण देखें: एक दुकानदार दुकान और माल की खरीदीमें पूंजी लगाके व्यापार शुरु करे, सुबहसूं रात तक वहां उपस्थित रहके जब तन भी व्यापारमें लगावे है तो या कारणसूं दिनरात वाकुं व्यापारके ही विचार आते रहे हैं: अच्छी तरह व्यापार कैसे करूं कैसे व्यापार बढ़े... अतः पुष्टिमार्गमें प्रभुमें आसक्ति सिद्ध होवेकेलिये मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया समझायी गयी है कि भावपूर्वक भक्तकुं तनुवित्तद्वारा सेवा करनी चहिये.
(**नि.ली.गो.श्रीगोविन्दरायजी महाराज,** पोरबन्दर, क-'सुधाधारा' पृ.११४. ख-'सुधाबिन्दु' पृ.७३)

(२१) ''अति धन्यवादार्ह है कि आपने इतनी मेहनत करके सम्प्रदायके सिद्धान्तन्कूं कोर्टमें समझाये(द्रष्टव्य २१/ख :संयुक्तघोषणापत्र : सुप्रिम-कोर्ट) – ''हमारो यामें पूरो सहयोग रहेगो, तन-मन-धनसे...हमारे सभी चि.बालक या कार्यमें सहयोग करवेकुं तैयार हैं''.
(**नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज,**जामनगर, गो.श्याम मनोहरजी(पार्ला-किशनगढ)कुं भेजे दि.२६-१०-८६ और ७-११-८६ के पत्रन्में)

(२२/क) ट्रस्ट हवेली–मन्दिर यानि पुष्टिभावोंकी मौत :

भगवान्–स्वधर्म पूंजीसे बंधकर नहीं चलते; वे श्रद्धा और प्रेमपरवश होकर चलते हैं. आज जो (मन्दिरों–हवेलियोंके) ट्रस्टोंकी या न्यासोंकी प्रणाली चल रही है वह पूंजीवादकी एक अभिनव दास्तां है जिसमें भगवान्, गाय, गुरु और धर्मानुयायिओं पर एकछत्र साम्राज्य करनेकी लालच समायी हुई है. इस तरहसे आदर्शका जामा पहने हुए इस धनलिप्सा और धनिकों की दास्तांमें वह प्रेम नहीं है जो एक अकिंचन भक्तके ‘‘रहिये मेरे ही महल अनत न जैये...’’ इस आत्मीयता भरे मीठे बैनोंमें झलकती है. यह प्रेमभरा अननुनय है. और आजका ट्रस्टी और सत्ता भगवान्को पूंजी या सत्ता के जोरपर यह कहते हैं कि ‘‘इस स्थानसे जरासा भी नहीं हिलना. ध्यान रखना, मैं तुम्हारा व्यवस्थापक, ट्रस्टी हूं. चाहो या न चाहो, तुमको मुझपर भरोसा करना ही होगा, समझे !’’ लोग समझते हैं कि यह धर्मरक्षाका ही एक सर्वश्रेष्ठ रूप है, किन्तु ...इसमें भी प्राणोंकी उतनीही असुरक्षा है जो मौतसे कम नहीं... वल्लभाचार्यने ऐसे जकड़े हुवे ईश्वरको दामोदर माननेसे भी इंकार कर दिया.

ठाकुरजीको ट्रस्टमें पधरानेवालोंने ठाकुरजीको बेच दिया है :

..अच्छी तरह सोचो कि ऐसी कौन माता होगी जो अपने लड़केको धनकी लालचमें बेच दे; या कोई प्रेमी कभी भी प्रत्यक्ष तो क्या सपनेमें भी ऐसा करना तो दूर रहा, सोच या देख भी नहीं सकता. इस विषयमें एक कहानी याद आती है. ...एक बार एक रुपये–पैसेवाली बांझ औरत (आधुनिक दर्शनीया वैष्णव और ट्रस्टी)ने एक गरीब(गोस्वामी गुरु)का बच्चा(ठाकुरजी) खिलानेकेलिये लिया. कुछ दिनों बाद बच्चेकी मांने जो गरीब थी बच्चा मांगा तो अमीर औरतने कहा कि ये तो मेरा ही बच्चा है, तेरा नहीं है. जो तुझसे हो सके वह करले. बैचारी गरीब मां...न्यायकी मांग करने लगी...मगर सभी(वैष्णव, आम जनता, सरकार) लोग उस

गरीबके खिलाफ गवाही देने चले आये. न्यायधीश चतुर था. ...न्यायधीश बोला कि ...इस(बच्चे)के दो दावेदार हैं इसलिये इसके दो टुकडे करके दोनोंको बराबर दे दिये जाय. अमीर महिला(ट्रस्टी)ने यह बात मान ली, परन्तु गरीब मांने रोते हुए कहा ‘‘नहीं हुजुर, यह बच्चा मेरा नहीं है; यह इसीका ही है, इसे मारीये मत’’. ...यह त्याग एक सच्ची मां दे सकती है. यह तो बनावटी थोपी हुई व्यवस्था है.

इस तरह धनने ईमान खरीदा, भगवान् खरीदा और उस उन्मुक्त बालककी गुंजती किलकारियां हमेंश–हमेंश केलिये चुप हो गई. लोगोंने कहा कि अब भगवान् बोलते नहीं, हंसते नहीं, खेलते नहीं हैं. किन्तु यह आशा उससे की जा सकती है जो जीवित हो, किसीके प्यारमें बंधा हो. फिर उस खूबसूरत बच्चेकी नुमाईश और प्रदर्शन करने लगा, जैसे बेबी मिल्कके डिब्बेका चित्र या मोडेलका चित्र होता है!!!

ट्रस्टीओं द्वारा की जाती सेवा पूतनाके प्रेमके समान है :

रोज यह सोचा जाने लगा कि इससे क्या आमद हुई, कितनी ब्रिक्री हुई. और सभी व्यवस्थापक इसकी निगरानी करने लगे. जब कोई आता देखने तो उसे दुलार किया जाता. लोग समझते हैं कि यह प्यार है, भक्ति है. मगर था तो यह व्यवसाय ही, जिसका रूप पूतनाके प्रेमकी भांति सच्चाईको छिपा गया और भोली यशोदाने लाल उसे खिलाने दे दिया.

मन्दिर–हवेलियां दुकान बन चुके हैं :

कितनी बिक्री हुई इसका हिसाब रखा जाने लगा. कितना खाया और कितना कमाया इसकी नांप–तोल होने लगी. बिकने लगा धर्म और धर्मस्वरूप वह बालक भगवान् जो प्यारसे भक्तोंकेलिये भोला बन गया

था. लोगोंने उससे फायदा उठाया और कह दिया – यह सार्वजनिक ईश्वर है. उस सर्वशक्तिमान्को स्वार्थका साधन और जगन्नियन्तापर धननियन्ता शासन करने लगे. हालत यह हुई कि कौन उसको खिलाये-पिलाये ? वह तो सार्वजनिक था !

मन्दिर-हवेलियोंके ठाकुरजी जड बन चुके हैं :

द्वारकाधीशको भी यह छूट थी कि वह विदुरके घर साग खा सकता था किन्तु यह तो नितान्त निष्क्रिय बन गया, केवल दिखावा मात्र !

...क्या यह सिद्धान्त किसी प्रियतमकेलिये प्रियतमा या माता को मान्य होगा ? किन्तु यह आज मान्य है और मान्य करना होगा. केवल पैसेके लिये अपना दिल नहीं, दुनियाका दिल बहेलानेको, वारांगनाकी भांति, जिसमें हृदय नामकी कोई वस्तु रह नहीं हो सकती और है तो वह मानी नहीं जाती. सभीका अधिकार है उसपर, जैसे वह सम्पत्ति हो, जो चाहें खरीदें, जो चाहें प्रयोगमें लायें, जैसा चाहें वैसा करें ! उसको करना ही होगा. कैसी अनोखी है यह भक्ति और प्रेम की परिभाषा ! फिर भी स्वतन्त्रताका घोष किया जाता है ! क्या यह ही वह भक्ति है जिसे श्रीवल्लभ ''माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेह'' कहते हैं ? आज इस भक्तिका माहात्म्य ये ही है कि किस भगवान्के यहां कितनी आमद होती है !

ट्रस्ट मन्दिर पुष्टिप्रभुके लिये जेलखाना :

...अब कोई प्यारसे यह नहीं कह सकता कि मेरा बालक देरसे सोया है, जल्दी मत जगाना. सूरदासका पद भगवान्को जगानेके लिये दुलार नहीं रहा, न कलेउके पदमें ममताका अनुनय है; यह तो कम्पल्सरी ब्रेकफास्ट है जिसे समय पर कैदीकी तरह ईश्वरको करना पडता है. मानो एक जेलखानेमें उठने या खाने की घंटी बजी हो !

ठाकुरजी बिक रहे हैं; मनोरथी-दर्शनार्थी भक्त नहीं ग्राहक हैं :

...श्रीवल्लभाचार्यने जीवनमें अपने कलेजेके टुकडे अपने आराध्यको कभी दूर नहीं होने दिया. आज वो बिक रहा है धनिकोंके हाथों और जकड़ा है सरकारी शिकंजेमें, पब्लिक् पॉलिसीके अंदर. और अब उसे म्युझियमकी शोभा बनानेका समय निकट आ रहा है.

धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गर्ल्से भी बदतर है :

बेचारे धर्म और भगवान् की दशा किसी कोल्गर्ल्से भी बदतर है. ...भगवान्की सुंदर विनिन्दितमुक्ता-दंतपंक्ति बगला भगतोंको देखकर खिल जाती है. सदानन्द निरानन्द होकर इन ईमान खरीदनेवालोंके हाथों खुल्लेआम बेचा जा रहा है. ...सबको सहारा देनेवाला स्वयं बेसहारा होकर बैठा है अपने धनिक ग्राहकोंकी प्रतीक्षामें !

हवेली-मन्दिरमें देवद्रव्यका प्रसाद खाना मतलब नरककी टिकिट कटवाना :

धर्मशास्त्रमें जिस बुद्धिमान् ब्राह्मणको देवलकवृत्तिसे अधम माना गया है ... आज उस देवलकवृत्तिका धन चटकारे ले लेकर वैष्णवसमाज खा रहा है. नाथद्वारेमें क्या चीज स्वादिष्ट है...ये ही विवेचन करता है...किन्तु मेरा कर्तव्य क्या है यह कभी नहीं सोचता. श्रीनाथजीमें धनिकोंका साम्राज्य है .

...नाथद्वारामें आजकल पैसा अधिक आ रहा है, क्योंकि वहां इन धनिकोंका साम्राज्य है. इनके दलाल श्रीनाथजीकी महिमा बढाते हैं. ...गरीबोंकेलिये ठहरनेवाला भगवान् अब धनिकोंकेलिये ठहरता है.

श्रीवल्लभके आदर्शोंके स्मशान जैसें मन्दिर-हवेलियां :

भगवन्नाम भागवतसे अस्पतालोंकेलिये करोडोंकी रकम जमा होती है, और जामनगरमें आदर्श स्मशान भी है, किन्तु यहां तो स्मशानसे भी

आदर्श गायब होता जा रहा है ! शायद आदर्शका स्मशान है यह ट्रस्ट और सरकारी देवालय.

मन्दिरका प्रसाद खाया नहीं जा सकता है :

...वल्लभमतमें यह सिद्धान्ततः गलत है और ऐसे देवस्थानोंका चढावेका प्रसाद भी नहीं खाया जा सकता. क्योंकि वहां देवलकवृत्ति ही प्रधान है.

दर्शन-मन्दिर धर्मप्रचारका माध्यम नहीं हो सकते :

जहां तक भगवत्स्वरूप या मूर्तिका प्रश्न है, धर्मप्रचार उनसे सम्बन्धित नहीं है. और न इसे उचित कहा जा सकता है. क्योंकि भगवान्ने धर्मकी व्यवस्थाके लिये वेदव्यासादि अनेक ज्ञानावतार और अंशावतार धारण करके ही धर्मरक्षा की है. आजकी (सार्वजनिक हवेली-मन्दिरकी) व्यवस्था आचार्योचित और धार्मिक या भारतीय ही नहीं है तब वल्लभाचार्य सम्मत होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता. ...हमारा इस विषयमें सुझाव है कि एक अलग व्यवस्था...करनी चाहिये जिससे वल्लभसिद्धान्तोंकी रक्षा हो सके. यदि ऐसी व्यवस्था नहीं की जाती तो देवद्रव्य होता है, जिसका सेवन करनेसे आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि नरकपात होगा.

नकली बैठकें :

(क) बैठकोंकी भावगंगा तो अब घरबैठे ही मनुष्यको पवित्र करने अपनी उत्ताल तरंगोंसे सारे घर-बारको ही सराबोर करने लगी है!...८४ बैठकोंसे काम नहीं चला तो अब महाप्रभु श्रीवल्लभको मुसलमानोंके खेतोंमें अपनी झारी और अन्य चिह्न प्रकट करनेको विवश होना पड़ रहा है !

(''हमारी धार्मिक स्थितिका वर्तमान स्वरूप एवं भविष्यकी व्यवस्थाहेतु प्रतिवेदन'' दिनाम : २५।२।८१)

(ख) श्रीवल्लभाचार्यने सेवाको खरीदनेकी बात नहीं कही है कि खरीद आओ रुपये देकर. नहीं. 'तनुवित्तजा' पदका अर्थ ही यह है कि वह समस्त पद है. जहां तन लगे वहीं धन लगे तब ही सेवा हुई. परन्तु धन लगे और तन न लगे तो सेवा हुई नहीं कहलाती है.(प्रथमेश वाक्सुधा-१, पृष्ठ ५९)

(ग) ...''सेवाऽपि कायिकी कार्या'' यह नहीं कि पैसे दे दिये. पैसे देकर घरमें विवाहिता पत्नीको नहीं लाया जाता है, वेश्याको लाया जाता है. वेश्यासे घर नहीं बसता है यह स्पष्ट बात है. अतः साफ बात है कि भगवत्सेवा और वरण में पति-पत्नीका दृष्टान्त देते हैं कि जिनमें आत्मीय सम्बन्ध है.(प्रथमेश वाक्सुधा-१, पृष्ठ ७४)

(घ) भेंट भी आचार्यके सन्मुख ही होती है. प्रभुके सन्मुख भेंट नहीं होती है. देवलकवृत्तिसे बचनेकी विधि और वैदिक व्यवस्था को संम्हालकर रखना चाहिये अन्यथा बुद्धि बिगड़ेगी. ऐसा करनेसे पतन होता है, और हुवा है. (वहीं पृष्ठ १७१)

वस्त्र-अलंकारोंमें मन अधिक जाता हो तो ऐसा साहित्य रखनेकी आवश्यकता नहीं है. ऐसा करनेसे लौकिक बढ़ता है और धर्मभावना नष्ट होती है. ...अतः वैभव बढ़ानेकी श्रीगुसांईजीने ना कही थी. और श्रीमहाप्रभुजीने नावको डुबोकर पुरुषोत्तमको ही घरमें पधराया था. (वहीं पृ. १८०)

(२२/ङ)धर्मकी परम्परा प्रदर्शनपर आधारित नहीं है पर एक यथार्थ जीवनका उज्वल पक्ष है... कुनवारा और अन्य मनोरथों ...का रूप आगे चलकर महाप्रभु श्रीवल्लभकी आचार-परम्परा और सम्प्रदायकी मर्यादा को आहत करनेवाला होगा जिसकी आज कल्पना भी की नहीं जा सकती है.(वहीं पृ. १९७)

(**प्रथमेश नि.ली.गो.श्रीरणछोडलालजी महाराज,** कोटा-जतिपुरा-मुंबई)

(२३/क) प्रश्न: 'देवद्रव्य' कायकुं कहे हैं? 'देवद्रव्य'का मतलब, देवको द्रव्य. ऐसो द्रव्य या पदार्थ जो देवकुं ही उद्‌देश्य बनाके अर्पण कियो गयो होवे वाकुं 'देवद्रव्य' कहे हैं. याही प्रकार गुरुकुं उद्‌देश्य बनाके अर्पण किये गये द्रव्यकुं 'गुरुद्रव्य' कह्यो जाय है. ... मन्दिरन्में ठाकुरजीके सन्मुखमें भेंट धरे जाते द्रव्यकुं और ट्रस्टकी ऑफिसमें आते द्रव्यकुं तो स्पष्ट शब्दन्में 'देवद्रव्य' कह्यो जा सके है; और वा द्रव्यसूं सिद्ध होती सामग्रीमें भगवत्प्रसादी होवेके बाद महाप्रसादपनो तो आवे है परन्तु वाके साथ वामें देवद्रव्यपनो भी रहे ही है. याही कारण वैष्णवन्कुं ऐसे महाप्रसादकुं देवद्रव्य समझके ही व्यवहार करनो चहिये. ऐसे महाप्रसादकुं लेवेमें देवद्रव्यको बाध तो रहे ही है.

(२३/ख) मन्दिरके स्थलके फेरबदलके बारेमें श्री गो.पू.१०८ श्रीबालकृष्णलालजीने कह्यो कि पुष्टिमार्गमें सार्वजनिक मन्दिरकी परम्परा नहीं है. यामें व्यक्तिगत स्वरूप – निजी स्वरूपकी ही बात है; और याही कारण पुष्टिमार्गमें सेवाप्रकार देवालयके प्रकार जैसो नहीं है. मन्दिरको निर्माण भी घर जैसो होवे है. कहीं भी ध्वजा-शिखर नहीं होवे है. वैष्णव भी घरमें ही सेवा करे है तथा वाकुं 'मन्दिर' ही कहे है...
(**नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी महोदय,** सुरत, (क)'वैष्णववाणी' अंक ३,वर्ष मार्च १९८३. (ख)'गुजरात समाचार' अंक २५-५-९३ में प्रकाशित)

(२४) पुष्टिमार्गकी आज उपेक्षा होती जा रही है. उसकी परम्परा ही अब टूटती जा रही है. इसके मूलमें यदि कुछ है तो वह है आजकी साधन-सम्पत्ति. वही हमारे संस्कार बिगाड़ रही है. अभी भी जिस घरमें अलौकिक (प्रभु)सेवा होगी वहां पुष्टिमार्ग जरूर निभेगा. (जुलाई,२००७पृ.६) श्रीमदाचार्यचरणके मतानुसार गृहसेवा और अपने

माथे बिराजते ठाकुरजीका अति स्नेहसे जतन करना ही सच्चे संस्कारका मूल है. ...श्रीगुसांईजीके समयमें छप्पनभोग जैसे मनोरथोंकी शुरुआत करनेके समय(उनमें) केवल लौकिकता ही बढ़ेगी ऐसी स्पष्ट सूचना दी गयी थी. ...आजकल...मंदिरोंका उपयोग यश-कीर्ति प्राप्त करनेके-लिये होने लगा है. मंदिरोंमें प्राधान्य मनोरथीका होने लगा है. श्री(ठाकुरजी), गुरु तथा सेवाभावना का उपहास होने लगा है. जबसे मार्गीय सिद्धान्तोंका उपहास होने लगा है तबसे मंदिरकी उसके संचालकोंकी वृत्ति ही पलट गई है. आडंबर और यश को पुष्ट करनेकेलिये ...दर-दर भटकनेकी स्थिति पैदा हो गयी है. ...इन सबका सच्चा उपाय इस कलिकालमें अपने सन्तानोंको जरूरी संस्कार अपने घरसे ही दिये जायें ये ही है.

...मंदिरोंका सम्पूर्ण व्यापारीकरण होने लगा है. ...सम्पत्ति...प्राप्त करनेकी लालच बढ़नेसे प्रभु(स्वरूपसेवा)को भी हम व्यापार स्वरूपमें परिवर्तित करने लगे हैं.

(जुलाई-२००७ पृ.६)

ठाकुरजीकी सेवा चोरकी तरह करनी चाहिये. ...सेव्यस्वरूपका मैं सेवक हूं उसका ढिंढोरा पीटना या उसका प्रदर्शन करना वह भी जीवके दैन्यमें विक्षेप उत्पन्न कर सकता है. ...अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें भी इतनी गुप्तता जरूरी है. ''प्रीत हियेमें राखीये प्रकट किये रस जाय''की रीतिसे तुम्हारे प्राणप्रेष्ठ तुमको जिस रसकी प्राप्ति कराते हैं उसे कभी भी प्रकट नहीं किया जा सकता है.

(सप्टेम्बर-२००४ पृ.७)

आज तो श्रीनाथजी-नाथद्वारा, चंदबावा-कामवन और अन्य ठाकुरजीके दर्शन करते ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी भुला जाते हैं. पुष्टिमार्गमें तो 'श्रीजी'का अर्थ ही अपने माथे बिराजते ठाकुरजी होता है.

लक्ष्मण बालाजीमें भी 'तिरुपति' शब्दका प्रयोग होता है जिसमें 'तिरु'का अर्थ श्री और 'पति'का अर्थ नाथ (यानि श्रीनाथ) ही होता है. अर्थात् अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीमें ही अपने सर्वस्वका दर्शन होना चहिये. उनको अरोगाया मतलब समस्त जगतको प्रसाद लिवा दिया ऐसा भाव सिद्ध होना चाहिये. यहां तो उससे उलटी गंगा बह रही है. अपने सेव्य ठाकुरजीमें सभी निधिस्वरूपोंके दर्शन होनेके बदले अब तो सबमें अरे, वहां तक कि जीवामात्रमें अपन अपने ठाकुरजीका दर्शन करनेका विचार कर रहे हैं! और फिर बुद्धिकी चतुराई भी वापर रहे हैं कि सभीमें ठाकुरजीका अंश है इसलिये घरमें प्रभुकी सेवा करें या अन्योंकी सेवा करें एक ही बात है!! अतः अन्यसेवामेंसे सन्तोष लेना शुरु किया. इससे शरीर, पैसा, कीर्ति सबकी रक्षा हो और ऊपरसे परम भगवदीय कहलाने लगें!!! (सप्टेम्बर, २००७ पृ.७)

(**पंचमगृहाधीश नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी महाराज,** कामवन-विद्यानगर, वैष्णवता-'सांचे बोल तिहारे', प्रकाशक: पं.पी.गो. श्रीवल्लभलालजी महाराज)

(२५/क)हम श्रीवल्लभाचार्यजीकी आज्ञाको पालन कहां कर रहे हें? अपने यहां गृहसेवा कहां (रह गयी) है? केवल मन्दिरन्में दर्शनसूं क्या लाभ है? श्रीमहाप्रभुजीकी आज्ञा है ''कृष्णसेवा सदा कार्या''. यदि श्रीमहाप्रभुजी मन्दिरकुं मुख्य मानते तो अपनी तीन परिक्रमान्में अनेक मन्दिर स्थापित कर देते. श्रीगुसांईजीने श्रीगिरधरजीकुं सातस्वरूपके मनोरथ करते समय या प्रकारकी चेतावनी दी थी. मन्दिरस्थापन करते समय उनकुं डर हतो के घरमेंसूं ठाकुरजी मन्दिरमें पधार जायेंगे. मेरे पिताजीने कल (उपर्युद्धृत वचनमें) जो कह्यो वो अक्षरशः सत्य है. तुम अपने घरन्में ठाकुरजीकुं पधराओ और सेवा करो.

(२५/ख) पुष्टिमार्गीय प्रणालिकाके अनुसार ट्रस्ट होनो उचित नहीं है. श्रीआचार्यचरणने प्रत्येक ब्रह्मसम्बन्धी जीवकुं आज्ञा दी है ''गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः'' (भक्तिवर्धिनी) अर्थात् गृहमें रहके स्वधर्माचरण करनो चहिये. गोस्वामी बालक भी आचार्य होवेके बावजूद वैष्णव भी हैं. अतः आचार्यश्रीकी उपरोक्त आज्ञाकुं पालनो उनको भी कर्तव्य है... अतः मेरो तो माननो यही है के आचार्यचरणके सिद्धान्तके अनुसार वैष्णवन्कुं स्वयंके घरमें श्रीठाकुरजीकी सेवा करनी चहिये और धर्मग्रन्थन्को पठन-पाठन करनो चहिये. नहीं के मन्दिरन्में जाके...ट्रस्ट तो पुष्टिमार्गीय प्रणालिकासूं संगत होवेवाली बात नहीं है प्रत्युत अपनी प्रणालीको भंग कर-वेवाली बात है.

(**नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीशजी महाराज, दहिसर-मुबई,** क-'वल्लभविज्ञान'. अंक ५-६ वर्ष १९६५, ख-'नवप्रकाश' अंक ८ वर्ष ८)

(२६) क्योंकि श्रीनाथजी स्वयं वाके भोक्ता हैं किन्तु वैष्णव-वृन्द तथा सेवकगण भी वा महाप्रसाद लेवे तकके अधिकारी नहीं हैं. यह आचार्यचरणके इतिहाससूं प्रत्यक्ष प्रमाणभूत है. वाके महाप्रसाद लेवेको केवल गायकुं ही अधिकार है. अन्यथा वा देवद्रव्यके उपभोग करवेसूं निश्चय ही अधःपतन है... सब प्रकारके दान-चढ़ावा व वसूल वसूली करवेको उल्लेख कियो गयो है, वो भी सम्प्रदायके सिद्धान्तसूं नितान्त विरुद्ध है. अपने सम्प्रदायकी प्रणालीके अनुसार जो अपने सम्प्रदायके सेवक हैं, उनको ही द्रव्य गुरु-शिष्यके सम्बन्धसूं लेके सेवामें उपयोग करायो जा सके है. सम्प्रदायमें सब प्रकारके दान-चढ़ावान्को उपयोग सेवामें नहीं कियो जाय है; ओर कदाचित् कहीं कियो जातो होय तो वो सम्प्रदायके नियमन्सूं विरुद्ध होवेके कारण बन्द कर देनो चहिये.

(**सप्तमगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीघनश्यामलालजी,** कामवन, ''श्रीनाथद्वारा

ठिकानेके प्रबन्धकी दिल्ली-योजनाकी आलोचना, ता.१-२-५६'')

(२७/क) ...ब्रह्मसम्बन्ध लेके सेवा करवेसूं प्रत्येक इन्द्रियन्को भगवान्में विनियोग होवे है... मन्दिर-गुरुघर केवल उपदेशग्रहण करवेकेलिये हैं. सेवा अपनकुं अपने घरन्में करनी है.
('वल्लभविज्ञान'अंक ५-६ वर्ष १९६५)

(ख) आज बहुत घरोमें सेवा होती है, पर क्या हम विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि यह सेवा वास्तविक सेवा है? क्या आजकी सेवा ''चेतस्तत्प्रवणं सेवा'' (चित्तका प्रभुमें प्रवण हो जाना वह सेवा है) का अक्षरशः सार्थक स्वरूप है?

वस्तुतः हम खुद वल्लभवंशज गोस्वामी भी यह दावा नहीं ही कर सकते हैं कि आज हम वास्तविक सेवा कर रहे हैं. यह कहनेमें मुझको लेश मात्र भी संकोच नहीं हो रहा है, क्योंकि मैं दम्भका संरक्षण करना नहीं चाहता हूं. अतः स्पष्ट है कि यदि हम गोस्वामीओमें सेवाकी और श्रीमहाप्रभुजीद्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंके पूर्ण परिपालनकी क्षमता होगी तो ही हमारे अनुयायी स्वयं सेवा और सिद्धान्त के परिपालनमें सक्षम हो पायेंगे, अन्यथा नहीं. क्योंकि हम गोस्वामी और वैष्णव एक ही तत्त्वके दो प्रकार हैं. वल्लभकुल बिन्दुसृष्टि है तो वैष्णव नादसृष्टि है. इस स्थितिमें श्रीमहाप्रभुजी और श्रीगुसांईजी प्रभुचरण द्वारा की गयी आज्ञा वल्लभकुल और वैष्णव दोनोंकेलिये परिपालनीय है.
(**पू.पा.गो.श्रीमथुरेश्वरजी महाराज,** बडौदा-सुरत, पुष्टिबोध भाग-१, पृ.२३, वि.सं.२०३४)

(२८) प्रश्न : आज चल रहे जो डिस्प्युट् हैं वामें कितनेक सिद्धान्त चर्चित हो रहे हैं जैसे कि नये मन्दिर नहीं खोलने, ट्रस्ट मन्दिर नहीं बनाने, ठाकुरजीके नामपे द्रव्य नहीं लेनो, ठाकुरजीके दर्शन नहीं कराने, तथा बिना समजे-सोचे कोईकु ब्रह्मसम्बन्ध नहीं देनो. इन सब विषयमें आपको अभिमत क्या है?

उत्तर : देखो मन्दिरकी जहां तक स्थिति है तो ये बात सत्य है के पुष्टिमार्गीय प्रकारसुं मन्दिर तो मात्र एक ही है; ओर सब घरकी स्थिति हती. ...आज मन्दिर जितने हैं अथवा जिन स्थानन्कुं अपन मन्दिर समझे हैं वो स्थान...वाकु अपन मर्यादापुष्टि मन्दिर कह सके हैं, पुष्टिमन्दिर नहीं. पुष्टिको प्रकार तो मात्र गृहसेवामें ही है.
('आचार्यश्रीवल्लभ', ऑगस्ट१९९४, अंक५, पुष्टिमार्ग-वर्तमान प्रश्न-उत्तर ४, पृ.७)

(ख)आजसे डेढ़सो वर्ष पूर्व, श्रीमहाप्रभुजीके समयसे तब तक, पुष्टिमार्गमें कोई भगवन्मन्दिर खोलनेकी प्रणाली नहीं थी. प्रत्येक वैष्णवके घर-घर भगवत्सेवा हो उसका आग्रह रखा जाता था. वैष्णव अपने घरमें श्रीठाकुरजीके स्वरूपको सेव्य कराकर पधराकर गुरुघरकी प्र**णा**लिका अनुसार सेवा करते थे. (व्रज मोंहे बिसरत नाहीं, पृ.१४०-१४१)

(ग)खेतमें भरे हुवे जलको पी नहीं सकते. ...वो अनाज तो पैदा कर सकता है. वो अपने पेट भरनेका साधन मात्र करता है. वो किसी दूसरेके ओर उपकारका नहीं होता है. ...अपना पेट पालनेके लिये भगवद्गुणगान करते हैं वो उस प्रकारके होते हैं कि जैसे खेतमें भरा हुवा पानी होता है. पद्मनाभदासजी...आचार्यचरचणके निबन्धका श्लोक समझाने पर ही उन्होंने अपनी पौराणिक वृत्तिको छोड़ दिया! ...अपने मकानमें बरतन धोनेके पनाले हैं उसमें जो जल जाता है वो एक गढ़ढेमें इकठ्ठा हो जाता है. ...वो पानी तो केवल गंध ही मारता है... भगवद्भाव होते हुवे भी

जिनके स्वभावमें दुःसंगके द्वारा दोष उत्पन्न हो जाता है ऐसे मनुष्य उस गंदे गढ्ढेके समान बन जाते हैं कि जिसमें पानी भरा हुवा तो होता है लेकिन वो पानी किसी उपयोगका नहीं होता. वो भरा हुवा पानी केवल दुर्गन्ध पैदा करता है. ...पांचवें (भगवद्गुणगान करके अपनी आजीविका चलानेवाले नीच वक्ताओंके भाव) गटरके समान दुर्गन्धयुक्त...अस्पृश्य होते हैं. (जलभेद प्रवचन, वडोदरा)
(**तृतीयगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज,** कांकरोली-वडोदरा)

(२९) श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करे हैं के दुनियामें भटकते रहेते अपने मन-चित्त(कुं) श्रीठाकुरजीके सङ्ग जोडिके विनकी तनु-वित्तजा सेवा करनी. तनुवित्तकी सेवा अर्थात् स्वयं उपार्जित अपने धनसों, अपने ही घरमें श्रीठाकुरजीकी अपने ही शरीरसों सेवा करनी.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीवागीशकुमारजी,** वडोदरा-कांकरोली, 'वल्लभी-यचेतना', ऑक्टोबर १५ २००३, पृ.-४)

(३०) जो घरमें रहकर प्रभुकी सेवा करते हैं वे स्वयं तो कृतार्थ होते ही हैं किन्तु उनके परिवारके परिजन भी कृतार्थ होते हैं. ...सभी इन्द्रियसे अन्तःकरणसे भजनानन्दका अनुभव घरमें रहकर श्रीठाकुरजीकी सेवासे होता है. ...इसलिये घरमें आचार्य श्रीगुरुचरणसे पुष्ट करके श्रीठाकुरजी पधराओ और समयको सेवामय बनाओ. ...श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं तो घर घर नहीं रह जाता, वह प्रभुकी क्रीडाका स्थल बन जाता है...नन्दालयकी लीलाका स्थल बन जाता है.

...मुकुन्ददास...रामदास सांचोरा...किशोरीबाई...जीवनदास ...इन महानुभावोंने ...श्रीनाथजी तथा घरके श्रीठाकुरजीमें भेद नहीं समझा.

...श्रीठाकुरजी अपने निधि अर्थात् सर्वस्व हैं. ...ऐसे पूर्णपुरुषोत्तम श्रीनन्दराजकुमारको श्रीमहाप्रभुजीने हमारी गोदमें पधराकर हमें भाग्यशाली बनाया है. यह अलौकिक निधि(धन) देकर हमें धन्य बनाया है. इससे बड़ा दूसरा कौनसा फल है !

...जो सांसारिक कामनासे श्रीठाकुरजीका भजन अर्थात् दर्शन स्मरण सेवा करता है उसे क्लेश ही हाथ लगता है. ...घरके ठाकुरजी ही सर्वस्व हैं. ...वे ही नित्यलीलाके आनन्दका अनुभव कराएंगे. वे हमारे पति हैं जो भयसे रक्षा एवं सुरक्षा भी करते हैं.

क्या कोई स्त्री अन्य जगह जाकर किसीकी सेवा कर सकती है ? कदापि नहीं. ...घरके परिजनोंको यह बर्दाश्त नहीं होगा. ...इसी तरह जो अपने माथे श्रीठाकुरजी घरमें बिराजते हैं उन्हें हम चाहे जैसे नये-नये पुष्टिमार्गीय मनोरथ करके सामग्री सिद्ध करके लाड़ लड़ा सकते हैं परन्तु यह अधिकार किसी दूसरे ठिकाने थोड़ी मिल सकता है. अतः ''घरके ठाकुरके सुत जायो नन्ददास तहां सब सुख पायो''.

श्रीनाथजीको भी देवालयकी लीला छोड़कर नन्दालयकी लीला करने हेतु श्रीगुसांईजीके घर पधारना पड़ा. ''व्याजं लौकिकमाश्रित्य श्रीविट्ठलगृहेऽगमत्''. अतः श्रीनाथजीका यह पाटोत्सव ही मुख्य माना गया है जो फाल्गुन कृष्ण सप्तमीको आता है.

अतः घरके श्रीठाकुरजीका स्वरूप समझना बहुत आवश्यक है. कोई पत्नी अपने पतिकी सेवा न करे, उसके गुणगान ही करती रहे...तो क्या पति सन्तुष्ट होगा ? इसी प्रकार ...जो कृष्ण-कृष्ण गुणगान करते रहते हैं, परन्तु सेवा स्वधर्मसे विमुख रहते हैं वे हरिके द्वेषी हैं (विष्णुपुराण). सेवासे सेव्यको सन्तोष मिलता है यही वैष्णवका स्वधर्म है.
(**द्वितीयगृहाधीश पू.पा.गो.श्रीगोकुलोत्सवजी महाराज,** इन्दौर-नाथद्वारा, २५२ वैष्णव वार्ता, खंड-२ की भूमिका पृ.१५-३६)

(३१)(क)गो.श्रीहरिरायजी : जरा ध्यानसे सुनें ... ''तत्र अयम् अर्थः. लाभपूजार्थयत्नस्य उपधर्मत्व-देवलकत्वादि'' स्पष्ट सुनें, ''सम्पादकत्वात्''... लाभ-पूजार्थ यत्न करता है जो सेवा करके, जब वो लाभ-पूजार्थ प्रयत्न करता है तो वो उपधर्म हुवा; देवलकत्व आदि जो दोष हैं वो उसमें प्रविष्ट होंगे. ...
गो.श्रीश्याममनोहरजी : अर्थात् यह खास ध्यानमें रखना कि जिस स्वरूपकी भावप्रतिष्ठा की गयी हो उस स्वरूपकी भी लाभ अथवा पूजा केलिये यदि सेवा की जाती है तो सेवा करनेवाला देवलक(पापी) बन रहा है...

गो.श्रीहरिरायजी : और उपधर्मत्व होता है ... और ये निषिद्ध है. ...

गो.श्रीश्याममनोहरजी : इस स्थितिमें गुरु अपने लाभ अथवा पूजा केलिये शिष्यसे कुछ भी ठाकुरजीकेलिये मांगता है तो वह ... शास्त्रनिषिद्ध होनेसे ... दान होनेसे, देवद्रव्य होनेसे उपयोग करने योग्य नहीं होता है.

गो.श्रीहरिरायजी : हां. बिलकुल. ... ये तो बिलकुल स्पष्ट है. ... 'स्ववृत्तिवाद'से भी स्पष्ट होता है.('पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा विस्तृत विवरण' पृष्ठ १६४, १९३)

(ख) श्रीमदाचार्यचरणने ''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'' यह कहा है. कारण कि दो अलग-अलग व्यक्ति तनुजा वित्तजा करते हैं तो मानसी सिद्ध नहीं होती. ... इसी अभिप्रायको समझानेके लिये आचार्यचरणने 'तनुवित्तजा' यह समस्तपद कहा है. ...वेतनके रूपमें वित्त लेकर या देकर दो पुरुषों द्वारा की गई ऐसी तनुजा-वित्तजा सेवाएं मानसीकी साधक नहीं होती यही अभिप्राय बतानेके लिये तनुवित्तजा समस्त पद कहा गया है. अन्यथा तनुवित्तजा न कहकर तनुजा-वित्तजा ही कहते. ... यदि दो अलग-

अलग व्यक्ति तनुजा और वित्तजा करें तो दोनों सेवाओंकी एक संयुक्त अवस्था तनुवित्तजा नहीं बन पाती. अतएव मानसी सिद्ध नहीं होती.

(ग) जहां तक लाभपूजार्थयत्नका सवाल है तो वह तो किसी भी कोटिका भक्त करेगा तो देवलक ही होगा. ...यदि कोई स्वलाभपूजार्थ दर्शन-मनोरथ-महाप्रसाद आदि करता है तो अवश्य देवलक है. **...अन्यके घरमें, अन्यके वित्तसे, अन्यके ठाकुरजीके भोगका महाप्रसाद लेना घोर सिद्धान्तविरुद्ध है.**

(घ) अब रहा सवाल ट्रस्टकी इन्कम् और प्रोफिट् यानी आय और लाभ का, तो ट्रस्टके आय-लाभ हम नहीं लेते. उलटा भगवत्शास्त्रोक्त सर्वलाभोपहरण न्यायसे ट्रस्टका सारा लाभ भगवदर्थ या गो-ब्राह्मणार्थ लगा देते हैं. ...हमारे प्रभुको नित्यनेगभोग हम स्ववित्तजासे अरोगाते हैं.

(ङ) पुष्टिमार्गीय वैष्णवके लिये श्रीभागवतकथा करके वृत्ति करना निषिद्ध है.

(च)वैष्णवोंकी वित्तजासेवासे अपने श्रीठाकुरजीका नेगभोग करके फिर उसमेंसे लाभ-प्रोफिट् करके बनियेकी तरह खुद हडप कर जाना निश्चित ही देवलक है.
(**पु.सि.सं.शि.पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी महाराज,** जामनगर, अनिर्दिष्टपृष्ठसंख्याक 'तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा'; च=अनिर्दिष्टदिनांक 'सिद्धान्तघोषणापत्र')

(३२) अपने सम्प्रदायमें इतनो अधिक सिद्धान्तवैपरीत्य हो गयो है कि गुजरातके एक गांवमें...अपने सम्प्रदायके ही दो मन्दिर हैं और मन्दिरन्की दीवार भी एक ही है; परन्तु...इतना लोकार्थित्व समाजमें उत्पन्न हो गया है... सवेरो होते ही चन्द्रमाजीवाले वैष्णव बालकृष्णलालको जो

मेवा होवे है वो चन्द्रमाजीमें ले जावे हैं और बालकृष्णजीवाले जो वैष्णव होवे हैं वो चन्द्रमाजीको जो मेवा और प्रसाद होवे है वाकु बालकृष्णलालजीमें ले आवे हैं! ऐसी जबरदस्त होंसातोंसी वैष्णवसमाजमें पैदा हो गई है के मानों एक-दूसरेके संग स्पर्धा करते होवें. ऐसो ईर्ष्या-द्वेषको वातावरण जब सेवाके क्षेत्रमें उत्पन्न हो जावे तो वासूं बढ़के लोकार्थित्व ओर क्या हो सके है! ... ऐसे सभी सिद्धान्तवैपरीत्यकी फज़ीहत यदि सर्वाधिक कहीं होती होय तो गुजरातमें होवे है. भागवतमें भी लिख्यो है के ''गुर्जरे जीर्णतां गताः'' भक्ति गुजरातमें आके बूढ़ी हो गई है. अन्धानुकरण बढ़ा हो तो वह गुजरातमें बढ़ा है. ... अतः सिद्धान्तकी सत्यनिष्ठा ... और श्रीमहाप्रभुजीके पुष्टिसिद्धान्तों के सद्जागरणकी कहीं आवश्यकता है तो... गुजरातमें.

(**पू.पा.गो.श्रीद्रुमिलकुमारजी,** सुरत, ''पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, दि.१०-१३ जनवरी,९२. पार्ले-मुंबई, विस्तृतविवरण'' पृ.३१७-३१८)

(३३) प्रश्न: अपने सम्प्रदायमें मन्दिरकुं 'मन्दिर' न कहके 'हवेली' क्यों कह्यो जावे है?

उत्तर: सामान्यतया इतर हिन्दु-सम्प्रदायमें 'मन्दिर' शब्द देवालयके अर्थमें प्रयुक्त होवे है परन्तु ऐसे देवालयके रूपमें मन्दिर जैसी संस्थाको पुष्टिमार्गमें अस्तित्व ही नहीं है. क्योंकि पुष्टिमार्गमें अपने माथे जो प्रभु पधराये जावे हैं वे प्रभुस्वरूप और उनकी सेवा हरेककु व्यक्तिगतरूपमें वाकी भावनाके अनुसार पधराये जावे हैं. स्वयंके श्रीठाकुरजीकी सेवा पुष्टिमार्गीय जीवको एकमात्र स्वयंको कर्तव्य बन जातो स्वयंको ही धर्माचरण है. पुष्टिमार्गमें सेवा सामुहिक जीवनको विषय नहीं परन्तु व्यक्तिगत जीवनको विषय है. जेसे लोकमें पत्नी अथवा माता को पति अथवा पुत्र की सेवा या वात्सल्य प्रदान करवेको वाको व्यक्तिगत धर्म

उत्तरदायित्व और अधिकार होवे है वा ही तरह जा सेवकके जो सेव्यस्वरूप होवे हैं वा सेव्यस्वरूपकी सेवा वाको व्यक्तिगत धर्म और अधिकार होवे है. सेवा कोई सार्वजनिक कार्य या सार्वजनिक प्रवृत्ति नहीं परन्तु सेवा तो स्वयंके आन्तरिक जीवनके साथ सम्बन्ध रखवेवाली बात होवेसूं स्वयंके जीवनकी स्वयंके घरमें की जावेवाली धर्मरूप प्रवृत्ति है... अतः इतर हवेलीन्की तरह जैसे 'श्रीनाथजीको मन्दिर' शब्द, रूढ़ हो गयो होवेसूं, प्रयोग कियो जावे है. वस्तुतः तो सामुहिक दर्शन या सेवा जहां की जाती हो ऐसे अन्यमार्गीय सार्वजनिक देवस्थान जैसो वो मन्दिर नहीं है.

(**पू.पा.गो.श्रीवल्लभरायजी महाराज,** सुरत, 'पुष्टिने शीतल छांयडे' पृ.सं.१५७-१५८)

(३४) श्रीमहाप्रभुजीने अलग-अलग मन्दिरन्की प्रणाली खड़ी नहीं करी; परन्तु यामें जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्यकी एक दूरदृष्टि हती: प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय बननो चहिये... कोई मन्दिरके पड़ौसमें एक बहन रहे है. वाकुं मन्दिरकी आरतीके घंटानाद सुनाई पड़े हैं. सेवा करवेकुं बैठी भई वो बहन ठाकुरजीके वस्त्र बड़े करके स्नान करावे जा रही हती ऐसेमें आरतीके घंटानाद सुनाई दिये. वो ठाकुरजीकुं वहीं वाही अवस्थामें छोड़के मन्दिरकी तरफ दौड़ गई. थोड़ी देरके बाद लौटके घर आई. अब विचार करो कि या तरहसूं कोई सेवा करे तो वामें आनन्द कभी आ सके है क्या? यहां तो प्रत्येक वैष्णवको घर नन्दालय है.

(**पू.पा.गो.सुश्रीइन्दिरा बेटीजी,** वडोदरा 'वैष्णवपरिवार' अंक जून ९०)

(३५) तनुजा सेवा और वित्तजा सेवा एक ही व्यक्ति करे तब कहीं जाकर वह मानसीको सिद्ध करती है. केवल तनुजा करली या केवल वित्तजा करली तो अहन्ता-ममता दूर नहीं होगी. ... कैसे? मैं आपको एक उदाहरण देता हूं. ... जो घरसेवा करते हैं उनकेलिये तो को प्रश्न नहीं

है. लेकिन यदि को वित्तजा सेवा करेगा तो समझ लीजीये कि उसने मन्दिरमें भेंट दी. मनोरथ किया. उसकी आप रसीद लेंगे. ... तब आप कहेंगे ''मैने सेवा लिखायी है''. आप कहते हैं ''मैने सेवा लिखायी है'' तब अहन्ता कहां दूर हु ? अब आप मेहताजीसे क्या मांगोगे ? ''ये मेरी रसीद है, मेरा प्रसाद लाओ''. तो देखीये, अहन्ता-ममतामें हम और बंध गये. तो ऐसी सेवा संसारको दूर नहीं करेगी, संसारमें बांधेगी. .... केवल यदि हम वित्तजा करते हैं तो हमारे अहंकारको बढाते हैं. और अहन्ता दूर न होगी, ममता दूर न होगी तो मानसी कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि सभी बन्धनका मूल अहन्ता-ममता ही है.

(**पू.पा.गो.श्रीद्वारकेशलालजी महाराज,** कामवन-सुरत, सिद्धान्तमुक्तावली प्रवचन, भरूच, जनवरी २००५)

(३७) पुष्टिमार्ग गुप्त है, दिखावाकेलिये तो है ही नहीं, भक्त और भगवान् के बीच आन्तरिक सम्बन्ध दृढ करवेको मार्ग है... दोनोंके संबंध ऐसे होने चहिये कि कोई तीसरेकुं वाकी जानकारी न हो पाये. अपनो अपने भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है याकुं दूसरे कोई व्यक्तिकुं जतावेकी आवश्यकता ही क्या है ? प्रशंसा पावेकुं ? स्वयंकी महत्ता बढ़ावेकुं ? ये तो सभी कुछ बाधक है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी,** अमरेली-कांदीवली, 'पुष्टिनवनीत' पृ.१२)

(३८) चित्त भगवत्प्रेममें परिपूर्ण होइ जाय, पूर्णत: भगवान्में लगि जाय, तन्मय अरु तल्लीन होइ जाय है तब परासेवा होत है. याकों मानसी सेवा कह्यो जाय है. याके सङ्ग मनुष्यकों शरीरसों हु सेवा करनी चहिये. ... तनुजा सेवासों शरीरकी शुद्धि होत है. अहन्ता-अहंपनेंको नाश होत है. धनसों करी जाती सेवा 'वित्तजा'सेवा है. वासों ममता-मेरोपेनेंको नाश होत है. अहन्ता अरु ममता एक-दूसरेके सङ्ग जुडे भये रहत हैं तासों

तनुजा अरु वित्तजा सेवा एकसङ्ग करनी चहिये. यामें प्रधानता तनुजा सेवाकी है. केवल धन दे देवेसों सेवा होत नाहीं है. वासों तो (चित्तमें)राजसी वृत्ति होत है.

(**षष्ठगृहाधीश पू.पा.गो.चि.श्रीद्वारकेशलालजी,** वडोदरा, श्रीमद्‌भगवद्गीता पुष्टिदर्शन, पृ.१२५)

(३९/क) ''श्रीमहाप्रभुजी वल्लभाचार्यजीके पुष्टिसम्प्रदायमें दो दीक्षाएं दी जाती हैं. दोनों दीक्षाओंका प्रयोजन और तत्पश्चात् कर्तव्य का भी विचार बहुत आवश्यक है. केवल शिष्येषणासे प्रेरित होकर शिष्य बनानेके लिये दी जाती दीक्षासे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है. जो भगवत्सेवा करनेके लिये तैयार नहीं है उसको कदापि ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनी नहीं चाहिये. परन्तु श्रीमहाप्रभुजीके सिद्धान्तोंमें यदि निष्ठावान् है तो उसे केवल नामदीक्षा लेनी चाहिये और अन्याश्रयका त्याग करके श्रीकृष्णका आश्रय दृढ करनेकेलिये प्रयत्नशील होकर नामसेवारत रहना चाहिये. परन्तु ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षा लेनेके बाद श्रीकृष्णकी सेवा करना अनिवार्य है.

श्रीकृष्णकी सेवा भी श्रीमहाप्रभुजीद्वारा दिखलाई गयी रीतिके अनुसार ही हो सकती है. अपने घरमें अपने परिवारके सदस्योंके साथ अपने ही द्रव्यसे भगवत्सेवा करनी चाहिये. किसीको द्रव्य देकर अथवा किसीसे द्रव्य लेकर की जाती सेवा वह भगवत्सेवा तो कदापि नहीं ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुजीका द्रोह होनेसे गुरु-अपराधसे ग्रसित बनाकर आरूढपतित बनाती है और इस भक्तिमार्गसे भ्रष्ट करती है. आजीविका चलानेकेलिये की जाती व्यावसायिक सेवासे तो चांडालके समान हीन देवलक बन जाते हैं. अतः भगवत्सेवा अपने घरमें अपने द्रव्य और तनसे ही की जा सकती है.

सेवाकी ही तरह भगवत्कथा–कीर्तन भी स्वयं अथवा निष्काम भगवदीयोंके साथ करने चाहिये. व्यावसायिक कथाकारोंको द्रव्य–दक्षिणा देकर करायी जाती कथा राखमें घी होमनेके तुल्य है. ऐसी कथा, पारायण, कीर्तन अथवा सप्ताह पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तसे सर्वथा विरुद्ध हैं. अतः सेवा और कथा दोनों द्रव्य देकर अथवा लेकर करनेसे किसी भी तरहके अलौकिक पुष्टिफलकी प्राप्ति स्वप्नमें भी नहीं हो सकती है. हां, बहिर्मुख अवश्य होते हैं.

(ख)''अमे तो राजना खासा खवास मुक्ति मन न आवे रे'' व्रजाधिपका सेवन करनेवाले हम मुक्ति नहीं मांगते हैं. फिर भी पुष्टिमार्गी वैष्णव भागवत सप्ताह बैठाकर अपने पितृओंको मोक्षके मार्गपर भेजते हैं ! पितृमोक्षार्थ भागवत सप्ताह ! को एकसो आठ ! को एक हजार आठ ! ...अपने पितृ तो गोलोकमें जाते हैं ! उनको वापिस मोक्षमें क्यों भेजते हो ? ...भागवत सप्ताह पूरी हो जानेके बाद माला पहेरामणी (सौराष्ट्रकी एक वैष्णव परम्परा) की जाती है और कहते हैं कि अब गोलोक धाम ...अब गोलोक धाममें भेजना है ! मतलब यह हुवा कि पितृओंको यहां से वहां सिर्फ धक्के हि खिलवाने हैं ! हमारा कोई ध्येय ही निश्चित नहीं है !! हमने श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थोंको खोला नहीं है उसका यह दुष्परिणाम है कि जिसे हमारे पूर्वजोंको भुगतना पड़ रहा है.

(**पू.पा.गो.चि.श्रीपुरुषोत्तमलालजी**, जुनागढ, श्रीयमुनाष्टक प्रवचन, राजकोट, ०६)

संयुक्तघोषणापत्र १९८६ : सुप्रिमकोर्ट

...जहां तक सिद्धान्तके निश्चित स्वरूप या व्याख्या का प्रश्न है, हम सभी धर्माचार्य, हमारे सम्प्रदायके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य तथा परवर्ती अन्य भी मान्य सभी व्याख्याकारोंके सन्देहरहित विधानोंके

आधारपर, यह स्पष्टतम शब्दोमें घोषित करते हैं कि हमारे धार्मिक सिद्धान्त एवं परम्पराओं के अनुसार भगवत्सेवा, सेवास्थल, सेवोपयोगिसम्पत्ति, सेवाकर्ता (उपदेशक या अनुयायी) एवं सेव्य भगवत्स्वरूप का निजी अथवा पारिवारिक होना एक अनुल्लंघ्य धार्मिक अनिवार्यता है. अतः इनमेंसे किसीको भी सार्वजनिक बनाना सर्वथा धर्मविरुद्ध होनेसे एक घोर धार्मिक अपराध है.

...वाल्लभ सम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार निजघरमें निजधनको तथा निज परिवारजनोंको भगवत्स्वरूपकी सेवामें उपयोगमें लाना ही आराधनाका वास्तविक स्वरूप है. ...अतः निजघरमें निजधनके विनियोग द्वारा तथा निजपरिवारके जनोंके सहयोग बिना की जाती आराधना, वाल्लभ सम्प्रदायकी आराधनाकी परिभाषाके अनुसार, आराधना ही नहीं है. ऐसी स्थितिमें हमारे घरोंमें आती जनताद्वारा हमारे सेव्य भगवत्स्वरूपके दर्शन करना या भेंट चढाना आदि आचरण आराधनाके अन्तर्गत मान्य क्रियाकलाप नहीं है.

...यदि निज घरमें न किया जाता हो तो ऐसे भगवद्भजनको पुष्टिमार्गीय परिभाषामें भगवद्भजन ही नहीं कहा जा सकता है. पुष्टिमार्गमें निजघरमें रहकर भगवद्भजन करनेके प्रकारके अलावा अन्य कोई प्रकार भगवद्भजनका है ही नहीं.

...भेंट धरे हुए धनसे भोग धरी हुई सामग्रीका प्रसादत्वेन ग्रहण हमारे यहां सर्वथा वर्जित है. ...सार्वजनिक मंदिरमें दर्शनार्थी जनताके प्रतिनिधिके रूपमें सेवा करनेकी प्रक्रियाको न तो वाल्लभ सम्प्रदायमें अवकाश है और न वैसा आचरण सिद्धांततः प्रशंसनीय ही है. भगवत्सेवाका अनुष्ठान न तो नौकरी और न धंधा के रूपमें किया जा सकता है.

...श्रीमहाप्रभु सभी पुष्टिमार्गीयोंको सैद्धान्तिक निष्ठा स्वधर्मानुसरणका सामर्थ्य तथा पारस्परिक सौमनस्य प्रदान करें. ... सभी पुष्टिमार्गीयके निजघरोंमें बिराजमान सेव्यस्वरूप सर्वदा निजी ही रहें, कभी सार्वजनिक न बन जायें. ''बुद्धिप्रेरक कृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु''.

हस्ताक्षर कर्ता :
गो. शरद् अनिरुद्धजी (मांडवी-हालोल)
गो. किशोरचन्द्र (मांडवी-जुनागढ)
गो. अजयकुमार श्यामसुंदरजी (मद्रास)
गो. मनमोहन (मुंब)
गो. श्यामसुन्दर मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो. हरिराय कृष्णजीवनजी (मुंब)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णचन्द्रजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंब)
गो. वल्लभलाल श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो. हरिराय श्रीगोविंदरायजी (पोरबंदर)
नि.ली.गो.श्रीव्रजाधीषजी श्रीकृष्णजीवनजी (दहिसर)
गो. व्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
नि.ली.गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)
गो. राजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो. विजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो. योगेश्वर मथुरेश्वरजी (वडोदरा-सुरत)
गो. रघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
गो. देवकीनन्दनाचार्य (गोकुल-अमदावाद)
गो. नवनीतलाल श्रीगोविंदलालजी (कामवन-भावनगर)
गो. मुरलीमनोहर श्रीव्रजाधीशजी (दहिसर)
नि.ली.गो.श्रीमाधवरायजी श्रीगोकुलनाथजी (मुंबई-नासिक)
गो. रमेशकुमार श्रीगोपीनाथजी (मुलुंड-नासिक)

गो. कल्याणराय (कन्हैयाबावा) (वीरमगाम-अमदावाद)
गो. योगेशकुमार (मुंबई)
गो. व्रजप्रिय मुरलीधरजी (बोरीवली)
गो. नीरजकुमार श्रीमाधवरायजी (मुंबई-नासिक)
गो. शरदकुमार (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
गो. चन्द्रगोपाल (चंदुबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
दुबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
नि.ली.गो.श्रीनृत्यगोपालजी श्रीकृष्णजीवनजी (मुंबई)
पत्रद्वारा सम्मति :
नि.ली.गो.श्रीबालकृष्णलालजी श्रीगोविंदरायजी (सुरत)
नि.ली.गो.श्रीव्रजभूषणलालजी महाराज (जामनगर)
पञ्चमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी(कामवन-वल्लभविद्यानगर)
नि.ली.गो.श्रीगोविंदलालजी (कोटा)
गो.श्रीअनिरुद्धलालजी श्रीद्वारकेशलालजी (मांडवी-हालोल)
गो.श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)
गो.श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
गो.श्रीविट्ठलनाथजी श्रीव्रजभूषणलालजी(चापासेनी-जूनागढ-जामनगर)
गो.श्रीहरिरायजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जामनगर)
गो.श्रीव्रजरत्नजी श्रीव्रजभूषणलालजी (नडीयाद-जामनगर)
गो.श्रीनवनीतलालजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जूनागढ-जामनगर)
गो.श्रीबालकृष्णजी श्रीव्रजभूषणलालजी (जेतपुर-जामनगर)
(''**महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यवंशज गोस्वामीओंका संयुक्त-घोषणापत्र**'' १९८६. पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा संक्षिप्त विवरण, पृष्ठ ४९-७८, हस्ताक्षरोकी फोटार्कापि देखें :सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्तप्रकाशन, २००८)

।। सिद्धान्तवचनावलीके अंश ।।

कोई पुरुष कृष्णसेवामें तत्पर है कि नहीं, दम्भादि दुर्गुणोंसे रहित है कि नहीं; और श्रीमद्भागवत पुराणके मर्मका विज्ञ है कि नहीं यह सर्वप्रथम देखना चाहिये और तभी किसी जिज्ञासुको ऐसे व्यक्तिमें गुरुबुद्धि रखकर उसके पास जाना चाहिये.

...ऐसे गुणोंसे युक्त गुरु बलवान् कलियुगके कारण न मिले तो ... स्वयं ही भगवत्सेवामें प्रवृत्त हो जाना चाहिये. पात्रापात्रका विवेक रखे बिना यदि नामदीक्षा प्रदान की जाती है तो भगवन्नामविक्रयका दोष लगता ही है जिसके कारण दीक्षादाता अपराधी बनता है.

...एक प्रकार सेवाका यह भी हो सकता है कि वह वित्त देकर किसी अन्य पुरुषद्वारा करा ली जाये; और दूसरा प्रकार यह हो सकता है कि वह कृष्णसेवा किसी दूसरेसे वित्त लेकर की जाये. ऐसे दोनों प्रकारोंसे की जाती सेवाओंसे चित्त कभी कृष्णप्रवण हो नहीं सकता. ...वह...यदि किसी अन्य तनुजासेवाकर्ता(गोस्वामी-मुखिया-ट्रस्टी)को वेतन-तनुजासेवामूल्यके रूपमें वित्त देकर करायी जाती है तब वह वित्तजा सेवा हुई जो चित्तको राजसभाव = दर्प-दम्भादिसे युक्त बना देती है, पर कृष्णप्रवण नहीं बना पाती. यदि किसी अन्यसे वेतन-तनुजासेवामूल्यके रूपमें वित्त ग्रहण करके तनुजासेवा की जाती है तब पुरोहितोंको जैसे यज्ञ-यागका फल नहीं मिलता है वैसे ही दूसरेके वित्तसे तनुजा सेवा करनेवालेको भी कृष्णप्रवणतारूप फल कभी नहीं मिलता.

...जो अपने स्वजन हों और भक्त हों ऐसोंको ही श्रीठाकुरजीके दर्शन कराने चाहिये.

...११वां अपराध: अवैष्णवके समक्ष अपने घरमें बिराजते

श्रीठाकुरजीका प्रदर्शन करना. फल: एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराना.

...३६ वां अपराध: श्रीठाकुरजी (या श्रीभागवतजी या श्रीयमुनाजी) के नामसे (भेट, सामग्री, पोथीसेवा, या न्योछावर) मांगना. फल: सेवा सर्वथा निष्फल हो जाती है. प्रायश्चित्त: जितना मांगा या बटोरा हो उससे पांचगुना नैवेद्यका प्रभुको दान (न कि समर्पण) करना.

...आजीविका कमाने या यश पाने केलिये भी भजन(सेवा) करता हो तो उसकी क्या गति होगी ? ...वह व्यक्ति भी क्लेश ही पाता है ऐसा श्रीमहाप्रभुके वचनका साफ-साफ अर्थ है. न केवल उसे ऐहिक (पारिवारिक-सामाजिक-साम्प्रदायिक) क्लेश ही होता है प्रत्युत उसके सारे पारलौकिक अधिकार एवं फल भी नष्ट हो जाते हैं ऐसे निषिद्ध आचरणके कारण...अत्यल्प भी ज्ञान हो वह तो ऐसा कुकृत्य नहीं कर सकता है.

...भक्तिवर्धिनी ग्रन्थमें घरमें सेवा करनेका विधान किया गया होनेसे यह सूचित होता है कि अपने घरमें बिराजते प्रभुकी सेवाको छोड़कर अन्य कहीं दर्शन-सेवा-कीर्तनादि करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं होती है.

...भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कंठमें क्यों न अटक जाये परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके ओर जैसे भी अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये.

...मुख आदिके प्रक्षालनमें प्रयुक्त अपवित्र जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे निम्न गानोपजीवी होते हैं...इससे यह आशय प्रकट हुआ कि प्रक्षालनोच्छिष्ट गर्तपूरित जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहीं

होता...पुराणकथासे आजीविका चलानेवाले पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य होते हैं...

हे श्रीवल्लभ ! आपके कहे हुवे वचनसे विपरीत जो कोई कुछ कहते हैं वे सभी भ्रान्त केवल अन्धन्तम नरकको पाने वाले सहज आसुरी जीव हैं.

(पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभामें विचारार्थ प्रस्तुत की गई सिद्धान्तवचनावलीके अंश, हस्ताक्षरोकी फोटार्कापि देखें:सचित्र अमृतवचनावली, संयुक्त प्रकाशन, २००८)

सम्मतिमें हस्ताक्षर करनेवाले गोस्वामी महानुभाव :

गो. श्रीअनिरुद्धलालजी द्वारकेशलालजी(मांडवी-हालोल)
गो. श्रीकिशोरचन्द्रजी पुरुषोत्तमलालजी (जुनागढ)
गो. श्रीकन्हैयालालजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अहमदाबाद)
गो. श्रीकृष्णकान्तजी कृष्णचन्द्रजी (इचलकरंजी)
गो.श्रीकृष्णकुमार श्रीरमणलालजी (कांदीवली-कामवन)
पञ्चमपीठाधीश्वर नि.ली.गो.श्रीगिरिधरलालजी (कामवन-वल्लभविद्यानगर)
गो. श्रीगोपिकालंकारजी श्रीवल्लभलालजी (राजकोट-माणावदर)
चतुर्थपीठाधीश गो.श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी(गोकुल)
गो. श्रीद्रुमिलकुमारजी मथुरेश्वरजी (वडोदरा)
गो. श्रीद्वारकेशलालजी गोविन्दरायजी (कामवन-सुरत)
गो. श्रीनवनीतलालजी गोविंदरायजी (कामवन-भावनगर)
गो. श्रीमथुरेशजी चन्द्रगोपालजी (वीरमगाम-अहमदाबाद)
गो. श्रीमाधवरायजी मुरलीधरजी (वेरावल)
गो. श्रीरघुनाथलाल श्रीरमणलालजी (कामवन-गोकुल-पार्ला)
गो. श्रीरघुनाथजी रमेशकुमारजी (मुलुंड-नासिक)
गो. श्रीरवीन्द्रकुमारजी दामोदरलालजी (राजकोट-मांडवी)
गो. श्रीरसिकरायजी द्वारकेशलालजी (उपलेटा-पोरबंदर)

गो. श्रीराजेशकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो. श्रीवल्लभलालजी श्रीगोविंदरायजी (कडी-अमदावाद)
गो. श्रीवल्लभलालजी गिररिधरलालजी (कामवन-विद्यानगर)
गो. श्रीवल्लभलालजी देवकीनन्दनजी (गोकुल-अहमदाबाद)
गो. श्रीविजयकुमारजी श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो. श्रीविट्ठलनाथजी ड्डलालमणीजी (कोटा-मुबई)
गो. श्रीव्रजरायजी रणछोडलालजी (अहमदाबाद)
गो. श्रीव्रजेशकुमार श्रीगोविंदलालजी (कडी-अमदावाद)
गो. श्रीव्रजेशकुमारजी चन्द्रगोपालजी (कडी-अमदावाद)
गो. श्रीशरदकुमार (शीलूबावा) श्रीमुरलीधरजी (पोरबंदर)
गो. श्रीमधुसूदनजी श्रीकृष्णचन्द्रजी (चेन्नई)

संयुक्तघोषणापत्र : अमदावाद

आज फेरि वो समय आयो है. वासों हु कठिन समय आयो है. वा समय तो अन्यमार्गीय लोग मतनुकुं प्रस्तुत करिके भ्रम उत्पन्न करत हते. परि आज तो अपने सम्प्रदायके ही 'सुज्ञजन' श्रीमहाप्रभुजीकी वाणीको विपरीत अर्थ करि रहे हैं, लोगन्कूं पथभ्रष्ट करि रहे हैं, दैवीजीवन्के सङ्ग घोर अन्याय करि रहे हैं. तासों ही अभी महाप्रभु श्रीवल्लभाधीशके वंशज पुष्टिमार्गीय युवा आचार्यन्ने एक 'संवादस्थापकमण्डल'की स्थापना करीके मुम्बईमें ... चार दिवस पर्यन्त एक पुष्टिसिद्धान्त चर्चासभाको आयोजन कियो हतो. ... सभामें ३५ महानुभाव आचार्य उपस्थित हते. २८ गोस्वामी आचार्य महानुभावन्ने गो.श्रीश्याम मनोहरजी महाराश्री (किशनगढ-पार्ला)के 'सिद्धान्तवचनावली'के भावानुवादकुं सहमति दीनी हती. ... पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी व्रजभूषणलालजी महाराजश्री जामनगरवारेन्ने पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी महाराजश्रीके सङ्ग विनने करे भावानुवादके मुद्दान्पे चर्चा प्रारम्भ कीनी हती. ... समयके

अभावके कारण चर्चा निर्णयपे पहुंच न सकी. परन्तु वर्तमान(में) कितनेक चर्चास्पद, संशयास्पद मुद्दान्की स्पष्टता या चर्चामें प्राप्त भयी जो वस्तुत: एक बड़ी सिद्धि है. इतनो ही नहीं परन्तु नीचे बताये मुद्दान्के विश्लेषणमें पूज्य श्रीश्याम मनोहरजीके सङ्ग सहमत होयके पूज्य श्रीहरिरायजीने अपने सम्प्रदायकी उत्तम सेवा कीनी है :

१. पुष्टिमार्गीय सेव्यस्वरूप पूर्णपुरुषोत्तम स्वरूपसों ही बिराजे हैं, वे स्वरूप पाछें चाहे गुरुके सेव्य होवें के शिष्य (वैष्णव)के सेव्य होवें. दोउ(स्वरूपन्)मेंतें कोउमें हु पुरुषोत्तमपनों न्यूनाधिक होत नाहीं.

२. पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त अनुसार कृष्णसेवा करिवेको स्थान गृह ही होइ सकत है, सार्वजनिक (स्थल) नाहीं.

३. पुष्टिमार्गीय भगवत्सेवाकु धनकी प्राप्तिको साधन बनानो नहीं चहिये.

४. देवलक (= भगवत्सेवाकु धनप्राप्तिको साधन अथवा आजीविकाको साधन बनायवेवारे) व्यक्तिकी सेवा निषिद्ध कक्षाकी होय-वेसों (वो) सेवा करवे योग्य नाहीं है.

५. श्रीठाकुरजीके तांई काहु प्रकारके दान-भेंट मांगने अथवा स्वीकारने वो शास्त्रद्वारा निषिद्ध है. इतनो ही नाहीं परि लाभ-पूजाके हेतुसों अपने लिये द्रव्य अथवा काहु वस्तुको स्वीकारनो वो शास्त्रकी दृष्टिमें ऋणानुबन्धी दोषकों उत्पन्न करिवेवारो होयवेसों बन्धनकारी है.

६. पुष्टिमार्गके सिद्धान्तानुसार श्रीठाकुरजीकुं निवेदन करे पदार्थन्को ही समर्पण होइ सकत है अरु समर्पित पदार्थन्को ही भगवद् उच्छिष्टरूपमें प्रसाद लेइ सकत हैं. श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें आयी भयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें ली नहीं जा सके है क्योंके श्रीठाकुरजीके लिये दान अथवा भेंट के रूपमें प्राप्त भये पदार्थ

(द्रव्य)सों आयी सामग्रीकुं प्रसादके रूपमें पाछी लेवेसों 'दत्तापहार'को पाप लागत है.

७. सेवा तो शास्त्रको विषय है. तासों सेवाके सम्बन्धमें शास्त्रसों-श्रीमहाप्रभुजीके ग्रन्थन्सों ही सर्व निर्णय होइ सकत है, अन्य काहु प्रकारसों नाहीं.

(''**संयुक्तघोषणापत्र : अमदावाद**'', **मिति फाल्गुन सुदि ७, श्रीवल्लभाब्द ५१४, दि. ११ मार्च १९९२,** देखें : पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा, संक्षिप्तविवरण, १९९३)

हस्ताक्षर:

नि.ली.गो. श्रीव्रजरायजी-श्रीनटवरगोपालजी महाराज (अहमदाबाद)
पू.पा.गो.श्रीव्रजेन्द्रकुमारजी महाराज (अहमदाबाद)
च.पी.पू.पा.गो.श्रीदेवकीनन्दनजी (गोकुल)
पू.पा.गो.श्रीव्रजेशकुमारजी महाराज(अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीराजेशकुमारजी महाराज(अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीवल्लभलालजी महाराज(अहमदाबाद-कडी)
पू.पा.गो.श्रीजयदेवलालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीमथुरेशजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीकन्हैयालालजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)
पू.पा.गो.श्रीहरिरायजी (कामा-अहमदाबाद-वीरमगाम)

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

(अ)		**पृष्ठ**
अंतरात्मा अन्यः सहजः सर्वदेहिनां ...	(मनुस्मृ.१२।१३)	३०७
अक्रोधेन क्रोधं, सेतुन् तर दुस्तरान् ...	(सेतुसाम-)	१३७
अग्निमीळे पुरोहितं, यज्ञस्य देवम् ऋत्विजं ...	(ऋक्सं.१।१।१)	९६
अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् ...	(ऋक्सं.२।५।१०।१)	१३६
अग्नौ क्रियावतां देवो ...		९६
अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः ..	(चतुश्लोकी-४)	३११
अति सर्वत्र वर्जयेत् ...	(सुभाषित)	४७
अत्याशनादतिपानाद्यच्च उग्रात्प्रतिग्रहात् ...	(तैत्ति.आ.१०।१)	५४
अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात् ...	(पा.सू.१।१।२)	११२
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ...	(तैत्ति.उप. ३।२)	३४
अन्याश्रयो न कर्तव्यः, सर्वथा बाधकस्तु सः	(गुसां.चतुश्लोकी-२)	१४२
अपरिज्ञाननष्टेषु मंत्रेषु अव्रतयोगिषु ...	(कृष्णाश्रय-५)	१३८
अब्राह्मणस्तु षट् प्रोक्ता इति शातातपो ...	(ऐ.ब्रा.३।५)	४०
अमेध्यलिप्तं यद् येन गंधं लेपं व्यपोहति ...	(भाग.पुरा.११।२१।१३)	१२२
अर्थोहरिरेव हि ...	(वृत्रा.चतु.का.)	३१५
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ...	(भग.गीता.३।२७)	७३
अहंकारादि चतुर्ग्रंथी ज्ञानेच्छाप्रयत्नवान ...	(मनुस्मृ.१२।१२)	३०५
अहम् अन्नम् अहम् अन्नम् अहम् ...	(तैत्ति.उप.३।१०।६)	३१०
अहम् आत्मा आत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् ...	(भाग.पुरा.३।९।४२)	३१०
अहस्तानि सहस्तानाम् अपदानि चतुष्पदां ...	(भाग.पुरा.१।१३।४६)	५२
आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति ...	(भाग.पुरा.११।२९।६)	१२३
आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं ...	(छांदो.उप.४।९।३)	१२४
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ...	(सुभाषित)	१८६
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स ...	(सुभाषित)	१२०
आत्मैव अधस्ताद् आत्मा उपरिष्टाद् ...	(छान्दो.उप.७।२५।२)	३१६
आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् ...	(पा.सू.वृ.१।१।१)	११२
आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता ...	(तैत्ति.आ.१।१०।२३)	५४
आर्तो जिज्ञासुः अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ! ...	(भग.गीता.७।१६)	१६१
आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ...	(मनुस्मृ.१२।१०६)	२८
(इ)		
इको यणचि ...	(पा.सू.६।१।७७)	१३०
इति अच्युतांघ्रिं भजतो अनुवृत्त्या ...	(भाग.पुरा.११।२।४३)	३१६
(उ)		
उत्तमपुरुषस्तु अन्यो परमात्मा इति उदाहृत ...	(मनुस्मृ.१२।१५)	३०६
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत ...	(कठोप.१।३।१४)	६१
उभावपि अश्रुत-ग्रंथौ उभावपि जड़ात्मकौ ...	(सुभाषित)	२३९
(ए)		
एकं रूपं बहुधा यः करोति ...	(कठोप. २।२।१२)	६०
एकमेव अद्वितीयम् तद् ऐक्षत बहु स्याम् ...	(छांदो.उप.६।२।३)	२२७
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ...	(छांदो.उप.६।२।३)	१२३
एकविज्ञानेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति ...	(द्रष्टःछांदो.उप.६।१।४)	७७
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी ...	(श्वेता.६।११)	७८
एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय ...		६०
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ...	(भग.गीता.३।१६)	२४८
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं स आत्मा ...	(छान्दो.उप.६।८।७)	३०८
(ओ)		
ॐ भूभुर्व स्वः तत्सर्वितुर्वरेण्यं भर्गो...	(ऋक्संहि.३।६२।१०)	१०१
(क)		
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते भैषज्यं ...	(भाग.पुरा.११।३।४४)	८३
कर्मशुद्धिः मदर्पणम् ...	(भाग.पुरा११।२१।१५)	१३८
कलौ तद्हरिकीर्तनात् ...	(भाग.पुरा.१२।३।५२)	९३
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ...	(भग.गीता.३।३७)	६५
कामः तदग्रे समवर्तताधि ...	(ऋ.अ.८।७।१७, तैत्ति.आ.१।२।३।१)	२००

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या रोषं ...	(भाग.पुरा.२।७।७)	१९८
कामो हरिः दिदृक्षैव ...	(वृत्रा.चतु.का.३)	३१५
कामो अकार्षीत् नाहं करोमि , कामः ...	(महा.नारा.उप.१८।२)	५४
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा ...	(भाग.पुरा.११।२।३६)	१
कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यं वैश्यकर्म ...	(भग.गीता. १८।४४)	३०१
कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ...	(त.दी.नि.२।२२९)	२१७
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत ...	(ऋ.सं.१०।१२९।६)	६
क्वचिद् दोषोपि गुणः स्यात् क्वचिद् ...	(सुभाषित)	२०२
(क्ष)		
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो अक्षर उच्यते ...	(भग.गीता. १५।१६)	५६
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु ...	(भग.गीता १३।२)	५६
(ग)		
गंगात्वं सर्वदोषाणां गुणदोषदिवर्णना ...	(सि.र.८)	१३९
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ...	(भाग.पुरा.११।२१।१६)	१३९
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिनि औत्पत्तिको ...	(भाग.पुरा.११।१६।१०)	१७४
गोप्यः कामाद्, भयात् कंसः द्वेषात् ...	(भाग.पुरा.७।१।३०)	१५५
(च)		
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ...	(भग.गीता.४।१६)	७६
चरैवेति चरैवेति कलिः शयानो भवति ...		२५५
(ज)		
जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ भूतामभिनन्द्यसत्त्वा...	(रघुवंश-५।११)	३९
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च ...	(भग.गीता२।२७)	२१३
जीवसंज्ञो अन्तरात्मा अन्यः सहज सर्वदेहिनां...	(मनुस्मृ.१२।१३)	३०५
(ज्ञ)		
ज्ञानं तु गुणगानं परोक्षे तत् प्रतिष्ठितं ...	(त.दी.नि.३।१०।१११)	३११
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति ...	(भाग.पुरा.११।३।३७)	५९
(त)		
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ...	(ऋक्संहि.३।६२।१०)	५८

तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः ...	(त.दी.नि.२।२३०)	२१७
तदु मर्त्यामृतं यद् वै प्रजाः अजायत ...	(तै.ब्रा.१।५।५)	२४६
तद्धाम परमं मम ...	(भग.गीता. १५।६)	५६
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेव अभिगच्छेत् ...	(मुंडक.उप.१।२।१२)	६१
तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य ...	(भग.गीता.१६।२४)	२३२
त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य स्वस्थः शेते ...	(भाग.पुरा.१०।३।२७)	३०४
(द)		
दिवि देवो मनस्विनां योगीनां हृदये हरि ...		९६
देवाः मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः ...	(वि.पुरा.१।१९)	१६७
देवान् भावयता अनेन ते देवाः ...	(भग.गीता.३।११)	२७१
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ...	(भग.गीता.७।१४)	७३
द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येन वचनेन ...	(भाग.पुरा.११।२१।१०-११)	१२१
द्वितीयाद् वै भयं भवति ...	(बृह.उप.१।४।२)	३१४
द्वितीयो मे आत्मा जायेत ...	(बृह.उप.१।२।४)	५८
(ध)		
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ...	(मनुस्मृ.४।१७६)	४४
धर्मार्थकाममोक्षाख्याः पुरुषार्थाः हि ...	(विष्णु.पुरा.१।१८।२१)	४१
धर्मार्थकाममोक्षाख्याश् चत्वारो अर्था ...	(बा.बो.२)	२३९
धर्मार्थकाममोक्षाणां निमित्तानि अविरोधतः ...	(भाग.पुरा.३।७।३२)	५१
धर्मार्थकामा सममेव सेव्याः यो ...	(महाभा.१२।१६१।३८)	३६
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ...	(भग.गीता.७।११-१२)	४३
धर्मो रक्षति रक्षितः ...	(सुभाषित)	२७७
धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजा ...		२४२
(न)		
न जातु काम कामानाम् उपभोगेन ...	(भाग.पुरा.९।१९।१४)	१६२
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् अनेनैव स्वचक्षुषा ...	(भग.गीता.११।८)	३०९
न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं पियं भवति ...	(बृह.उप.२।४।५)	३१०
नवद्वारे पुरे देही		४६

नाहं वेदैः न तपसा न दानेन न च ...	(भग.गीता.११।५३)	३०९
नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ...	(पा.मा.सू-नंदिकेश्वरकृत व्याख्या)	१२४
(प)		
परित्यजेद् अर्थकामौ स्यातां धर्मविरोधिनौ ...	(मनु.स्मृ.४।१७६)	४४
पुरुषएवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भव्यम् ...	(पु.सू.२)	११६
पुष्टिमार्गे हरेः दास्यं धर्मः ...	(चतु.का)	३१४
पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशा मे शुद्धयन्तां ...	(महा.नारा.अनुवाक्-६६)	७
(फ)		
फलश्रुतिः इयं नृणां न श्रेयो रोचनं परं ...	(भाग.पुरा.११।२१।२३)	१४१
(प्र)		
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ...	(भग.गीता. १३।१९)	५६
प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ...	(भग.गीता.३।२७)	१३२
प्रजामनुप्रजायसे तदु मर्त्यामृतं यद् ...	(तै.ब्रा.१।५।५)	२८३
प्रतिग्रहं मन्यमानः तपस्तेजोयशोनुदम् ...	(भाग.पुरा.११।१७।४१)	३९
प्रत्यक्षं अनुमानं च शास्त्रं च विविधागमं ...	(मनुस्मृति.२।१२।१०५-१०६)	३००
प्रपद्यमानस्य यथा अश्नतः पुष्टिः ...	(भाग.पुरा.११।२।४२)	३१६
प्राणाय स्वाहाः, अपानाय स्वाहाः ...	(मैत्रा.६।९)	८२
(ब)		
ब्रह्म ते ब्रवाणि इति ...	(बृह.उप.२।१।१)	६०
ब्रह्मैव भाति सद् असद् च तयोः परं यत् ...	(भाग.पुरा.१२।३।३७)	६०
ब्राह्मे मुहुर्ते हि उत्थाय चिन्तयेद् आत्मनो ...	(याज्ञ.१।११५)	४५
(भ)		
भक्तानां जीवन्मुक्त्यपेक्षया ...	(त.दी.नि.१।५१)	३१६
भक्त्यभावेतु तीरस्थो यथा दुष्टै स्वकर्मभिः ...	(सि.मु.२०)	२३९
भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद् ईशाद् ...	(भाग.पुरा.११।२।३७)	८
भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति ...	(चित्यु.७।१)	२७०
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च	(भग.गीता.७।४)	११७
(म)		
मंत्रस्य च परिज्ञानं ...	(भाग.पुरा.११।२१।१५)	१३५
मनांसि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ...	(सुभाषित)	३१८
मनुष्याः ऋषिषु उत्क्रामत्सु देवान् अब्रुवन् ...	(निरु.निघ.१३।१।१२)	२७
मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा ...	(पाणिनियशिक्षा प्रारंभ-५२)	१०१
मन्युः अकार्षीत् नाहं करोमि , मन्युः ...	(महा.नारा.उप.१८।३)	५४
मया हताः त्वं जहि मा व्यथिष्ठा ...	(भग.गीता.११।३४)	१४८
मा अहं ब्रह्म निराकुर्या, मा मा ब्रह्म ...	(केनोप.शां.पा.)	६०
माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः ...		२२
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिकः...	(त.दी.नि.१।४२)	३०९
मोक्षो कृष्णस्य चेद् ध्रुवम् ...	(वृत्रा.चतु.सुबो.)	३१६
(य)		
यः अस्य आत्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं ...	(मनुस्मृ.१२।१२)	३०५
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मा उच्चते ...	(मनुस्मृ.१२।१२)	३०५
यः तर्केण अनुसंधत्ते स धर्मः वेद ...	(मनु.स्मृति.१२।१०६)	२९१
यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यः अन्तरो यं ...	(बृह.उप.३।७।३)	५८
यं न स्पृशन्ति ...		७८
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन ...	(तैत्ति.उप.३।१)	१६६
यथाशक्ति न हापयेत् ...	(याज्ञ. स्मृ.१।११५)	५२
यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तम् अनन्तरम् ...	(त.दी.नि.२।५)	२६२
यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहं, अक्षरादपि चोत्तमः ...	(भग.गीता.१५।१८)	५८
यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ...		१३९
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु...	(भग.गीता.६।१७)	५३
यो अस्याः अध्यक्षः परमे व्योमन् ...	(ऋ.सं.१०।१२९।७)	६
यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखम् ...	(छान्दो.उप.७।२३।१)	३१५
यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्य, द्वयोस्तु ...	(महाभा.१२।१६१।३८)	३६
(र)		
रोषदृष्ट्या रोषं दहन्तमुत ते न दहन्ति ...	(भाग.पुरा.२।७।७)	१९९

(ल)
लोकत्रयम् आविश्य बिभर्ति अव्ययम् ईश्वरः ... (मनुस्मृ.१२।१५) ३०६
(व)
वदन् वाक् पश्यन् चक्षुः श्रुण्वन् ... (बृह.उप.१।४।७) ३१५
विज्ञेयः श्रवणात् श्रौतः स्मरणात् स्मार्त ... (ब्रह्मा.पुरा.१।२।३२।४३) २८७
विपर्ययस्तु दोषः स्यात् ... (भाग.पुरा.११।२१।२) १२२
विमृश्य एतद् अशेषेण यथा इच्छसि तथा ... (भग.गीता.१८।६३) २८
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्यं पर्वतस्तनमण्डिते ... २२
वेदः प्रणिहितो धर्मो... (भाग.पुरा.६।१।४०) १३०
वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि ... (भाग.पुरा.११।२१।६) ११९
वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे ... (त.दी.नि.१।४५) ३७
(श)
शापोऽनुग्रह एव च ... (भाग.पुरा.६।१७।२९) २०
शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेषु अपि वस्तुषु ... (भाग.पुरा.११।२१।३) १११
श्रुति स्मृति सदाचारः स्वस्य च ... (याज्ञ.स्मृ.१।७) २८६
(ष)
षट्कर्णो भिद्यते मंत्र ... १०३
षड्भिः सम्पद्यते धर्मः ते दुर्लभतराः कलौ ... (त.दी.नि.२।२१४) ३०३
(स)
स उत्तमो यो निरतः त्रिवर्गे... (महा.भा.१२।१६१।३८) ३६
स द्वितीयम् ऐच्छत्, स आत्मानं ... (बृह.उप.१।४।३) ३१४
स भूतात्मा उच्यते बुधैः ... (मनुस्मृ.१२।१३) ३०५
सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकम् आदौ ... (भाग.पुरा.११।३।३७) ५९
सत्त्वात् संजायते ज्ञानम् ... (भग.गीता.१४।१७) ६४
सत्यं दमः तप शौचं संतोष ह्री क्षमाआर्जवं ... २९७
सत्यंज्ञानमनन्तम् ... (तैत्ति.उप.२।१।१) १६४
सर्वं खलु इदं ब्रह्म ... (छान्दो.उप.३।१४।१) ३१०
सर्व सर्वमयं ... (नृसिंहोत्तरता.उप.९) ८४
सर्व सुखं दुःखं च जन्मसु ... (मनुस्मृ.१२।१३) ३०५
सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः ... (चतुश्लोकी-१) ३१७
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ... (भग.गीता.१८।६६) ३१४
सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो, नामानि ... (चित्त्युप.१२।७) ११९
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ... (भग.गीता.१८।४८) २४८
सर्वे रोगा हि जायन्ते वेगोदीरणधारणा... ४७
सर्व भगवानेव करोति किन्तु भजनं ... (द्रष्ट.सुबो.३।३२।२२) २५७
सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत् ... (भग.गीता.१८।४८) २४८
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ... (तैत्ति.आर.३।१३।२) ९८
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ... (श्वेता.उप.६।११) १८६
सागरस्य नान्तोस्ति न च कामानाम् ... (सुभाषित) २६०
सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ ... (भग.गीता.२।३८) २६२
सूत्रं महान् अहम् इति प्रवदन्ति जीवम् ... (भाग.पुरा.११।३।३७) ५९
सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः ... (भक्तिवर्धिनी-९) ३११
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा... (भग.गीता.२।५४) १९१
स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ... (भाग.पुरा.११।२१।१४) १३३
स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः...(भग.गीता१८।४६) ३०१
स्वभाव-विजयो भवेद् वदति वल्लभः श्रीहरेः...(यमुनाष्टकम्-९) २४४
स्वे स्वे अधिकारे या निष्ठा स गुणः ... (भाग.पुरा.११।२१।२) १०७
स्वे-स्वे कर्मणि अभिरतः संसिद्धिं ... (भग.गीता.१८।४५) ८२
(ह)
हृद्‌रोगम् आशु अपहिनोति अचिरेण धीरः ... (भाग.पुरा.१०।३३।४०) १६२